प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन भवन
पटना-३

प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१२, सन् १९५५ ई०

मूल्य ७) सजिल्द ८)

वक्तव्य

विहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान मे विहार-राष्ट्रभाषा परिषद् को काम करते पाँच वर्ष वीत गये। इस अवधि में परिषद् की ओर से अँगरेजी-थीसिसो के तीन हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। पहला ग्रन्थ है—डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री का 'सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन' और दूसरा है—डाक्टर देवसहाय त्रिवेद का 'प्राङ्मौर्य विहार'। ये दोनों ही पटना-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत थीसिस थे। यह तीसरा ग्रन्थ (शैव मत) लन्दन-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत थीसिस का अनुवाद है। इसके अनुवादक हैं—डाक्टर यदुवशी, जो पहले ऑल-इण्डिया-रेडियो की पटना-शाखा के डाइरेक्टर थे और अव केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रणालय में हैं।

उक्त तीनो थीसिसों के लेखक ही उनके अनुवादक भी हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता असदिग्ध है। इस ग्रन्थ के अनुवादक ने अपना मूल निवन्ध जिन प्रमाणों के आधार पर लिखा है, उनका संकलन उन्होने ग्रन्थ के 'परिशिष्ट'-भाग में कर दिया है। आशा है कि आवश्यकता होने पर उद्धरणो से मिलाकर अनुवाद का अश पढ़ने में अनुसन्धायक सज्जनों को सुविधा होगी। इसी सुविधा के लिए अनुवादक ने प्रत्येक परिशिष्ट के साथ उस अध्याय का भी उल्लेख कर दिया है, जिसमे उद्धृतांशों की सहायता आवश्यक है।

शैव मत भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। उसकी ऐतिहासिक खोज करने में ग्रन्थकार ने प्राच्य और पाश्चात्य प्रमाणो का विश्लेपण एवं तुलनात्मक अध्ययन वडे परिश्रम से किया है। हिन्दी में अन्य मतो के इतिहास की भी खोज वैज्ञानिक ढग से की जानी चाहिए। उसके लिए इस ग्रथ से प्रेरणा मिलने की पूरी सभावना है।

शिव सार्वजनिक देवता माने जाते हैं, क्योंकि वे सदैव सर्वजनसुलभ हैं। जन-साधारण के लिए उनकी उपासना और पूजा भी सुगम है। जनता के देवता पर लिखते समय ग्रन्थकार ने यथासभव जनता के दृष्टिकोण का ध्यान रखने की चेष्टा की है, पर ऐतिहासिक शोध से जो तथ्य निकला है, उसे भी निस्सकोच प्रकट कर दिया है। अत. मतभेद के स्थलों मे विवेकी पाठकों को सहृदयता से काम लेना चाहिए।

विजयादशमी, संवत् २०१२]

शिवपूजन सहाय
परिषद् मंत्री

भूमिका

शैव मत हिन्दूधर्म का एक प्रमुख अंग है और यह अचरज की बात है कि अभी तक शैव मत का पूरा इतिहास नहीं लिखा गया। परन्तु थोड़ा सा विचार करने पर पता चलता है कि शैव मत के इस इतिहास-सम्बन्धी अभाव के सम्भवतः दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि शैव मत का स्वरूप ऐसा पेचीदा है, इसमें इतनी विभिन्न प्रकार की धार्मिक मान्यताएँ और रीति-रिवाज सम्मिलित हैं कि जिन्होने भी उनका अध्ययन किया, वे हतबुद्धि-से होकर रह गये। शैव मत के अन्तर्गत यदि एक ओर शैव सिद्धान्त की गूढ विचारशैली है तो दूसरी ओर कापालिकों के गर्हित कर्म भी हैं—इनके बीच क्या परस्पर सम्बन्ध हो सकता है, इसे बताना बहुत कठिन हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि पर्याप्त सामग्री न मिलने के कारण विद्वानों के लिए यह सम्भव न हो सका कि शैव मत की उत्पत्ति और उसके इतिहास का एक ऐसा विवरण दे सकें, जिससे उसके विभिन्न रूपों का सन्तोषजनक समाधान हो जाय।

इन कठिनाइयों के बावजूद कई विद्वानों ने हिन्दू-धर्म पर अपने ग्रन्थ लिखते समय शैव मत की उत्पत्ति और विकास का ऐतिहासिक विवरण देने का प्रयत्न किया है। कुछ अन्य विद्वानो ने शैव धर्म के विशेष रूपों का स्वतन्त्र अध्ययन भी किया है। इसमें यद्यपि उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली है, फिर भी इन प्रयासों से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि शैव मत का कोई विवरण तबतक सतोषजनक नहीं माना जा सकता, जबतक वह शैव मत के जो विभिन्न रूप आज दिखाई देते हैं, उन सबका ठीक-ठीक समाधान और उन सबकी ऐतिहासिक विवेचना इस प्रकार न करे, जिससे शैव मत में उनका उचित स्थान और परस्पर सम्बन्ध पूरी तरह समझ में आ जाय।

इस दिशा में अबतक जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे शैव मत के तमाम विभिन्न स्वरूपों की उत्पत्ति का ही स्रोत वैदिक धर्म में खोजते हैं। पर्याप्त सामग्री न होने के कारण ऐसा होना अवश्यभावी था। उदाहरण के लिए, 'रिलिजेंज आफ इडिया' नामक अपनी पुस्तक में फ्रांसीसी विद्वान् 'बार्थ' ने भगवान शिव के विभिन्न स्वरूपों का समाधान करने का इस प्रकार प्रयत्न किया है कि शिव एक वैदिककालीन देवता थे, जिनकी उपासना अधिकतर जनसाधारण में होती थी, और जिनका भारत के उस विक्षुब्ध जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो अति प्राचीन काल से इस देश की एक विशेषता रहा है। 'नैचुरल रिलिजेंज आफ इडिया' नाम की अपनी पुस्तक में अंग्रेज विद्वान् 'लायल' ने भगवान् शिव के दो मुख्य स्वरूपों—एक सौम्य और शुभ, दूसरा भयावह और विध्वंसक—का समाधान इस प्रकार किया है कि प्रारम्भ में भगवान् शिव प्रकृति के सर्जनात्मक और संहारात्मक (द्विविध) रूप के प्रतीक थे। वे लिखते हैं—"भगवान शिव में हम दो आदि-शक्तियों का मेल पाते हैं, एक जीवनदायिनी और दूसरी जीवनहारिणी। इस प्रकार, दार्शनिक दृष्टिकोण से,

इस महान् देवता की कल्पना में उस विचार का सर्वांगीण मूर्तिमान् रूप दृष्टिगोचर होता है जिसको मैं प्राकृतिक धर्म का मूल मानता हूँ"।

श्री सी० वी० एन० अय्यर ने 'ओरिजिन एड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया' नाम की पुस्तक में, जो शैव मत पर लिखे गये इने-गिने स्वतंत्र ग्रन्थों में से एक है, इसी प्रकार का, परन्तु अधिक विस्तृत प्रयास किया है, और पौराणिक शैव मत के विभिन्न रूपों का विकास वैदिक रुद्र की उपासना से ही माना है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने शिव के लिंग-रूप का समाधान इस प्रकार किया है कि यह इस महान् देवता का प्रतीक है, जिसके अनन्त स्वरूप को कोई रूप या आकार देकर सीमित नहीं किया जा सकता। यह एक मनोरजक, किन्तु अमान्य तर्क है। कुछ दूसरे विद्वानों ने भी ऐसे ही प्रयत्न किये हैं। परन्तु पौराणिक शैव मत के कुछ रूपों के अवैदिक होने का आभास भी कुछ विद्वानो को हुआ है, यद्यपि सामग्री उपलब्ध न होने के कारण वे उन रूपों की उत्पत्ति का ठीक-ठीक पता न लगा सके हैं।

'अन्थ्रोपोलोजिकल रिलिजन' नामक अपने ग्रन्थ मे विद्वान 'मैक्समुलर' लिखते हैं—"दुर्गा और शिव की कल्पना मे एक अवैदिक भावना स्पष्ट रूप से पाई जाती है जिससे मेरी यह धारणा होती जा रही है कि इसके लिए कोई अन्य स्रोत ढूँढा जाय। अत मेरा विश्वास है कि दुर्गा और शिव न तो वैदिक देवता हैं और न उनका विकास किसी वैदिक देवता की कल्पना से हुआ है।"

मैक्समुलर के बाद श्री आर० जी० भडारकर ने भी शैव मत के उत्थान का विवरण देते हुए, यह माना है कि पौराणिक काल में भगवान् शिव का जो स्वरूप है, उसमें आर्येतर अंश सम्मिलित हैं। उन्होने यह विचार भी प्रकट किया है कि बहुत सभव है, किसी मूल निवासी अन्य जाति के किसी देवता का शिव के साथ समावेश हो गया हो[1]।

अंग्रेज विद्वान् 'कीथ' ने भी अपने 'रिलिजन एड माइथौलौजी आफ दि वेद' नाम के ग्रन्थ में, और श्री कुमारस्वामी ने अपने 'डास आफ शिव' नामक ग्रन्थ में, इसी प्रकार के समावेश की ओर सकेत किया है[2]। और, इसमे कोई संदेह भी नहीं है कि शैव मत जिस रूप मे आज हमारे सामने है, उसमें अनेकानेक ऐसे अंश समाविष्ट हैं, जिनकी उत्पत्ति विविध स्रोतों से हुई है। स्वयं भगवान् शिव की जिन विभिन्न रूपों में उपासना की जाती है, उनका एक ऐसी देवी के साथ सगम हुआ है, जिसके रूपों की विभिन्नता और भी अधिक है तथा जिसकी समस्त कल्पना अवैदिक और आर्येतर है। और, इससे भी बढकर यह कि शैव मत मे जो लिंग पूजा का समावेश हुआ है, उसका कोई चिह्न या सकेत शिव के आदिरूप माने जानेवाले वैदिक रुद्र की उपासना मे नहीं मिलता।

इन सबसे यह बात निश्चयात्मक ढग से सिद्ध हो जाती है कि आधुनिक शैव मत केवल वैदिक रुद्र की उपासना का विकास मात्र नहीं है, अपितु उसमें

---

[1] आर० जी० भडारकर वैष्णविज्म, शैविज्म एड अदर माइनर रिलिजन्स आफ इंडिया।

[2] कुमारस्वामी डांस आफ इंडिया।

ऐसे अनेक मतो का संश्लेषण हुआ है, जो प्रारम्भ में स्वतंत्र मत थे, और जिनका प्रचार विविध जातियो मे था। उन जातियो के और उनकी सस्कृति के सम्बन्ध में हमें ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण ही अभी तक शैव मत के विभिन्न रूपो की उत्पत्ति और उनके विकास का सतोषजनक विवरण देना संभव नहीं हो सका है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में पुरातात्त्विक और अन्य खोजो से यह कठिनाई दूर हो गई है और अब हमें उन जातियो के और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध मे, जो हिन्दुस्तान में आर्यों के पहले बसती थीं, पहले से बहुत अच्छा ज्ञान है। और, प्राचीन जगत् मे भारतीय तथा दूसरी सभ्यताओ के बीच जो सम्बन्ध था, उसको भी हम पहले से अच्छी तरह जानते हैं। हो सकता है कि उन अन्य सभ्यताओं का, भारत की अपर वैदिक सभ्यता के विकास पर, काफी प्रभाव पड़ा हो। अतः अब यह सम्भव है कि शैव मत का नये सिरे से फिर निरीक्षण किया जाय और यह देखा जाय कि हमारे ज्ञान के इन नये स्रोतो की सहायता से, जो अब हमको उपलब्ध हैं, हम शैव मत और उसके विभिन्न रूपो की उत्पत्ति तथा उनके विकास का अधिक सतोषजनक विवरण दे सकते हैं या नही ?

इस थीसीस में यही प्रयत्न किया गया है। वैदिक रुद्र के अध्ययन से प्रारम्भ करके मैंने यह दर्शाने की चेष्टा की है कि अपर वैदिक शैवमत के कुछ प्रमुख अगो की उत्पत्ति किस प्रकार वैदिक आर्यों से अन्य आर्येतर जातियो के सम्मिश्रण के कारण और इन जातियो की धार्मिक मान्यताओ का वैदिक रुद्र की उपासना में समावेश हो जाने के कारण हुई। इस सम्मिश्रण के बाद जिस नये धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसका विकास उपलब्ध सामग्री की सहायता से, दिखाया गया है। यहाँ तक कि वह धर्म पौराणिक शैव मत के रूप मे अपने पूर्ण विकास को पहुँच गया। इसके उपरान्त पौराणिक शैव मत मे जो प्रौढता आई और उसमें जो नये परिवर्त्तन हुए, उनका भी अध्ययन किया गया है और तेरहवीं शताब्दी के अत तक उनका इतिहास लिखा गया है। तेरहवी शताब्दी में शैव मत ने वह रूप धारण कर लिया था, जिस रूप मे हम आज उसे पाते हैं।

अत में इस निरीक्षण के परिशिष्ट के रूप में भारत से बाहर, विशेषकर हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप-मण्डल में, जिस प्रकार शैव मत फैला और फला-फूला, उसका भी एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

—यदुवंशी

विषय-सूची



प्रथम अध्याय

शैव मत के इस दिग्दर्शन का प्रारम्भ हमें वैदिक-साहित्य से करना उचित प्रतीत होता है। भारत की उपलब्ध साहित्य-सामग्री मे वेद प्राचीनतम हैं और इस देश के धार्मिक अथवा भौतिक इतिहास के सम्बन्ध में जो भी छान-बीन की जाती है, वह वेद से ही प्रारम्भ होती है। भारत मे यह परम्परा भी दीर्घ काल से रही है कि वेद ही हमारी समस्त मान्यताओं और विचार-धाराओं के उद्गम हैं। इसके अतिरिक्त, यदि किसी प्राचीन देवता को हम पौराणिक शिव का आदि रूप मान सकते हैं, तो वह वैदिक देवता रुद्र ही हो सकता है। इसलिए यही समीचीन है कि हम इस खोज का सूत्रपात वेदों मे ही करे और वैदिक रुद्र तथा उसकी उपासना के स्वरूप का अध्ययन करें।

ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं। उनकी स्तुति में केवल तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं[1]। इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त मे पहले छः मन्त्र रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में[2]। एक और सूक्त में रुद्र और सोम का साथ-साथ स्तवन किया गया है[3]। वैसे अन्य देवताओं की स्तुति मे जो सूक्त कहे गये हैं, उनमे भी प्राय. रुद्र का उल्लेख मिलता है। इन सूक्तों में रुद्र का जो स्वरूप हमें दिखाई देता है, उसके कितने पहलू हैं और वे किसके प्रतीक हैं, इस विषय को लेकर वहुत-से अनुमान लगाये गये हैं। उनके नाम का शाब्दिक अर्थ, मरुतों के साथ उनका सगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यत उनका क्रूर स्वरूप—इन सवको देखते हुए कुछ विद्वानों ने यह धारणा वनाई है कि रुद्र झंझावात के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वान् 'वेवर' ने रुद्र के नाम पर जोर देते हुए यह अनुमान लगाया कि रुद्र झंझावात के 'रव' का प्रतीक है[4]। 'डाक्टर मेकडौनल' ने रुद्र और अग्नि के साम्य को पहचानते हुए यह विचार प्रकट किया कि रुद्र विशुद्ध झंझावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत् के रूप मे झंझावात के विध्वसक स्वरूप का प्रतीक हैं[5]। 'श्री भडारकर' ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक मात्र माना है[6]। अँग्रेज विद्वान 'म्यूरह' की भी यही राय है[7]। उधर रुद्र और अग्नि के साम्य के कारण कुछ अन्य विद्वानों ने रुद्र को अग्नि के ही किसी-

१. ऋग्वेद . १, ११४, २, ३३, ७, ४६।
२. ,, . १, ४३।
३. ,, : ६, ७४।
४ वेवर . इण्डीश श्टूडीन, २, १९—२२।
५ मेकडौनल : वेदिक माइथोलोजी, पृ० ७८।
६ भण्डारकर : वैष्णविजम, शेविजम।
७. म्यूर . ४ ओरिजनल सस्कृत टेक्स्ट्स ४, पृ० १४७।

न-किसी रूप का प्रतीक माना है। ऋग्वेद के अपने अनुवाद की भूमिका में अँग्रेज विद्वान् 'विल्सन' ने रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही एक रूप माना है[१]। प्रोफेसर 'कीथ' ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी ही रूप का प्रतीक माना है, उसके हितकारी रूप का नहीं[२]। इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक बाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उनको मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियों के साथ उल्लेख किया गया है।

इसी आधार पर विद्वान् 'ऑडर' ने रुद्र को पवन के साथ उड़ती हुई मृत आत्माओं का सरदार माना है। जर्मन विद्वान् 'आर्बमन्न' ने भी इन सब बातों को देखते हुए और उत्तरकालीन वैदिक धर्म में रुद्र की उपासना से सम्बन्धित कुछ रीतियों पर विचार करते हुए रुद्र को एक प्राचीन मानवभक्षी असुर का, ब्राह्मणों-द्वारा परिष्कृत, रूप कहा है।

रुद्र के स्वरूप को समझने के इन सब प्रयासों में एक ही दोष है और वह यह कि वे रुद्र के सम्पूर्ण स्वरूप को संतोषजनक ढंग से समाधान नहीं करते। वैदिक रूप के स्वरूप की समस्या अभी तक सुलझी नहीं है, परन्तु इसको सुलझाये बिना पौराणिक शिव का स्वरूप हम नहीं समझ सकते। वास्तव में कठिनाई यह है कि रुद्र के स्वरूप में कई बातें ऐसी हैं जो देखने में परस्पर विरोधी हैं और इसके फलस्वरूप हुआ यह है कि रुद्र के स्वरूप के किसी एक अंग पर अधिक जोर दिया गया है और बाकियों की उपेक्षा की गई है। उदाहरण के लिए अगर रुद्र, भयावह हैं तो उसके साथ साथ सौम्य भी हैं। कभी वे उग्र रूप धारण करते हैं और मनुष्यों और पशुओं का संहार करते हैं। परन्तु कभी वे कल्याण-कारी हो जाते हैं और उनकी शक्ति जीवनदायिनी बन जाती है, जिससे लोग संतान और समृद्धि के लिए रुद्र से प्रार्थना करते हैं। उनका वर्ण प्राय बभ्रु बताया जाता है, परन्तु कभी-कभी वे श्वेत और सुनहले वर्ण के भी कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को भिषजों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, जिसके पास ठण्ढी और रोगनाशक ओषधियाँ हैं। वे मरुतों के पिता भी हैं। कुछ मन्त्रों में उनका अग्नि के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है और एक मंत्र में उनको 'केशियक' के साथ आमोद-प्रमोद करते हुए बताया गया है। रुद्र के स्वरूप की कोई भी व्याख्या संतोषजनक नहीं हो सकती जबतक वह इन तमाम पहलुओं का समाधान न करे और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक देव-कथाओं में झंझावात के देवता 'पर्जन्य' और मृत्यु के देवता 'यम' की चर्चा पाई जाती है। अत यह बहुत संभव है कि रुद्र का आदि स्वरूप इन दोनों देवताओं से भिन्न हो।

रुद्र के स्वरूप के सांगोपांग समुचित अध्ययन से, और ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र की उन विशेष उपाधियों के विश्लेषण से, ऐसा जान पड़ता है कि वास्तव में रुद्र को जिस प्राकृतिक तत्त्व का प्रतीक माना जा सकता है, वह है घने बादलों में चमकती हुई विद्युत

१ विल्सन ऋग्वेद।

२ कीथ रिलिजन एण्ड माइथोलौजी ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० १४७।

और उसके साथ-साथ होनेवाला घनघोर गर्जन और वर्षा। इसकी पुष्टि में जो प्रमाण हमको मिलते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

रुद्र की गणना मध्यम लोक—अर्थात् आकाश के देवताओं में की गई है। अतः यथासभव वे आकाश के ही किसी तत्त्व का प्रतीक रहे होंगे।

रुद्र का वर्ण कभी बभ्रु, कभी श्वेत और कभी सुनहला बताया जाता है। मेघों मे चमकती हुई विद्युत् के यह सब वर्ण होते ही हैं, और बिजली कौंधने के अनन्तर जो गर्जन होता है, वही रुद्र का रव है और इसी-से इनका नाम रुद्र पड़ा भी है—[रु धातु, गर्जन अर्थ में।]

रुद्र का विशेष अस्त्र उनका धनुष है, और इस धनुष से जो बाण वे छोड़ते हैं, वह मनुष्य और पशु दोनों का संहार करता है[1]। यह बाण ज्वलन्त प्रतीक हैं—उस कड़कती हुई बिजली का, जिसके प्रहार से किसी के प्राण बच नहीं सकते। हिमालय की उपत्यकाओं में, जहाँ ऋग्वेदीय आर्य लोग बसते थे, यह बिजली विशेष रूप से घातक और भयावह होती है। अतः इसी से रुद्र के क्रूर और अहितकारी रूप का समाधान हो जाता है और रुद्र की 'गोघ्न', 'नृघ्न' और 'क्षयद्वीर' उपाधियाँ सार्थक हो जाती हैं[2]।

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' भी है,[3] जिसका अर्थ है 'जटाजूटधारी'। आकाश में उमड़ कर आई हुई मटियाले रंग की मेघमाला वास्तव में जटाओं जैसी लगती है, और उनमें जब बिजली चमकती है, तब रुद्र की यह 'कपर्दिन्' उपाधि भी सार्थक हो जाती है। यह उपाधि तृत्सुओं को भी दी गई है जो आर्यों का एक वंश था और उसके वंशज जटाधारी थे। इसी उपाधि से 'पूषन्' देवता को भी विभूषित किया गया है, जहाँ यह सूर्य के प्रभा-मंडल (halo) का प्रतीक है।

रुद्र की एक और उपाधि है—'दिवो वराह',[4] अर्थात् आकाश का वराह। काले मेघों से निकलती हुई श्वेत विद्युत् की उपमा बड़ी सुगमता से श्वेत दंष्ट्रावाले काले वराह से दी जा सकती है।

अन्त में रुद्र की एक अन्य उपाधि 'कल्पलीकिन्'[5]—(जलने या दहकने वाला) की सार्थकता भी विद्युत् अथवा अग्नि में ही पूरी होती है।

अपने सौम्य रूप में रुद्र को 'महा भिषक्' भी कहा गया है, जिसकी ओषधियाँ ठंढी और व्याधिनाशक होती हैं। रुद्र के स्वरूप के इस पहलू का समाधान संभवत इस प्रकार हो सकता है कि वर्षा ऋतु में, रुद्र अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं, ओषधियों की खूब उपज होती है, विद्युत् और वर्षा से वायुमंडल स्वच्छ हो जाता है और जन्तु तथा वनस्पति-वर्ग में एक नये जीवन का सचार होता है।

---

१ ऋग्वेद . २, ३३, १०, ७, ४६, १ इत्यादि।
२ ,, . १,११४, १०, २, ३३, ११, ४, ३, ६।
३. ,, . १, ११४, १ और ५।
४. ,, . १,११४, ५।
५. ,, : २,३३, ८।

इसी रूप में रुद्र का सबन्ध उर्वरता और पेड़-पौधों से भी है, और सन्तान के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है[१]। उत्तरी भारत में मानसून काल में बिजली कड़कने के बाद जो वर्षा होती है, उससे धान्य, ओषधियों और अन्य पेड़-पौधों की प्रचुर उपज होती है और इसी वर्षाऋतु में अधिकतर जन्तु वर्गों की भी सतान वृद्धि होती है। अत· रुद्र का उर्वरता से सबन्ध होना स्वाभाविक ही है। इस प्रसग में रुद्र की 'वृषभ' उपाधि अर्थपूर्ण है[२]। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'बैल' या 'साँढ' किया जाता है, और नि.सदेह आजकल सस्कृत में इसका यही अर्थ है। परन्तु ऋग्वेद में जिन-जिन प्रसगों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उनको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इसका अधिक शाब्दिक अर्थ लिया जाता था। 'वृष्' धातु से बने इस शब्द के दो अर्थ होते थे। एक तो 'वर्षा करनेवाला' (इसी कारण सायण ने इसकी व्याख्या 'वर्षयिता' शब्द से की है) और दूसरा 'अत्यधिक प्रजनन-शक्ति रखनेवाला', अत· पुरुपत्वपूर्ण या बलिष्ठ। इन दोनों ही अर्थों में यह शब्द रुद्र के लिए उपयुक्त है। पहले अर्थ में इसका सकेत उस वर्षा की ओर है जो रुद्र कराते हैं और दूसरे अर्थ में उस उर्वरता की ओर है, जो रुद्र के द्वारा ही सभव होती है। इस दूसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बैल के लिए भी हुआ, जो अपने बल और प्रजनन-शक्ति के लिए विख्यात है और धीरे-धीरे यह शब्द उसका एक साधारण नाम ही बन गया।

एक सूक्त मे रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[३]। वैसे तो इसका कोई विशेष अर्थ न होता, क्योंकि दो देवताओं का एक साथ आह्वान ऋग्वेद में कोई असाधारण बात नहीं है। सोम का इन्द्र, अग्नि और पूषा के साथ भी आह्वान किया गया है। परन्तु एक दूसरे सूक्त में कुछ मन्त्र रुद्र का स्तवन करते हैं और कुछ सोम का[४]। कुछ अन्य स्थलों पर सोम का विद्युत् के साथ सम्बन्ध है और उत्तरकालीन वैदिक-साहित्य में सतान-प्राप्ति के लिए एक सौमारौद्र हवि का विधान भी है। इन सब बातों से ऐसा जान पड़ता है कि रुद्र और सोम के बीच अधिक गहरा सबध है, और यदि हम रुद्र के स्वरूप का, उपरिलिखित समाधान मान लें तो इस सम्बन्ध को समझने में हमें और भी सुविधा होती है। जैसे—रुद्र स्वास्थ्य और बल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार सोम-रस भी एक स्फूर्तिदायक ओषधि है और सोम और रुद्र दोनों से ही यह प्रार्थना की जाती है कि वे अपने भक्तों को बल और भिषज दें[५]। इसके अतिरिक्त सोमलता की प्रचुर वृद्धि भी रुद्र के कारण ही होती है, और फिर रुद्र के वर्ण के समान ही सोम-रस का वर्ण भी बभ्रु अथवा सुनहला होता है। काष्ठ-भाण्डों में सोमरस के गिरने के शब्द की 'बरसती वर्षा' से उपमा दी गई है, और चूँकि पार्थिव वर्षा कवि की कल्पना को, सहज मे ही आकाश मे गरजते हुए बादलों तक पहुँचा

१ ऋग्वेद १, १४३, ६, २, ३३ और ७।
२. ,, २, ३३, ६ से ८।
३. ,, ६, ७४।
४ ,, १, ४३।
५ ,, [illegible]

देती है, अतः यह उपमा भी शीघ्र ही अतिशयोक्ति में बदल जाती है और रुद्र के समान ही सोम के भी गर्जन और रवण का उल्लेख होता है[१]। सोम के इस गर्जन और रवण के कारण ही सम्भवतः उसको एक स्थान पर वृषभ की उपाधि भी दे दी गई है[२]।

रुद्र के स्वरूप की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र का अग्नि से गहरा सम्बन्ध है। अग्नि को अनेक बार रुद्र कहा गया है[३]। यह ठीक है कि अग्नि को रुद्र मात्र कहने का ही कोई विशेष अर्थ नहीं है, क्योंकि ये सब केवल उपाधि के रूप में भी किया जा सकता है जिसका अर्थ है—क्रूर अथवा गर्जन करनेवाला, और इसी अर्थ में इस उपाधि का इन्द्र और अन्य देवताओं के लिए भी प्रयोग किया गया है। परन्तु एक स्थल पर रुद्र को 'मेधापति' की उपाधि दी गई है[४]। इससे रुद्र और अग्नि का तादात्म्य झलकता है। यदि हम रुद्र को विद्युत् का प्रतीक मानें, जो वास्तव में अग्नि ही है, तो इस तादात्म्य को आसानी से समझा जा सकता है। उत्तर-कालीन वैदिक-साहित्य में इस तादात्म्य को स्पष्ट रूप से माना गया है और फलस्वरूप 'सायणाचार्य' ने निरन्तर दोनों को एक ही माना है। रुद्र और अग्नि के इस तादात्म्य को ध्यान में रखते हुए हम शायद रुद्र की 'द्विवर्हा' जैसी उपाधियों का भी समाधान अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'दुगुने बल का' अथवा 'दुगुना बलशाली' किया जाता है। परन्तु इसका अधिक स्वाभाविक और उचित अर्थ वही प्रतीत होता है जो 'सायण' ने किया है। अर्थात्—

द्वयोः स्थानयोः पृथिव्याम् अन्तरिक्षे परिवृद्ध[५]

ये अर्थ विद्युत् पर पूरी तरह लागू होता है, क्योंकि विद्युत् ही जब पृथ्वी पर आती है, तब अग्नि का रूप धारण कर लेती है। अथवा 'वर्हा' शब्द का अर्थ यहाँ कलँगी से है जैसा कि वर्ही (अर्थात् मोर) में, द्विवर्हा का अर्थ हो सकता है—दो कलँगीवाला। इस अर्थ में इस शब्द का संकेत दुकाटी विद्युत् की ओर होगा।

इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य नहीं है, बल्कि उनमें स्पष्ट भेद किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि विद्युत् के प्रतीक रुद्र और पार्थिव वह्नि के प्रतीक अग्नि का तादात्म्य वैदिक ऋषियों को धीरे-धीरे ही ज्ञात हुआ था, किन्तु एक समय ऐसा भी था जब इन दोनों को अलग-अलग तत्त्व माना जाता था।

रुद्र=अग्नि, इस साम्य को एक बार मान लेने पर, इसको बड़ी सुगमता से रुद्र=अग्नि-सूर्य तक बढ़ाया जा सकता है, और कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों से ही प्रतीत होता है कि उस समय भी रुद्र और सूर्य के इस तादात्म्य को ऋषियों ने पहचान लिया था। इससे हमें

१. ऋग्वेद · ९, ८६, ९, ९, ९१, ३, ९, ९५, ४ इत्यादि।
२. ,, ९, ७, ३।
३. ,, २, १, ६, ३, २, ५।
४ ,, १, ४३, ४।
५. ,, १, ११४, ६ पर सायण की टीका।

इसी रूप में रुद्र का सवन्ध उर्वरता और पेड-पौधों से भी है, और सन्तान के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है[१]। उत्तरी भारत में मानसून काल में विजली कड़कने के वाद जो वर्षा होती है, उससे धान्य, ओषधियों और अन्य पेड-पौधों की प्रचुर उपज होती है और इसी वर्षाऋतु में अधिकतर जन्तु वर्गों की भी सतान वृद्धि होती है। अतः रुद्र का उर्वरता से सवन्ध होना स्वाभाविक ही है। इस प्रसग में रुद्र की 'वृषभ' उपाधि अर्थपूर्ण है[२]। इस शव्द का अनुवाद साधारणतया 'वैल' या 'सॉढ' किया जाता है, और नि सदेह आजकल सस्कृत में इसका यही अर्थ है। परन्तु ऋग्वेद में जिन-जिन प्रसगों मे इस शव्द का प्रयोग किया गया है, उनको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इसका अधिक शाव्दिक अर्थ लिया जाता था। 'वृष्' धातु से वने इस शव्द के दो अर्थ होते थे। एक तो 'वर्षा करनेवाला' (इसी कारण सायण ने इसकी व्याख्या 'वर्षयिता' शव्द से की है) और दूसरा 'अत्यधिक प्रजनन-शक्ति रखनेवाला', अत पुरुपत्वपूर्ण या वलिष्ठ। इन दोनों ही अर्थों में यह शव्द रुद्र के लिए उपयुक्त है। पहले अर्थ में इसका सकेत उस वर्षा की ओर है जो रुद्र कराते हैं और दूसरे अर्थ में उस उर्वरता की ओर है, जो रुद्र के द्वारा ही सभव होती है। इस दूसरे अर्थ में इस शव्द का प्रयोग वैल के लिए भी हुआ, जो अपने वल और प्रजनन-शक्ति के लिए विख्यात है और धीरे-धीरे यह शव्द उसका एक साधारण नाम ही वन गया।

एक सूक्त मे रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[३]। वैसे तो इसका कोई विशेप अर्थ न होता, क्योंकि दो देवताओं का एक साथ आह्वान ऋग्वेद में कोई असाधारण वात नहीं है। सोम का इन्द्र, अग्नि और पूपा के साथ भी आह्वान किया गया है। परन्तु एक दूसरे सूक्त में कुछ मन्त्र रुद्र का स्तवन करते हैं और कुछ सोम का[४]। कुछ अन्य स्थलों पर सोम का विद्युत् के साथ सम्वन्ध है और उत्तरकालीन वैदिक-साहित्य में सतान-प्राप्ति के लिए एक सौमारौद्र हवि का विधान भी है। इन सव वातों से ऐसा जान पड़ता है कि रुद्र और सोम के वीच अधिक गहरा सवध है, और यदि हम रुद्र के स्वरूप का, उपरिलिखित समाधान मान लें तो इस सम्वन्ध को समझने मे हमें और भी सुविधा होती है। जैसे—रुद्र स्वास्थ्य और वल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार सोम-रस भी एक स्फूर्तिदायक ओपधि है और सोम और रुद्र दोनों से ही यह प्रार्थना की जाती है कि वे अपने भक्तों को वल और भिपज दें[५]। इसके अतिरिक्त सोमलता की प्रचुर वृद्धि भी रुद्र के कारण ही होती है, और फिर रुद्र के वर्ण के समान ही सोम-रस का वर्ण भी वभ्रु अथवा सुनहला होता है। ग्राव-भाटों मे सोमरस के गिरने के शव्द की 'वरसती वर्षा' से उपमा दी गई है, और चूँकि पार्थिव वर्षा कवि की कल्पना को, सहज मे ही आकाश मे गरजते हुए वादलो तक पहुँचा

१ ऋग्वेद १, १४३, ६, २, ३३ और ७।
२ ,, २, ३३, ६ व ८।
३ ,, ६, ७४।
४ ,, १, ४३।
५ ,, ७४, १ और ३।

देती है, अतः यह उपमा भी शीघ्र ही अतिशयोक्ति में वदल जाती है और रुद्र के समान ही सोम के भी गर्जन और रवण का उल्लेख होता है [१]। सोम के इस गर्जन और रवण के कारण ही सम्भवतः उसको एक स्थान पर वृषभ की उपाधि भी दे दी गई है [२]।

रुद्र के स्वरूप की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसकी पुष्टि इस वात से भी होती है कि ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र का अग्नि से गहरा सम्वन्ध है। अग्नि को अनेक वार रुद्र कहा गया है [३]। यह ठीक है कि अग्नि को रुद्र मात्र कहने का ही कोई विशेष अर्थ नहीं है, क्योंकि ये सव केवल उपाधि के रूप मे भी किया जा सकता है जिसका अर्थ है—क्रूर अथवा गर्जन करनेवाला, और इसी अर्थ में इस उपाधि का इन्द्र और अन्य देवताओ के लिए भी प्रयोग किया गया है। परन्तु एक स्थल पर रुद्र को 'मेधापति' की उपाधि दी गई है [४]। इससे रुद्र और अग्नि का तादात्म्य झलकता है। यदि हम रुद्र को विद्युत् का प्रतीक मानें, जो वास्तव में अग्नि ही है, तो इस तादात्म्य को आसानी से समझा जा सकता है। उत्तर-कालीन वैदिक-साहित्य में इस तादात्म्य को स्पष्ट रूप से माना गया है और फलस्वरूप 'सायणाचार्य' ने निरन्तर दोनो को एक ही माना है। रुद्र और अग्नि के इस तादात्म्य को ध्यान में रखते हुए हम शायद रुद्र की 'द्विवर्हा' जैसी उपाधियो का भी समाधान अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'दुगुने वल का' अथवा 'दुगुना वलशाली' किया जाता है। परन्तु इसका अधिक स्वाभाविक और उचित अर्थ वही प्रतीत होता है जो 'सायण' ने किया है। अर्थात्—

द्वयो· स्थानयोः पृथिव्याम् अन्तरिक्षे परिवृद्ध [५]

ये अर्थ विद्युत् पर पूरी तरह लागू होता है, क्योंकि विद्युत् ही जव पृथ्वी पर आती है, तव अग्नि का रूप धारण कर लेती है। अथवा 'वर्हा' शब्द का अर्थ यहाँ कलँगी से है जैसा कि वर्ही (अर्थात् मोर) में, द्विवर्हा का अर्थ हो सकता है—दो कलँगीवाला। इस अर्थ में इस शब्द का सकेत दुकाटी विद्युत् की ओर होगा।

इस सम्वन्ध मे एक रोचक वात यह है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य नहीं है, वल्कि उनमें स्पष्ट भेद किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि विद्युत् के प्रतीक रुद्र और पार्थिव वह्नि के प्रतीक अग्नि का तादात्म्य वैदिक ऋषियो को धीरे-धीरे ही ज्ञात हुआ था, किन्तु एक समय ऐसा भी था जव इन दोनों को अलग-अलग तत्त्व माना जाता था।

रुद्र=अग्नि, इस साम्य को एक वार मान लेने पर, इसको वडी सुगमता से रुद्र=अग्नि-सूर्य तक वढाया जा सकता है, और कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों से ही प्रतीत होता है कि उस समय भी रुद्र और सूर्य के इस तादात्म्य को ऋषियों ने पहचान लिया था। इससे हमें

---

१ ऋग्वेद · ९, ८६, ९, ९, ९१, ३, ९, ९५, ४ इत्यादि।

२. ,, · ९, ७, ३।

३. ,, २, १, ६, ३, २, ५।

४. ,, · १, ४३, ४।

५. ,, १, ११४, ६ पर सायण की टीका।

इसी रूप में रुद्र का सबन्ध उर्वरता और पेड-पौधों से भी है, और सन्तान के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है[1]। उत्तरी भारत में मानसून काल में विजली कड़कने के बाद जो वर्षा होती है, उससे धान्य, ओषधियों और अन्य पेड-पौधों की प्रचुर उपज होती है और इसी वर्षाऋतु में अधिकतर जन्तु वर्गों की भी सतान वृद्धि होती है। अत. रुद्र का उर्वरता से सबन्ध होना स्वाभाविक ही है। इस प्रसग में रुद्र की 'वृषभ' उपाधि अर्थपूर्ण है[2]। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'बैल' या 'साँढ' किया जाता है, और नि सदेह आजकल सस्कृत मे इसका यही अर्थ है। परन्तु ऋग्वेद में जिन-जिन प्रसगों मे इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उनको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इसका अधिक शाब्दिक अर्थ लिया जाता था। 'वृष्' धातु से बने इस शब्द के दो अर्थ होते थे। एक तो 'वर्षा करनेवाला' (इसी कारण सायण ने इसकी व्याख्या 'वर्षयिता' शब्द से की है) और दूसरा 'अत्यधिक प्रजनन-शक्ति रखनेवाला', अत पुरुषत्वपूर्ण या बलिष्ठ। इन दोनों ही अर्थों मे यह शब्द रुद्र के लिए उपयुक्त है। पहले अर्थ में इसका सकेत उस वर्षा की ओर है जो रुद्र कराते हैं और दूसरे अर्थ में उस उर्वरता की ओर है, जो रुद्र के द्वारा ही सभव होती है। इस दूसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बैल के लिए भी हुआ, जो अपने बल और प्रजनन-शक्ति के लिए विख्यात है और धीरे-धीरे यह शब्द उसका एक साधारण नाम ही बन गया।

एक सूक्त मे रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[3]। वैसे तो इसका कोई विशेष अर्थ न होता, क्योंकि दो देवताओं का एक साथ आह्वान ऋग्वेद में कोई असाधारण बात नहीं है। सोम का इन्द्र, अग्नि और पूषा के साथ भी आह्वान किया गया है। परन्तु एक दूसरे सूक्त में कुछ मन्त्र रुद्र का स्तवन करते हैं और कुछ सोम का[4]। कुछ अन्य स्थलों पर सोम का विद्युत् के साथ सम्बन्ध है और उत्तरकालीन वैदिक-साहित्य में सतान-प्राप्ति के लिए एक सौमारौद्र हवि का विधान भी है। इन सब बातों से ऐसा जान पड़ता है कि रुद्र और सोम के बीच अधिक गहरा सबध है, और यदि हम रुद्र के स्वरूप का, उपरिलिखित समाधान मान ले तो इस सम्बन्ध को समझने मे हमें और भी सुविधा होती है। जैसे—रुद्र स्वास्थ्य और बल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार सोम-रस भी एक स्फूर्तिदायक ओषधि है और सोम और रुद्र दोनो से ही यह प्रार्थना की जाती है कि वे अपने भक्तों को बल और भिषज दें[5]। इसके अतिरिक्त सोमलता की प्रचुर वृद्धि भी रुद्र के कारण ही होती है, और फिर रुद्र के वर्ण के समान ही सोम-रस का वर्ण भी बभ्रु अथवा सुनहला होता है। कई भागों मे सोमरस के गिरने के शब्द की 'बरसती वर्षा' से उपमा दी गई है, और चूँकि पार्थिव वर्षा कवि की कल्पना को, सहज मे ही आकाश मे गरजते हुए बादलो तक पहुँचा

१ ऋग्वेद १, ४३, ६, २, ३३ और ७।
२. ,, २, ३३, ६ व ८।
३. ,, ६, ७४।
४ ,, १, ४३।
५ ,, ७४, १ और ३।

देती है, अत· यह उपमा भी शीघ्र ही अतिशयोक्ति में बदल जाती है और रुद्र के समान ही सोम के भी गर्जन और रवण का उल्लेख होता है[1]। सोम के इस गर्जन और रवण के कारण ही सम्भवतः उसको एक स्थान पर वृषभ की उपाधि भी दे दी गई है[2]।

रुद्र के स्वरूप की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र का अग्नि से गहरा सम्बन्ध है। अग्नि को अनेक बार रुद्र कहा गया है[3]। यह ठीक है कि अग्नि को रुद्र मात्र कहने का ही कोई विशेष अर्थ नहीं है, क्योंकि ये सब केवल उपाधि के रूप में भी किया जा सकता है जिसका अर्थ है—क्रूर अथवा गर्जन करनेवाला, और इसी अर्थ में इस उपाधि का इन्द्र और अन्य देवताओं के लिए भी प्रयोग किया गया है। परन्तु एक स्थल पर रुद्र को 'मेधापति' की उपाधि दी गई है[4]। इससे रुद्र और अग्नि का तादात्म्य झलकता है। यदि हम रुद्र को विद्युत् का प्रतीक मानें, जो वास्तव में अग्नि ही है, तो इस तादात्म्य को आसानी से समझा जा सकता है। उत्तर-कालीन वैदिक-साहित्य में इस तादात्म्य को स्पष्ट रूप से माना गया है और फलस्वरूप 'सायणाचार्य' ने निरन्तर दोनों को एक ही माना है। रुद्र और अग्नि के इस तादात्म्य को ध्यान में रखते हुए हम शायद रुद्र की 'द्विवर्हा' जैसी उपाधियो का भी समाधान अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'दुगुने बल का' अथवा 'दुगुना बलशाली' किया जाता है। परन्तु इसका अधिक स्वाभाविक और उचित अर्थ वही प्रतीत होता है जो 'सायण' ने किया है। अर्थात्—

द्वयो· स्थानयोः पृथिव्याम् अन्तरिक्षे परिवृद्ध[5]

ये अर्थ विद्युत् पर पूरी तरह लागू होता है, क्योंकि विद्युत् ही जब पृथ्वी पर आती है, तब अग्नि का रूप धारण कर लेती है। अथवा 'वर्हा' शब्द का अर्थ यहाँ कलँगी से हैं जैसा कि वर्हीं (अर्थात् मोर) में, द्विवर्हा का अर्थ हो सकता है—दो कलँगीवाला। इस अर्थ में इस शब्द का संकेत दुकाटी विद्युत् की ओर होगा।

इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम भागो में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य नही है, बल्कि उनमें स्पष्ट भेद किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि विद्युत् के प्रतीक रुद्र और पार्थिव वह्नि के प्रतीक अग्नि का तादात्म्य वैदिक ऋषियों को धीरे-धीरे ही ज्ञात हुआ था, किन्तु एक समय ऐसा भी था जब इन दोनो को अलग-अलग तत्त्व माना जाता था।

रुद्र=अग्नि, इस साम्य को एक बार मान लेने पर, इसको बडी सुगमता से रुद्र=अग्नि-सूर्य तक बढाया जा सकता है, और कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों से ही प्रतीत होता है कि उस समय भी रुद्र और सूर्य के इस तादात्म्य को ऋषियों ने पहचान लिया था। इससे हमें

---

१. ऋग्वेद ९, ८६, ९, ९, ९१, ३, ९, ९५, ४ इत्यादि।
२ ,, : ९, ७, ३।
३. ,, . २, १, ६, ३, २, ५।
४. ,, १, ४३, ४।
५. ,, १, ११४, ६ पर सायण की टीका।

इस बात का समाधान करने में सहायता मिलती है कि रुद्र को मरुतो का पिता कहा गया है, जिनको उसने 'पृश्नी' (पृथ्वी) से उत्पन्न किया।

कुछ ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में मरुतो की कल्पना, प्रकाश से सम्बद्ध, रक्षकगणो के रूप में की गई थी, जो सब युगो में साधुजनो का सरक्षण करते हैं[1]। यह कल्पना इन्डो-यूरोपियन-काल की है, क्योकि मरुतो और आवेस्ता के फ्रवशियो में और ग्रीक और रोमन 'जीनियाई' मे बहुत समानता है। इन ग्रीक और रोमन 'जिनियाई' की कल्पना, सर्पधारी नवयुवको के रूप में अथवा केवल सर्पो के रूप में की जाती थी। मरुतो को भी 'मर्य.' (मनुष्य), 'अहिभानु', 'अहिसुष्म', 'अहिमन्यु' आदि कहा गया है,[2] जो सब-की-सब बड़ी अर्थपूर्ण उपाधियाँ हैं। कुछ ग्रीक भी जिनको 'Trito Patoras' (सस्कृत में 'तृतपितर') कहते हैं, हमे मरुतो का स्मरण कराते हैं, क्योकि 'तृत' भी एक वैदिक देवता है और कभी-कभी मरुतो के साथ ही उसका उल्लेख होता है। धीरे-धीरे मरुतो के स्वरूप में विकास और परिवर्तन होता रहा, जिसके फलस्वरूप उन्हें इन्द्र जैसे एक महान् देवता का परिचारक देवता समझा जाने लगा—जैसे ईरान में फ्रवशी 'अहुरमज्दा' के परिचर, देवता बन गये थे। इन्द्र यदि किसी प्राकृतिक शक्ति का प्रतीक है तो वह है झझावात का जो दीर्घकाल तक सूखा मौसम रहने के बाद पावस की जवानी में चलता है, जिसके साथ बादलो की गरज, बिजली की चमक और मूसलधार वर्षा होती है तथा जिसके समाप्त होने पर सूर्य अपने समस्त तेज के साथ गगन-पटल पर फिर निकल आता है। चूकि ऐसे झझावात में हवा का झोका उग्र रहता है, जो अपने साथ मेघो को उडाये लिये चलता है तथा अन्य कई प्रकार से भी झझावात की सहायता करता हुआ प्रतीत होता है, अतः मरुतो का ऐसी हवाओ के साथ अधिकाधिक सम्बन्ध होता गया, और यहाँ तक कि दोनो का तादात्म्य हो गया। ऋग्वेदीय काल तक यह तादात्म्य हो चुका था। ऋग्वेद में मरुतो की कल्पना स्पष्ट रूप से पवन देवताओ के रूप में की गई है और अब उनको पवन देव 'वायु' की सतान माना जाता है, जो स्वाभाविक है। परन्तु बाद में, जब हवाओ की उत्पत्ति का ठीक-ठीक ज्ञान ऋषियो को हुआ, तब मरुत, जो पृथिवी से उत्पन्न किये गये थे, रुद्र के पुत्र कहलाने लगे, क्योकि श्री जी० राव ने सुझाया है कि पृथिवी पर सूर्य की किरणो का ताप लगने से ही हवाओ की उत्पत्ति होती है। मरुतो का एक अन्य नाम 'सिन्धु-मातर' सभवतः उनके और वर्षा के सम्बन्ध की ओर सकेत करता है।

रुद्र के स्वरूप का एक और पहलू शेष रहता है और वह किंचित् रहस्यमय है। ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त मे कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ 'विष' पान किया[3]। इस सूक्त की कठिनाई यह है कि इसमे यह स्पष्ट नही होता कि हम इसे एक लक्षणा मान सके या नही। सायणाचार्य ने इसको लाक्षणिक रूप मे लिया है, और केशी का अर्थ जिसके 'केश' अर्थात् किरणे हो—यानी 'सूर्य' किया है। इसमें उन्होने 'यास्क' का अनु-

---

[1] डा० बार्नेट — जीनियस ए स्टडी इन इन्डो यूरोपियन माइकोलोजी, Jras १९२९, पृ० ७३१।
[2] ऋग्वेद — १, १७२, १, १,६४, ८ और ६, ५,३३,५, ५,६१,४, ५,५२,३, १०,७७, २ क ३।
[3] ऋग्वेद — १०, १३६।

करण किया है। उन्होंने भी 'केश' का अर्थ किरणे करके, 'केशी' को सूर्य का द्योतक माना है [1]। ऋग्वेद के अन्य सूक्त मे तीन केशियो का उल्लेख किया गया है, और वहाँ वे क्रम से अग्नि, सूर्य और वायु के प्रतीक जान पड़ते हैं [2]। कम-से-कम यास्क ने उनकी व्याख्या इसी प्रकार की है [3]।

विष शब्द का अर्थ भी सदा जहर ही नहीं होता। प्रायः यह 'उदक' (जल) का पर्यायवाची भी होता है, और इस प्रसंग मे संभवत. इसका सकेत जीवन के स्रोत रूपी पच महाभूतो में जल की ओर है। इस सूक्त के प्रथम मत्र मे कहा भी गया है कि केशी इस 'विष' को इसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को। अतः यदि हम केशी को सूर्य का प्रतीक माने, तो विद्युत्-शक्ति रूपी रुद्र का सूर्य-रूपी केशी से सम्बन्ध समझ मे आ जाता है।

परन्तु केशी का इस प्रकार लाक्षणिक अर्थ करने पर भी केशी को लेकर जो रूपक बाँधा गया है, उसको समझना शेष रह जाता है। सूर्य को केशी क्यो कहा गया है? क्योंकि केशी का शाब्दिक अर्थ तो 'जटाधारी' होता है। इसके अतिरिक्त, इस सूक्त के तीसरे और उसके वाद के मत्रो में केशी की तुलना मुनियो से की गई है। इन मुनियो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि अपने 'मौन्य' अथवा 'मुनित्व' के आवेश से उन्मत्त होकर वे अपने अंतः स्वत्व को पवन के अन्दर विलीन कर देते हैं और इसी पवन में वे विहार करते हैं। सासारिक मर्त्य जनो को जो दिखाई देता है, वह तो केवल उनका पार्थिव शरीर होता है।

ऋग्वेद में 'मुनि' शब्द का अर्थ उत्तेजित, अभिप्रेरित अथवा उन्मत्त होता है। यह भी निश्चित है कि यह शब्द 'इण्डो-यूरोपियन' मूल का नहीं है। सस्कृत के वैयाकरणों ने इसका उल्लेख उणादि सूत्रों के अन्तर्गत किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत व्याकरण के साधारण नियमों के अनुसार नहीं की जा सकती थी। इन सूत्रों में इसको 'मन' धातु से वना वताया गया है, जिससे इसके 'उकार' का समाधान नहीं होता। उधर कन्नड़ भाषा में यह शब्द सामान्यतः पाया जाता है, और वहाँ इसका अर्थ है—जो क्रुद्ध हो जाय। यह अर्थ इस शब्द के ऋग्वेदीय अर्थ के वहुत समीप है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द तत्कालीन किसी ऐसे आर्येतर जाति की भाषा से लिया गया, जिसके संपर्क में उस समय ऋग्वेदीय आर्य लोग आये। ऋग्वेद के एक मत्र में उड़े जाते हुए मरुतों के वल की उपमा मुनियों से दी गई है [4]। एक और मत्र में, सोमरस पान के अनन्तर

---

१. निरुक्त . १२, १२, २५, २६। केशी केशा रश्मय । तैस्तद्वान् भवति (प्रकाशनाद्वा· ··· केशीदम् ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यम् आह)।

२. ऋग्वेद : १, १६४, ४४।

३ निरुक्त : १२, १२, २७। "त्रय· केशिन ऋतुथा विचक्षते····काले कालेऽभिविपश्यन्ति। सवत्सरे वपत एक एषाम् इत्यग्नि, पृथिवीं दहति। सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्य। गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य"।

४ ऋग्वेद ६, ५६, ८।

अतः रुद्र से सतत यही प्रार्थना की जाती है कि वह अपने शर को स्तुतिकर्त्ता की ओर से हटाये रखे, और उसका प्रहार उसके शत्रुओं पर अथवा कृपण लोगों पर करें [1]। एक मन्त्र में रुद्र को 'भीम राजानम्' (आतंककारी नृपति) और 'उपहन्तु' (विध्वंसक) कहा गया है [2], क्योंकि खुले खेतों में चरते हुए पशुओं पर बिजली गिरने की अधिक आशंका होती है, अतः पशुओं को उसके संरक्षण में रखकर रुद्र को प्रसन्न किया गया है [3]। इस प्रसंग में रुद्र को पहली बार 'पशुपति' कहा गया है, और उससे पशुवृद्धि तक के लिए प्रार्थना की गई है [4]।

रुद्र के विध्वंसक और हिंसक रूप मे ही सम्भवतः उसके साथ रहनेवाले श्वानों (कुत्तों) की भी कल्पना की गई है, और अथर्ववेद के एक मन्त्र मे इनका उल्लेख हुआ है [5]। परन्तु ऋग्वेद के उत्तर भागों में श्वानो का साहचर्य यम के साथ है, जिनको मृत्यु का अधिष्ठातृ-देवता माना गया है। परन्तु अथर्ववेद का उपर्युक्त मन्त्र चूंकि ऋग्वेद के उत्तर भागों से प्राचीन जान पड़ता है, अतः यह भी सम्भव है कि आदिकाल में रुद्र को ही मृत्यु देवता भी माना जाता था और इसी रूप मे उनसे श्वानो का साहचर्य था, क्योंकि मृतमांस-भक्षी होने के कारण और श्मशान आदि के निकट बहुधा पाये जाने के कारण श्वान मृत्यु के ही प्रतीक हो गये हैं। बाद में जब यमराज को मृत्यु का अधिष्ठातृ-देवता के रूप में माना गया, तब श्वानों का यह साहचर्य, रुद्र से लेकर यम के साथ जोड़ दिया गया। प्राचीन देवकथाओं मे इस प्रकार का आदान-प्रदान बहुधा होता रहता है।

अथर्ववेद में रुद्र का पुरुषविध रूप ऋग्वेद से आगे बढ़ गया है, और इस बात तक के चिह्न दिखाई देते हैं कि प्रारम्भ में रुद्र की कल्पना जिस प्राकृतिक तत्त्व को लेकर की गई थी, उसे लोग भूलते जा रहे थे। अब रुद्र के अनुचर गणों की चर्चा होती है, जो सम्भवतः आगे चलकर दश रुद्र कहलाये, और जो वास्तव में और कोई नहीं, वही ऋग्वेद-कालीन मरुत हैं [6]। रुद्र के शर अब प्राणिमात्र का सीधा वध नहीं करते, अपितु व्याधियाँ फैलाते हैं, जिनकी चिकित्सा के लिए विविध मन्त्र और ओषधियाँ बताई गई हैं [7]। भूत-पिशाचादि से रक्षणार्थ भी रुद्र का स्तवन किया जाता है [8]। अथर्ववेद में रुद्र के इस वर्णन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रुद्र वैदिक देवतामण्डल के इन्द्र, अग्नि आदि बड़े-बडे देवताओं के समान श्रेष्ठ कोटि के देवता न होकर एक ऐसे देवता थे जिनपर जन-साधारण की आस्था थी, जो ऋग्वेद मे इतनी स्पष्ट नहीं है। इस बात का आगे चलकर बहुत बड़ा परिणाम हुआ। अथर्ववेद में एक लोकप्रिय देवता के रूप में ही, अपनी प्रत्यक्ष शक्ति के

---

१. अथर्व० ६, ५९, ३, ७, ७५, १, ११, २, २६ इत्यादि।
२. ,, १८, १, ४०।
३ ,, ११, २, १०, १०, २, २४।
४ ,, २, ३४, १, ५, २४, १२, ११, २, १, ११, ६, ९ इत्यादि।
५. ,, ११, २, ३०।
६ ,, ११, २, ३१।
७ ,, ६, ५७, १; ६, ९०, १।
८ ,, ६, ३२, २।

कारण और अपने प्रकोप के आतक के कारण, सभवत. रुद्र को उत्कर्ष हुआ, और अथर्ववेद मे उनको 'महादेव' की उपाधि दी गई।

अपने सौम्य रूप में भी रुद्र का पुरुषीकरण और आगे बढ गया है। रुद्र की ओषधियाँ तो टढी और रोगनाशक होती ही हैं, इसके अतिरिक्त उनका स्वय भी व्याधिनाश के लिए आह्वान किया जाता है[१]। कुछ मत्रो में रुद्र को 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है[२]। ऋग्वेद मे यह उपाधि साधारणतया वरुण को[३] और अथर्ववेद मे वरुण के गुप्तचरों को दी जाती है[४]। वरुण 'ऋत' के सरक्षक हैं, और अपने चरों की सहायता से प्राणिमात्र के कर्मो को देखते रहते हैं। अत रुद्र को यह उपाधि दिया जाना सभवत इस बात का द्योतक हो सकता है कि रुद्र को भी अब प्राणिमात्र का निरीक्षणकर्ता माना जाने लगा था।

अथर्ववेद में हमे उस प्रक्रिया का प्रारम्भ भी दृष्टिगोचर होता है जिसकी आगे चल कर अनेक वार आवृत्ति हुई और जिसके द्वारा ही अन्त में पौराणिक शिव के स्वरूप का पूर्ण विकास हुआ। यह क्रम है—एक बड़े देवता का अन्य देवताओं को अपने अन्तर्गत कर लेना और उनके व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व में विलीन कर लेना। अथर्ववेद में दो देवताओं (भव और शर्व) का उल्लेख हुआ है। उनका व्यक्तित्व कुछ स्पष्ट नहीं है, परन्तु फिर भी वह स्वतत्र देवता हैं[५]। परन्तु अथर्ववेद के ही कुछ अन्य मत्रों में उनका स्पष्ट रूप से रुद्र के साथ तादात्म्य हो गया है और भव और शर्व रुद्र के ही दो नाम बन गये हैं[६]। एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता का आत्मसात् किया जाना कोई असाधारण बात नहीं है और ससार की प्राय सभी देव-कथाओ मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं। अत यह नितान्त सभव है कि रुद्र ने, जिसका महत्त्व बढ रहा था, समय बीतते-बीतते कुछ छोटे-छोटे देवताओ को आत्मसात् कर लिया हो।

अब हम अथर्ववेद मे रुद्र के स्वरूप के अतिम पहलू पर दृष्टि डालते हैं। अथर्ववेद के पन्द्रहवें मडल मे रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद का यह मडल वैदिक साहित्य की एक समस्या है जिसका अभीतक समुचित समाधान नहीं हुआ है। देखने मे तो इसमे व्रात्य को देवकोटि मे रखा गया है। परन्तु यह व्रात्य था कौन, अभीतक रहस्य ही है। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों मे कुछ विधियाँ दी गई हैं जिनको 'व्रात्यस्तोम' कहते हैं। इनमे व्रात्यो का आशय उन लोगों से है, जो आर्य जाति के बाहर थे और जिनको इन विधियो द्वारा आर्य जाति म सम्मिलित किया जाता था अथवा वे ऐसे लोग थे जिनके आवश्यक सस्कार उचित समय पर नहीं हुए थे। इन दोनो ही अवस्थाओं में व्रात्य लोग वे होते थे जो वैदिक आर्यो के आचारस्तर तक नहीं पहुँचते थे और इसी कारण उनको

१ अथर्व० ६, ४४, ३, ६, ५७, १, १९, १०, ६।
२ ,, ११, २, ७।
३ ऋग्वेद ५, ५०, १० इत्यादि।
४ अथर्व० ६, १६, ४।
५ ,, ११, २, १, १२, ४, १७।
६ ,, ६, ४।

किंचित् निकृष्ट समझा जाता था। परन्तु यदि अथर्ववेद के इस मंडल का व्रात्य वही है, जो इन विधियों का है, तो इस प्रकार उसको इतना ऊँचा क्यों उठाया गया, समझ में नहीं आती? उसमें कुछ-न-कुछ गुण अथवा ऐसी विशेषता अवश्य रही होगी, जिससे आर्यों के पुरोहित वर्ग को छोड़कर, अन्य लोगों की दृष्टि में वह श्लाघ्य बन गया। जर्मन विद्वान् डाक्टर 'हौएर' का विचार है[१] कि यह व्रात्यो के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया, और फिर वैदिक विचार-धारा और धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला। इधर 'श्री एन. एन. घोष' ने अपनी एक रोचक पुस्तक में एक नई दिशा में खोज की है[२] और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक बड़ी राजनीतिक शक्ति थी। उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए लड रहे थे, और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी। अत, उन्होने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया। व्रात्यों को भी सभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया, और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिए तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। इतना तो मानना ही पडेगा कि व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुश्चली' और 'मागध' का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्वदेशवासी और आर्येतर जाति के हैं), आर्यों से पहले भी भारतवर्ष में अति विकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाण-स्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि श्री घोष के तर्क की कुछ पुष्टि करते हैं। परन्तु व्रात्य चाहे जो भी रहे हों, प्रश्न हमारे सामने यह है कि अथर्ववेद के इस मडल में व्रात्य के साथ रुद्र का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया गया है? सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि व्रात्य 'महादेव' बन गया, व्रात्य 'ईशान' बन गया। यह दोनों ही रुद्र की उपाधियाँ हैं[३]। तदनन्तर, विभिन्न नामों से रुद्र को व्रात्य का 'अनुष्ठाता' (परिचर) बताया गया है[४]। अन्त में कहा गया है कि जब व्रात्य पशुओं की ओर चला, तब उसने रुद्र का रूप धारण किया और 'ओषधियों को अन्नसेवी बनाया'[५]। इस सूक्त में यही तीन स्थल हैं, जहाँ रुद्र का व्रात्य के साथ सम्बन्ध है। अब देखें कि इनसे हम किस निर्णय पर पहुँच सकते हैं। अन्तिम उद्धरण का इसके सिवा कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि रुद्र का सम्बन्ध पशुओं और वनस्पतियों से था, जो हमें पहले से ही विदित है। इसी उद्धरण में यह भी कहा गया है कि व्रात्य ने विभिन्न दिशाओं और विभिन्न पदार्थों की ओर चलते हुए अन्य देवताओं का रूप भी धारण किया। दूसरे उद्धरण में, अपने विभिन्न नामों से रुद्र दिक्पाल के रूप में ही दीखते हैं, और व्रात्य के साथ उनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। अत· इस उद्धरण का महत्त्व इस बात में नहीं है कि इससे व्रात्य और रुद्र के बीच कोई विशेष

---

१ हौएर · दर व्रात्य।
२ एन एन घोष · इडो आर्यन लिटरेचर एन्ड कलचर (Origins) १९३४ ई०।
३. अथर्व० १५, १, ४, ५।
४. „ १५, ५, १, ७।
५. „ · १५।

सम्बन्ध सिद्ध होता है, अपितु इसमें है कि यह रुद्र के स्वरूप में और अधिक विकास का द्योतक है, क्योंकि अब अपने और कार्यों के अतिरिक्त रुद्र दिशाओं के संरक्षक के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। अब हमारे सामने केवल प्रथम उद्धरण रह जाता है, जिसमें कहा गया है कि व्रात्य 'महादेव' और 'ईशान' बन गया। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि अथर्ववेद में महादेव रुद्र की उपाधि है, और 'ईशान' की उपाधि 'यजुर्वेद' में ही रुद्र को दे दी गई थी, तथापि यह दोनों केवल उपाधि मात्र हैं। अभी रुद्र के विशिष्ट नाम नहीं बने हैं। 'महादेव' का अर्थ है 'महान् देवता' और यह उपाधि दूसरे देवताओं को भी दी गई है। 'ईशान' का अर्थ है—प्रभु और इसी अर्थ में इसका यहाँ प्रयोग हुआ है। अतः अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि इन उद्धरणों में रुद्र की ओर कोई संकेत है या नहीं, यह एक खुला प्रश्न है। इस मंडल के शेष भाग में और अपरकालीन व्रात्यस्तोमों में, व्रात्यों और रुद्र के बीच कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में भी जहाँ 'व्रात्य' एक अपमानसूचक शब्द है, जो गर्हित वाहीकों के लिए प्रयुक्त किया गया है[1], वहाँ व्रात्य और रुद्र में कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। डाक्टर 'हौएर' का यह कथन औचित्य से बहुत दूर है कि व्रात्य वाहीकों के विलासमत्त शैव सुरासेवियों के जघन्य कृत्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टर साहब को 'गौरी' शब्द ने भ्रम में डाल दिया, जो वाहीक युवतियों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जिसका साधारण अर्थ एक गौरवर्ण कन्या है। शिवपत्नी पार्वती की ओर यहाँ कोई संकेत नहीं है। अतः यह सम्भव है, इस उद्धरण में जो 'महादेव' और 'ईशान' शब्द हैं, उनका रुद्र की ओर संकेत है ही नहीं, और वे केवल अपने शाब्दिक अर्थ में व्रात्य का माहात्म्य बताने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। यदि उनका रुद्र की ओर संकेत हो भी, तो हम इससे अधिक और कोई अनुमान नहीं लगा सकते हैं कि इस समय तक रुद्र एक महान् देवता और देवाधिदेव समझे जाते थे, और जब व्रात्य का माहात्म्य बढ़ा तब उसकी रुद्र से तुलना की गई। जो भी हो, इन उद्धरणों से हमें इतनी सामग्री नहीं मिलती कि हम महामहोपाध्याय 'श्री हरप्रसाद शास्त्री' के इस कथन का समर्थन कर सकें कि रुद्र ही व्रात्य हैं, और वह पर्यटकों के देवता हैं, स्वयं पर्यटकाधिराज हैं तथा पर्यटक दल की आत्मा हैं[2]। पौराणिक शिव की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं (जैसे उनके कृत्तिधारी वेश और उनका कोई धाम न होना) जो शास्त्री जी के विचार में, शिव के पर्यटक होने के द्योतक हैं। परन्तु जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इन सबका संतोषजनक समाधान अन्य प्रकार से किया जा सकता है।

अथर्ववेद में रुद्र के स्वरूप के सम्बन्ध में एक और बात पर विचार करना शेष रह गया है। यज्ञ में आहुति के रूप में रुद्र को पाँच प्राणी समर्पित किये गये हैं। उनमें से एक मनुष्य है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है रुद्र को कभी-कभी नर-बलि भी दी जाती थी। यह असम्भव नहीं है, क्योंकि नरमेध की प्रथा प्राचीन आर्यों में काफी प्रचलित थी और आर्यों में ही क्यों, उस युग की सभी सभ्य जातियों में यह प्रथा प्रचलित

---

[1] महाभारत (बम्बई संस्करण) कर्णपर्व—३२ और ४३-४४, ३८, २०।
[2] JSAB—१९२१, पृ० १७।

थी। प्राचीन ग्रीक, रोमन और पारसीकों में हमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। वैदिक आर्यों में भी इस प्रथा के प्रचलित होने के अकाट्य प्रमाण यजुर्वेद का पुरुषमेध यज्ञ और 'ऐतरेय ब्राह्मण' में शुनःशेफ की कथा में है। अतः यह नितान्त संभव है कि यदा-कदा रुद्र को भी नरबलि दी जाती हो, विशेषकर जब उसका सतानवृद्धि से सम्बन्ध था। सतानवृद्धि के लिए जो विधियाँ की जाती थीं, उन्ही में इस प्रकार की बलि साधारणतया दी जाती थी। कालान्तर में वैदिक आर्यों ने इस प्रथा की निन्दा की, और अन्त में इसको बन्द कर दिया। परन्तु यत्र-तत्र यह प्रथा दीर्घ काल तक चलती रही, और जब हम महाभारत मे जरासन्ध को नरबलि द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न करने की चेष्टा करते पाते हैं, तब हमे इसको ऐसी गर्हित और अनार्य प्रथा नहीं समझना चाहिए जिसकी श्रीकृष्ण ने निन्दा की, और न हमें जरासन्ध को ही एक अमानुषिक अत्याचारी समझना चाहिए, अपितु इसको एक अति प्राचीन प्रथा के अवशेष के रूप में देखना चाहिए जो एक समय मे बहुत प्रचलित और सम्मानित क्रिया थी।

अब हम यजुर्वेद पर दृष्टि डालते हैं। ऋक् और अथर्ववेद के सूक्तों के निर्माण काल में और यजुर्वेद के सूक्तो के निर्माण काल में काफी अन्तर प्रतीत होता है, और इस कालावधि में वैदिक आर्य 'सप्तसैन्धव' के पर्वतों और मैदानो से आगे बढते हुए कुरुक्षेत्र के प्रदेश तक आ गये थे। इसी कालावधि में रुद्र के स्वरूप में भी पर्याप्त विकास हुआ। अथर्ववेद में रुद्र के जिस भयावह रूप पर जोर दिया गया है, वह यजुर्वेद में और भी प्रमुख हो जाता है। रुद्र के शरों का आतंक अब पहले से भी अधिक है, और उनको दूर रखने के लिए रुद्र से प्रार्थना की जाती है[१]। रुद्र का एक नाम अब 'किवि', अर्थात् ध्वसक या 'हानिकर' भी है[२], और एक स्थल पर रुद्र के प्रसग मे 'दौर्व्रात्य' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ भाष्यकार 'महीधर' ने किया है—'उच्छृखल आचरण'[३]। रुद्र के इस आतंक के फलस्वरूप उनको कई अन्य प्रशंसासूचक उपाधियाँ भी दी गई, और उनके धनुष और तरकस को 'शिव' कहा गया है[४]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तो को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयकर समझे जानेवाले अपने पथ पर[५]। भिषक् रूप में भी रुद्र को कभी-कभी स्मरण किया गया है और मनुष्य और पशुओं के लिए स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है[६]। सम्भवतः अपने इसी भिषक् रूप में उनका सम्बन्ध देवचिकित्सक अश्विनी-कुमारो से हुआ, जिनको यजुर्वेद मे रुद्र के पथ पर

---

१ यजुर्वेद (तैत्तिरीय सहिता) १,१,१, इत्यादि।

२ ,, (वाजसनेयी ,,) १०, २०।

३ ,, (वाजसनेयी ,,) ३९, ९ और महीधर का भाष्य—"दुष्ट स्खनलोच्छ्लनादि व्रतम्"।

४ ,, (तैत्तिरीय ,,) ४, ५, १।

५. ,, (तैत्तिरीय ,,) १, २, ४।

६ ,, (,, ,,) १, ८, ६।

चलनेवाला बताया गया है [१]। रुद्र का 'पशुपति' रूप और भी अच्छी तरह स्थापित हो गया है [२], और सन्तानवृद्धि से उनका पुराना सम्बन्ध भी 'सोमारौद्र' चरु में स्पष्ट हो जाता है, जो सतानेच्छुक मनुष्य द्वारा दिया जाता था [३]।

परन्तु कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद दोनों में ही हमें दो सूक्त ऐसे मिलते हैं, जिनमें हमें रुद्र का एक नया ही स्वरूप दिखाई देता है, जिसका ऋक् या अथर्ववेद में कोई सकेत नहीं मिलता। ये दो सूक्त हैं—'त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय'। त्र्यम्बक होम में [४] रुद्र का पशुपति और भिषक् रूप तो है ही, इसके अतिरिक्त उनके साथ एक स्त्री देवता का भी उल्लेख किया गया है, जिसका नाम है 'अम्बिका' और जिसे रुद्र की वहन बताया गया है। फिर रुद्र के विशेष वाहन मूषक की भी चर्चा है। स्वय रुद्र को 'कृत्तिवासा' कहा गया है। मृत्यु से मुक्ति और अमृतत्वप्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। अन्त में जब रुद्र का यज्ञभाग उन्हें दे दिया जाता है, तब उनसे 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध किया जाता है और वह भी कुछ ऐसे ढग से जिससे प्रतीत होता है कि उनकी उपस्थिति वाछित नहीं थी तथा स्तोता अपने-आपको रुद्र से दूर ही रखना चाहता था।

उपर्युक्त विवरण से कई प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो यह कि यह स्त्री देवता 'अम्बिका' कौन है और इसका रुद्र का साथ उल्लेख कैसे हुआ? दूसरे रुद्र को 'कृत्तिवासा' क्यों कहा गया है, और मूषक उनका वाहन क्यों बनाया गया है? यज्ञ में रुद्र की उपस्थिति वाछित क्यों नहीं थी और यज्ञभाग देने के पश्चात् उनको मूजवत पर्वत के परे जाने को क्यो कहा गया है? इन प्रश्नों के उत्तर देने से पहले हमें यह देखना चाहिए कि इन बातों का सकेत किस ओर है? इस बात का विचार छोड़कर कि इस सूक्त के देवता रुद्र हैं, हम पहले यह देखें कि इसमें वर्णित देवता का स्वरूप क्या है? मूजवत पर्वत के परे चले जाने का अनुरोध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता का वास उत्तर भारतीय पर्वतों में माना जाता था। मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उसका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत कन्दराओं मे रहनेवाला माना जाता था। उसकी उपाधि 'कृत्तिवासा' यह सूचित करती है कि उसको खाल के वस्त्र पहननेवाला माना जाता था।

अन्त में 'अम्बिका' के उल्लेख से पता चलता है कि इस देवता का एक स्त्री देवता के साथ सम्बन्ध था, जिसकी पूजा भी उसी के साथ होती थी। ऋक् या अथर्ववेद में कोई ऐसा देवता नहीं है जिसमें यह सब गुण पाये जाते हो।

---

१ यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) १६, ८२, ७३, ५८।
२ ,, (,, ,,) ६, ३६, ३६, ८। (तैत्तिरीय) १, ८, ६।
३ ,, (तैत्तिरीय संहिता)। २, २, १०।
४ ,, (,, ,,) १, ८, ६। (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३।

'त्र्यम्बक होम' यजुर्वेद के सामान्य यज्ञविधान से पृथक, एक विशेष विधि है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ॠक् और अथर्ववेद के सूक्तो के निर्माण काल के पश्चात् और यजुर्वेद के सूक्तो के निर्माण काल से पहले, किसी समय रुद्र के साथ एक आर्येतर देवता का आत्मसात् हो गया था। सभवतः हिमालय की उपत्यकाओ मे वसनेवाली कुछ जातियाँ इस देवता को पूजती थीं और इसको कृत्तिवासा और कन्दरावासी मानती थी। यह देवता कौन था, यह स्पष्ट रूप से कहना वहुत कठिन है, परन्तु अपर काल मे भगवान् शिव का किरातो के साथ जो सम्वन्ध हुआ (जैसा महाभारत के किरातार्जुनीय प्रसग से स्पष्ट है), उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद यह देवता किरातों और तत्सम्वन्धित उन जातियो का देवता था, जो उस समय हिमालय की निम्नपर्वतश्रेणियो मे वसती थीं और आज तक वसती हैं।

एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता को आत्मसात् कर लेने की यह रीति देवकथाओ में कोई असाधारण घटना नही है। सच तो यह है कि प्राचीन संसार में जव कभी एक जाति का किसी अन्य जाति पर राजनीतिक प्रभुत्व हो जाता था, और विशेषकर जव वह दो जातियाँ मिलकर एक हो जाती थीं, तव देवताओ का इस प्रकार एक दूसरे द्वारा आत्मसात् अनिवार्य रूप से हो जाता था। इसका एक वड़ा रोचक उदाहरण वैवीलोन का देवता है—'मरदुक'। जैसे-जैसे वैवीलोन का महत्त्व वढ़ता गया और उसका राजनीतिक और सास्कृतिक प्रभुत्व फैलता गया, धीरे-धीरे सारी अधीनस्थ जातियो के देवताओं को 'मरदुक' ने आत्मसात् कर लिया। अव हम देख चुके हैं कि जिस समय वैदिक आर्यों ने भारत पर अपना राजनीतिक और सास्कृतिक प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया, उस समय रुद्र उनका एक वड़ा देवता था। इसके साथ-साथ वह एक लोकप्रिय देवता भी था—अर्थात् उसकी उपासना अधिकाश जन-साधारण में होती थी, और इसी कारण वैदिक पुरोहितो ने जिस देवमण्डल को लेकर उच्चवर्गीय वैदिक आर्यों के धर्म के प्रमुख अंगस्वरूप विस्तृत कर्मकाड की स्थापना की थी, उसके अन्तर्गत रुद्र को नही माना। फलस्वरूप वैदिक पुरोहितों ने रुद्र के स्वरूप की विशुद्धता की सतर्कता से रक्षा नही की। अतः जव वैदिक आर्यों ने दूसरी आर्येतर जातियो को अपने अन्दर मिलाना शुरू किया और फलस्वरूप स्वभावतः दोनो के जन-साधारण का ही आपस में सवसे अधिक सपर्क हुआ, तव आर्यों के जनसाधारण के देवता रुद्र ने भी इन आर्येतर जातियों के देवताओ को आत्मसात् किया। यह वहुत संभव है कि आर्यों के सम्पर्क में आनेवाली सवसे पहली आर्येतर जातियाँ, हिमालय की उपत्यकाओ में वसनेवाली जातियाँ थीं, क्योकि वे ही उत्तरी पजाव और कश्मीर के पहाड़ो में वैदिक आर्यों के निवास-स्थान के समीपतर थीं। इन्हीं जातियो में पूजे जानेवाले किसी देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ होगा, जिसके कारण रुद्र का वह रूप वना जो हमें 'त्र्यम्वकहोम' में दिखाई देता है।

त्र्यम्वकहोम में जो सामग्री उपलब्ध है, 'शतरुद्रिय स्तोत्र' उसी का पूरक है। इस स्तोत्र में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जिनसे रुद्र के यजुर्वेदकालीन स्वरूप का भलीभाँति

परिचय मिल जाता है[1]। रुद्र के प्राचीन स्वरूप की स्मृति अभी तक शेष है, यद्यपि, यजुर्वेद के अन्य सूक्तों की भाँति इस स्तोत्र में भी रुद्र के भयावह बाणों का डर स्तोत्रकर्ता के मन में सबसे अधिक है[2] और प्राचीन ऋषियों के समान ही वह भी अनेक प्रशंसा-सूचक उपाधियों से रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। फिर भी रुद्र को पहली बार यहाँ 'शिव', 'शिवतर', 'शंकर' आदि कहा गया है। वह भिषक् भी हैं। उनकी पुरानी उपाधि 'कपर्दिन्' का एक बार उल्लेख हुआ है। उनकी एक अन्य 'नीलग्रीव' उपाधि पुरानी 'नीलशिखण्डिन्' का ही विकास मात्र प्रतीत होती है। उनका पशुपति रूप भी इस स्तोत्र में व्यक्त है। परन्तु इस स्तोत्र का अधिक महत्त्व इस बात में है कि इसमें रुद्र को बहुत-सी नई उपाधियाँ दी गई हैं, जैसे—'गिरिशंत', 'गिरित्र', 'गिरिश', 'गिरिचर', 'गिरिशय'। यह सब रुद्र को पर्वतों से सम्बन्धित करती हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को 'क्षेत्रपति' और 'वणिक्' भी कहा गया है। इन दोनों उपाधियों से रुद्र का लोकप्रिय स्वरूप फिर स्पष्ट होता है। परन्तु इस स्तोत्र के बीस से बाइस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र को जो अनेक उपाधियाँ भी दी गई हैं, वे बड़ी विचित्र हैं। जो स्तोत्रकर्ता, अभी तक बड़े-बड़े शब्दों में रुद्र के माहात्म्य का गान कर रहा था, वही नितान्त सहज स्वभाव से उनको इन उपाधियों से विभूषित करता है—'स्तेनानां पति' (अर्थात् चोरों का अधिराज?), वंचक (ठग), स्तायूनां पति (ठगों का सरदार?), 'तस्कराणां पति', मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार), 'कुलुंचानां पति' आदि। आगे तेइस से सत्ताइस तक के मन्त्रों में रुद्र के गणों का वर्णन है, जो वास्तव में रुद्र के उपासक वर्ग ही थे। इनमें 'सभा', 'सभापति', 'गण', 'गणपति' आदि का ही उल्लेख तो है ही, साथ ही 'व्रात', 'व्रातपति', तक्षक रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, पुंजिष्ठ, 'श्वनि' (कुत्ते पालनेवाले), मृगायु (व्याध) आदि का भी उल्लेख है। जिस सहज भाव से इन सबको रुद्र के गणों में सम्मिलित किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि जिस समय स्तोत्र बना, उस समय इन वर्गों के लोग रुद्र के पूजनेवाले माने जाते थे। जहाँ तक उपलब्ध सामग्री से पता चलता है, ऋग्वेदीय और अथर्ववेदीय सूक्तों में यह स्थिति नहीं थी। अतः 'शतरुद्रिय स्तोत्र' में इन उपाधियों के उल्लेख से त्र्यम्बकहोम के प्रमाणों की पुष्टि होती है, और हमारा यह अनुमान न्यायसंगत प्रतीत होता है कि इस समय तक रुद्र ने एक ऐसे देवता को आत्मसात् कर लिया था, जो यहां की आदिम जातियों में पूजा जाता था। ऊपर जिन वर्गों का उल्लेख किया गया है, वे अधिकांश इन्हीं जातियों के थे। इसके अतिरिक्त इस स्तोत्र में रुद्र की एक अन्य उपाधि 'वनानां पति' है, और अपर काल में रुद्र का वनेचरों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है, इन दोनों से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जातियाँ हिमालय की उपत्यकाओं के वनों में रहती थीं। इसी स्तोत्र में 'कृत्तिवासा' उपाधि का भी फिर उल्लेख हुआ है, जिससे यह धारणा होती है कि इन वनचर जातियों ने अपने चर्मवस्त्र के अनुसार ही अपने देवता की भी, इसी वेश में, कल्पना की थी।

---

[1] यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १ इत्यादि।

[2] ,, (वाजसनेयी ,,) १६, १-६६।

इस प्रकार यजुर्वेद में आर्यों के आर्येतर जातियो के साथ समिश्रण का और उनको अपने अन्दर मिला लेने का पहला सकेत मिलता है। रुद ने इन जातियों के देवताओं को आत्मसात् किया, और इस प्रकार उनके उपासकों की सख्या वढ जाने से उनका महत्त्व भी वढ गया। इसके साथ-साथ यह भी सभव है कि जहाँ रुद्र ने इन देवताओ के विशेष स्वरूपो को ग्रहण किया, वहाँ इन जातियों में प्रचलित देवाराधना के कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार भी रुद्र की अर्चनाविधि के अंग बन गये, जिनको विशुद्धाचार के पक्षपाती कुछ वैदिक आर्य, विशेषकर वैदिक पुरोहित, अच्छा नहीं समझते थे। पर्याप्त सामग्री उपलब्ध न होने के कारण हम इस सम्वन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, परन्तु उत्तरकालीन साहित्य में रुद्र की अर्चना के पाये जानेवाले कतिपय गर्हित रूप का सूत्रपात सभवतः यहीं से होता है। इसके अतिरिक्त रुद्र के स्वरूप और अर्चना-विधि में वाह्य पुट मिल जाने के कारण वह वेद के सामान्य देवमडल से और भी दूर हट गये और हो सकता है, इसी कारण वैदिक आर्यों के पुरातनवादी वर्गों में रुद्र के प्रति एक विरोध-भावना खड़ी हो गई, जिसका पहला सकेत हमें 'त्र्यम्वक होम' में मिलता है। उत्तरकालीन साहित्य में इस विरोध-भावना के अनेक सकेत मिलते हैं।

यजुर्वेद को समाप्त कर ब्राह्मण ग्रन्थों का निरीक्षण प्रारम्भ करने से पहले हमें एक और वात देखनी है। यह वात है रुद्र का नया नाम, जो पहले-पहल हमें यजुर्वेद में मिलता है, अर्थात् 'त्र्यम्वक'। चूँकि पौराणिक शिव की कल्पना में उनके त्रिनेत्र रूप का विशेष महत्त्व है, अतः इस नाम पर यहाँ विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इस नाम की व्याख्या न तो यजुर्वेद में, न ब्राह्मण ग्रन्थो मे की गई है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह एक वहुव्रीहि समास है और अपरकाल में इसका अर्थ वरावर 'तीन नेत्रो वाला' किया जाता था। परन्तु यह भी निश्चित है कि प्रारम्भ में इस शब्द का यह अर्थ नही था। वैदिक साहित्य में, और वाद में भी, 'अम्व' शब्द का अर्थ है—'पिता'। अतः हम इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दें, तो त्र्यम्वक का अर्थ होना चाहिए 'जिसके तीन पिता हैं'। अव वैदिक देवताओं में केवल एक देवता ऐसा है जिसपर यह वर्णन लागू हो सकता है और वह है अग्नि, जिसके तीन जन्मो का (पृथिवी, आकाश और द्यु में) वैदिक साहित्य में वहुधा उल्लेख मिलता है। चूकि रुद्र और अग्नि का तादात्म्य है ही, अतः यह सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उपाधि वास्तव में अग्नि से चल कर रुद्र के पास आई। कालान्तर में अम्वक शब्द का मूल अर्थ लोग भूल गये और अम्व के दूसरे अर्थ 'नेत्र' को लेकर इसकी व्याख्या करने लगे। इस भ्रान्ति के कारण ही पौराणिक शिव के एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख स्वरूप की उत्पत्ति हुई, और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई।

जव हम ब्राह्मण ग्रन्थो को देखते हैं तो हम रुद्र का पद और भी ऊँचा पाते हैं। रुद्र का आतक अधिक वढ गया है। देवता तक उनसे डरते हैं[१]। यद्यपि उनको पशुपति

---

१ शतपथ : ९. १. १. १-५ ।

कहा गया है[1] और पशुओं को उनके नियंत्रण और संरक्षण में रखा गया है[2], तथापि उनकी कल्पना निश्चित ही पशुहन्ता के रूप में ही की गई है[3]। एक स्थल पर तो स्तोता यह प्रार्थना करता है कि उसके पशु रुद्र के संपर्क में न आवें[4]। ब्राह्मण ग्रन्थ-कर्त्ताओं के मन में रुद्र के इस भीषण स्वरूप ने ऐसा घर कर लिया कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि रुद्र की उत्पत्ति सब देवताओं के उग्र अंशों के मेल से हुई और मन्यु से रुद्र का तादात्म्य भी किया गया है[5]। रुद्र को स्पष्ट रूप से 'घोर' और 'क्रूर' कहा गया है, और उनसे बराबर यही प्रार्थना की जाती है कि उनके बाण स्तोता की ओर न चलें[6]।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उत्तर अथवा उत्तरपूर्व दिशा को रुद्र का विशेष आवास कहा गया है[7], और एक स्थल पर कृष्णवस्त्रधारी उत्तर दिशा से आनेवाला एक विचित्र पुरुष कहकर रुद्र का वर्णन किया गया है[8]। इन सबसे त्र्यम्बक होम के प्रमाणों की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में आर्येतर अंशों के मिल जाने के कारण उनमें और अन्य देवताओं के बीच जो अन्तर आता जा रहा था, उसके भी अनेक संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। 'गवेधुक होम' में कहा गया है कि जिस समय अन्य देवतागण स्वर्ग को गये, उस समय रुद्र को पीछे छोड़ दिया गया और इसी कारण उनका नाम 'वास्तव्य' पड़ा—अर्थात् 'जो घर पर ही रहे'[9]। फिर अन्य देवताओं ने प्रजापति को छोड़ दिया, किन्तु रुद्र ने उन्हें नहीं छोड़ा[10]। अन्त में यह भी कहा गया है कि जब देवताओं ने पशुओं को आपस में बाँटा, तब रुद्र का ध्यान नहीं रखा, परन्तु यह सोच कर कि कहीं रुद्र के प्रकोप से सृष्टि का ही विनाश न हो जाय, उन्हें मूषक समर्पित किया गया[11]। 'त्र्यम्बक होम' में रुद्र का विशेष वाहन मूषक बतलाया गया है जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार समाधान किया गया है।

इन सब बातों का संकेत एक ही ओर है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को अन्य देवताओं से पृथक् समझा जाने लगा था। वैदिककाल के सामान्य देवमंडल से रुद्र के इस पृथक्करण का रुद्र की उपासना के इतिहास और विकास में बहुत महत्त्व है। ब्राह्मणकाल में जब वैदिक कर्मकांड अपनी प्रौढावस्था को पहुँचा और उसका

---

१ शतपथ ५, ३, ३, ७ इत्यादि।

२ ,, ६, ३, २, ७ इत्यादि।

३ ताण्ड्य ७, ९, १६-१८।

४ कौशीतकी ३, ४।

५ ऐतरेय ३, ८, ९, तलवकार ३, २६१, शतपथ ९, १, १, ६।

६ तैत्तिरीय ३, २, ५।

७ ऐतरेय ५, २, ९, कौशीतकी २, २, तैत्तिरीय १, ६, १०, शतपथ ५, ४, २, १०।

८ ऐतरेय ५, २२, ९।

९ शतपथ १, ७, ३, १-८।

१० ,, ९, १, १, ५।

११ तैत्तिरीय १, ६, १०, ताण्ड्य ७, ९, १६।

रूप अत्यधिक विकट हो गया, तब वैदिक देवताओं में से अधिकांश का व्यक्तित्व फीका पड़ गया, और वे प्रायः सर्वशक्तिमान् आह्वानमंत्र से सज्जित स्तोता के संकेतमात्र पर चलनेवाले होकर रह गये। रुद्र को छोड़कर इसका एक ही अपवाद और था, और वह है—विष्णु। परन्तु विष्णु की उपासना की कथा अलग है और उससे अभी हमारा कोई सरोकार नहीं है। रुद्र पुरोहितों के इस कर्मकाड की जकड़ में नहीं थे, और जैसे-जैसे इनके उपासकों की संख्या बढती गई, इनके महत्त्व में भी वृद्धि होती गई। यह सच है कि इनकी उपासना में कुछ ऐसी वातें भी आ गईं, जो किंचित् आपत्तिजनक थीं; परन्तु वे संभवतः उन्हीं लोगों तक सीमित रहीं जिनमें वह प्रारम्भ में ही प्रचलित थीं। किन्तु दूसरी ओर इस वात के भी संकेत मिलते हैं कि वैदिक आर्यों में से कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारक थे जो कृत्रिम कर्मकांड को आध्यात्मिक उन्नति के लिए व्यर्थ समझते थे। वे रुद्र की उपासना की ओर आकृष्ट होने लगे थे। इस वात का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है, क्याकि उत्तर वैदिककाल में रुद्र का जो महान् उत्कर्ष हुआ और उनको जो परमेश्वर का पद दिया गया, उसका शायद यही रहस्य है। हम पहले ही देख चुके हैं कि ऋग्वेद में जिन केशिया और मुनियो का उल्लेख है, वह संभवतः कुछ आर्येतर तपस्विवर्ग था, जो ससार का त्याग कर तपश्चर्या करता था। वैदिक आर्य इस वर्ग के लोगों को किंचित् रहस्यमय प्राणी तो समझते ही थे, साथ ही सभव है कि उनके योगाभ्यास, उनकी तपश्चर्या और प्रकृति के साथ उनके अन्तरंग संपर्क ने आर्यों को प्रभावित किया तथा वे उनकी श्लाघा के पात्र वने। जो कर्मकाड की उपयोगिता को नहीं मानते थे, और जो ब्रह्मसाक्षात् के लिए नये साधनों तथा उपायों को ढूँढ़ने एवं जीवन तथा सृष्टि-विषयक उद्‌बुद्ध मूल प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर खोजने में लगे हुए थे, उनमें जैसे-जैसे समय वीतता गया, श्लाघा की यह भावना वढ़ती गई। उनकी दृष्टि में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, ध्यान और तपश्चर्या द्वारा योगाभ्यास, कर्मकाड के अनेक विधानों के यन्त्रवत् संपादन की अपेक्षा, अधिक उपयोगी था। अतः सभव है कि मुनियो और केशियों के आचार और अभ्यास को इन विचारकों ने धीरे-धीरे अपनाया हो और उसमें विकास किया हो। इस प्रकार उस आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसने भारतीय धार्मिक विचारधारा और आचार में आमूल परिवर्तन कर दिया, तथा उपनिषद् ग्रन्थ जिसके प्रथम साहित्यिक प्रमाण हैं।

अव जैसा हम देख चुके हैं, रुद्र कभी भी विशुद्ध रूप से कर्मकाड के देवता नहीं थे, पर ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक वह एक प्रमुख देवता वन गये थे जिनका अपना वास्तविक व्यक्तित्व था। अतः जव इन विचारकों ने धार्मिक विचारधारा में यह नया आन्दोलन शुरू किया, तव स्वभावतः उन्होंने कर्मकाड के अन्य देवताओं को छोड़कर इसी देवता की उपासना को अपनाया। इस प्रकार रुद्र की उपासना जन-साधारण में ही नहीं, अपितु आर्यजाति के सवसे उन्नत और प्रगतिशील वर्गों में भी होने लगी। इससे रुद्र के पद में और भी वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। चूँकि किसी भी समाज में नीति और सदाचार की भावना और 'ऋत' की कल्पना, सर्वप्रथम उसके उन्नत और प्रगतिशील वर्गों में ही विकसित होती है। अतः पहले का ही शक्तिशाली रुद्र, जिनका आतंक लोगों के हृदयों पर छाया हुआ था, इस 'ऋत' के मूर्तिमान् स्वरूप वन गये, जव कि अन्य देवता सर्वशक्तिमान् यज्ञविधि के समक्ष

क्षीण होते चले जा रहे थे। इससे रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया, और नाम से ही नहीं, अपितु वास्तव में वह 'महादेव' बन गये।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को यह गौरवास्पद प्राप्त हो गया था। रुद्र की अन्य देवताओं द्वारा उपेक्षा होने पर भी सब देवता उनसे डरते थे, इसीलिए उन्हें 'देवाधिपति' कहा गया है।[1] 'ईशान' और 'महादेव' अब उनके साधारण नाम हैं। परन्तु इस प्रसग में सबसे महत्त्वपूर्ण सदर्भ 'ऐतरेय ब्राह्मण' में है, जहाँ प्रजापति की सरस्वती के प्रति अगम्य गमन की कथा कही गई है।[2] प्रजापति के अपराध से देवता क्रुद्ध हो जाते हैं, और अन्त में उनको दड देने के लिए रुद्र को नियुक्त करते हैं। इस कथा में अन्य देवताओं की अपेक्षा रुद्र का नैतिक उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। अन्य देवता प्रजापति के स्तर पर ही हैं, क्योंकि वे सब-के-सब यज्ञकर्म के प्रबल नियमों के अधीन हैं। अतः वे स्वय प्रजापति को दड देने में असमर्थ हैं। परन्तु रुद्र पर ऐसा कोई बन्धन नहीं है, और इसी कारण, वही प्रजापति के दड का विधान करते हैं। यह बात जैमिनीय ब्राह्मण में और भी स्पष्ट हो जाती है, जहाँ इसी कथा का रूपान्तर दिया गया है।[3] यहाँ यह कहा गया है कि देवताओं ने प्राणिमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की। रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ, और जिसके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया। इस बात के सकेत भी हमें मिलते हैं कि कुछ लोग तो ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में ही रुद्र को इस प्रकार मानने लगे थे, क्योंकि जब प्रजापति को दड दे चुकने पर देवताओं ने रुद्र को पारितोषिक के रूप में कुछ देना चाहा, तब रुद्र ने विश्व की प्रत्येक वस्तु को अपना बताया। 'नाभानेदिष्ठ' की कथा मे भी रुद्र ने इसी प्रकार अपना अधिकार जताया है, और नाभानेदिष्ठ के पिता ने भी इसका समर्थन किया है।[4]

रुद्र की उपासना ने ब्राह्मणों के कर्मकाड को जब इस प्रकार चुनौती दी, तब शायद ब्राह्मण पुरोहितों ने रुद्र को सामान्य देवमडल के अन्तर्गत करने और इस तरह यथासभव रुद्र की उपासना को पुरातन वैदिक उपासना के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। उन्होने इसके दो ढग निकाले। पहले तो उन्होने रुद्र और अग्नि के पुराने तादात्म्य पर जोर दिया। इसका सकेत हमे यजुर्वेद मे ही मिल जाता है, जहाँ अग्नि-द्वारा देवताओं की सपत्ति का अपहरण किये जाने की कथा मे रुद्र और अग्नि का तादात्म्य किया गया है,[5] तथा सोमारौद्र चरु दोनों को एक ही माना गया है, और उनके नाम साधारण रूप से एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त किये जाते हैं।[6] ब्राह्मण ग्रन्थों मे रुद्र का नियमपूर्वक 'अग्निस्विष्टिकृत' से तादात्म्य

१ कौषीतकी २३,३।
२ ऐतरेय ३,१३,९।
३ जैमिनीय ३,२६१,६३।
४ ऐतरेय ५,२२,९।
५ यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) १,५,१।
६ ,, ,, ,, २,२,१०।

किया गया है।[1] दूसरे, ब्राह्मणों ने रुद्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ रचीं, जिनमें रुद्र का अन्य देवताओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की और उनके कर्मकाड-विरोधी स्वरूप को ढँकने की चेष्टा की गई है। इसी तरह 'कौशीतकी ब्राह्मण' में रुद्र का जन्म अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमस् के बीज से बताया गया, जो स्वय प्रजापति द्वारा उत्पन्न किये गये थे।[2] 'शतपथ ब्राह्मण' में रुद्र को सवत्सर और ऊषा के मिलन से उत्पन्न बताया गया है।[3] 'जैमिनीय ब्राह्मण' में एक स्थल पर कहा गया है कि यज्ञ में जाते समय देवताओं ने अपने क्रूर अंशों को अलग कर दिया, और इन क्रूर अंशों से ही रुद्र की उत्पत्ति हुई।[4] रुद्र की विविध उपाधियाँ अब उनके अनेक नाम माने जाते हैं, जो रुद्र के जन्म पर प्रजापति ने उन्हें दिये थे। इनमें एक नाम है 'अशनि', जिसका कौशीतकी ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है और जो रुद्र के प्राचीन विद्युत् स्वरूप की ओर सकेत करता है। इन कथाओं में रुद्र का 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' भी कहा गया है। ऋग्वेद में ये विशेषण पुरुष के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। रुद्र के उत्कर्ष का यह एक और सकेत है।

प्राचीन वैदिक साहित्य का निरीक्षण समाप्त हुआ। अब उत्तर वैदिक साहित्य का निरीक्षण करने से पहले, हमें अपनी खोज का एक अन्य सूत्र पकड़ना है। अतः यह अच्छा होगा कि हम संक्षेप में यह देखें कि अब तक की हमारी छान-बीन का क्या निष्कर्ष निकलता है।

हमने देखा कि अन्य प्राचीन वैदिक देवताओं की तरह रुद्र की कल्पना भी प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण से की गई थी। वे घने मेघों में चमकती हुई विद्युत् के प्रतीक थे। विद्युत् के प्रतीक होने के कारण रुद्र और अग्नि का तादात्म्य भी धीरे-धीरे व्यक्त हो गया। रुद्र के बाणों से पशुओं और मनुष्यों के विनाश का भय था। इसी से उनकी रक्षा के लिए रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती थी और इस प्रकार कालान्तर में उनको स्वयं पशुओं का संरक्षक अथवा स्वामी माना जाने लगा। रुद्र के द्वारा जो कल्याणकारी वर्षा होती थी, उसके कारण रुद्र का सम्बन्ध उर्वरता और पेड़-पौधों से हो गया और उनको 'भिषक्' की उपाधि दी गई। उर्वरता और पेड़-पौधों का देवता होने के नाते रुद्र के अधिकतर उपासक वे लोग थे, जो खेती करते थे अथवा पशु पालते थे। उच्चवर्ग के लोगों में, जिनके मनोनीत देवता पराक्रमी इन्द्र और हविर्वाहक अग्नि थे, रुद्र के उपासक कम ही थे। अतः प्रधान रूप से रुद्र एक लोकप्रिय देवता थे, और इसी कारण ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उनका स्थान अधिक प्रमुख है। अथर्ववेद के एक मन्त्र के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कभी-कभी रुद्र को नरबलि भी दी जाती थी। परन्तु वैदिक आर्यों में यह प्रथा अधिक समय तक न ठहर सकी।

---

१. कौशीतकी : ३,६ इत्यादि।

२. ,, : ६,१।

३. शतपथ . ६,१,३।

४ जैमिनीय : ३,२६१,२६३।

जब वैदिक आर्यों ने भारतवर्ष में अपने प्रभुत्व को विस्तार करना शुरू किया, तब धीरे-धीरे रुद्र ने अन्य उर्वरता-सम्बन्धी उन देवताओ को—जिनका स्वरूप रुद्र से कुछ मिलता-जुलता था और जिनकी उपासना आर्यों के प्रभाव क्षेत्र में आनेवाला विभिन्न आर्येतर जातियों में होती थी—आत्मसात् कर लिया। इनमें से एक देवता के साथ एक स्त्री देवता भी थी, जिसका उल्लेख यजुर्वेद में रुद्र की भगिनी के रूप में किया गया है। उसका नाम है—अम्बिका, जिसका अर्थ है 'माता'। अन्य देवताओं को इस प्रकार आत्मसात् कर लेने के कारण रुद्र के उपासको की सख्या बहुत बढ गई, और फलस्वरूप रुद्र का महत्त्व भी बढ गया। इसके साथ-साथ रुद्र ने इन देवताओ के कुछ ऐसे गुणो और कर्मों को भी अपना लिया और उनके साथ कुछ ऐसी रीतियाँ और विधियाँ भी रुद्र की उपासना में प्रविष्ट हो गई जिनको आर्यों के पुरातनवादी वर्ग पसन्द नहीं करते थे। इससे रुद्र आर्यों के प्रधान देव-मडल से और भी दूर हट गये। परन्तु जब ब्राह्मणो ने वैदिक कर्मकाड को बढाया, तब इसी दूरी के कारण रुद्र की वह दशा नहीं हुई जो अन्य देवताओ की हुई। जब अन्य देवताओ के पुराने व्यक्तित्व की केवल स्मृति शेप रह गई, तब भी रुद्र एक सजीव और शक्तिशाली देवता बने रहे। धीरे-धीरे रुद्र की उपासना आर्यों के प्रगतिशील विचारको में भी फैली, जिन्होने कर्मकाड को अस्वीकार कर दिया था। रुद्र के पदोत्कर्ष का शायद यह सबसे बडा कारण था, और ब्राह्मण ग्रन्थो के समय तक रुद्र को एक महान् देवता माना जाने लगा था, जो अन्य देवताओं से बहुत ऊपर थे। कुछलोग तो इन्हें परम परमेश्वर भी मानने लगे थे।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थो के समय तक, रुद्र आर्य-धर्म के एक प्रधान देवता बन गये थे। पौराणिक शिव के स्वरूप और उपासना के बहुत-से प्रमुख अश, वैदिक रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना से ही लिये गये हैं। स्वय 'शिव' यह नाम भी वैदिक रुद्र की प्रशसा-सूचक उपाधि है, जो सबसे पहले यजुर्वेद में पाई जाती है। शिव के दूसरे नामो की उत्पत्ति कैसे हुई, यह भी हम ऊपर देख आये हैं। शिव के तीन नेत्रो की कल्पना, रुद्र की उपाधि 'त्र्यम्बक' के अर्थ के विषय मे भ्रम हो जाने से हुई, और 'नीलशिखड' जैसी उपाधि में हमें शिव के हलाहलपान की पौराणिक कथा का बीज मिलता है। यह उपाधि यजुर्वेद में 'नीलग्रीव' में परिणत हो गई। 'कपर्दिन्' और 'केशिन्' प्रभृति वैदिक रुद्र की उपाधियो के कारण पौराणिक शिव के जटाधारी स्वरूप की कल्पना हुई। केशियो और मुनियो के साथ वैदिक रुद्र के पुराने साहचर्य के फलस्वरूप पौराणिक शिव के योगाभ्यास के साथ सम्बन्ध और उनके महायोगी स्वरूप की उत्पत्ति हुई। वैदिक रुद्र का आवास उत्तरी पर्वतों में मान लेने से ही अपरकाल में शिवधाम कैलास की देवकथा बनी। यजुर्वेद के शतरुद्रिय स्तोत्र में रुद्र के धनुष को 'पिनाक' कहा गया है और बाद मे शिव के धनुष का यही नाम पड़ गया। वैदिक रुद्र की उपाधि 'कृत्तिवासा' के कारण ही पौराणिक शिव को भी 'कृत्तिधारी' माना गया। अन्त में हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार रुद्र की उपासना मे विभिन्न बाह्य अशों का समावेश हुआ। इनसे पौराणिक शैव-धर्म का वह स्वरूप बना, जिसके अन्तर्गत इतने विविध प्रकार के विधान और रीति-रिवाज आ गये, जितने शायद किसी धर्म में नहीं आये।

परन्तु पौराणिक शैव धर्म के कुछ ऐसे भी प्रमुख अंश हैं, जिनको हम इस प्रकार प्राचीन वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पाते और इस कारण जिनका उद्भव हमें कहीं और खोजना पड़ेगा। इनमें सबसे पहले 'लिंग-पूजा' है, जो अपर वैदिक काल में शिवोपासना का सबसे प्रमुख रूप बन गई। ऊपर के निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में कोई ऐसा संकेत नहीं है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि रुद्र की, किसी समय भी इस रूप में, पूजा होती थी। न हमें कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है कि किसी वैदिक विधि में लिंग के प्रतीकों की पूजा होती थी। यह ठीक है कि जननेन्द्रियों की बहुधा चर्चा हुई है और अनेक रूपक और लक्षणवाक्य सभोग कर्म के आधार पर बाँधे गये हैं, जो सम्भवतः कुछ उर्वरता सम्बन्धी संस्कारों के अंग भी थे। उदाहरणतः अश्वमेध यज्ञ की वह विधि, जहाँ यजमान की प्रधान पत्नी को बलि दिये हुए अश्व के साथ सहवास करना पड़ता था। परन्तु किसी बात से यह पता नही चलता कि लिंग के प्रतीकों की कभी उपासना होती थी या उनका सत्कार किया जाता था अथवा उनका कोई धार्मिक या चमत्कार-सम्बन्धी महत्त्व दिया जाता था। इससे डा० लक्ष्मण स्वरूप के उन तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनसे उन्होंने हाल के एक लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ का जो वर्णन दिया गया है, उससे लिंग-पूजा का अस्तित्व सिद्ध होता है[1]। अतः जब अपर वैदिक काल में हम देखते हैं कि शिव की उपासना का लिंग-पूजा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, तब हमें यह मानना ही पड़ता है कि यह सम्बन्ध किसी बाह्य प्रभाव का फल है, जिसका स्रोत हमें खोजना है।

अपर वैदिक शैव धर्म का दूसरा बड़ा स्वरूप—शक्ति-पूजा है। हम देख चुके हैं कि यजुर्वेद में रुद्र के साथ एक स्त्री-देवता का भी उल्लेख हुआ है, जो उसकी बहन बताई गई है। परन्तु उसका स्थान नगण्य है और उस एक सदर्भ को छोड़कर, जहाँ उसका उल्लेख हुआ है, समस्त वैदिक साहित्य में उसका और कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत अपर वैदिक काल में 'शक्ति' प्रथम श्रेणी का देवता है, जो महामाता मानी जाती थी। उसकी उपासना स्वतन्त्र रूप से होती थी और उसका पद शिव के बिलकुल बराबर था। शक्ति के स्वरूप और उसकी उपासना का, केवल यह मानने से संतोष-जनक समाधान नहीं हो सकता है कि यह उपासना अम्बिका अथवा किसी और वैदिक स्त्री-देवता की उपासना का विकास मात्र है। अतः यहाँ फिर हमें कोई वैदिकेतर स्रोत खोजना पड़ेगा जिसको हम शक्ति की उपासना का उद्भव मान सकें।

तीसरा स्वरूप है—स्थायी उपासना-भवनों का निर्माण और उनमें मूर्त्तियों की स्थापना करना, जो अपर वैदिक काल में भारत के तमाम मतों की उपासना का सामान्य रूप बन गया था, वैदिक उपासना के बिलकुल प्रतिकूल है। वैदिक आर्यों ने बड़ी-बड़ी यज्ञ-वेदियों और कुछ अस्थायी मडपों से अधिक कभी कुछ नहीं बनाया। इन दोनों में से किसी को भी स्थायी बनाने का कोई उद्देश्य नहीं होता था। जहाँ तक मूर्त्तियों का प्रश्न है, हमारे पास इस बात का कोई

१ लक्ष्मणस्वरूप—ऋग्वेद एण्ड मोहनजोदडो इण्डियन कल्चर, अक्टूबर, १९३७ ई०।

प्रमाण नहीं है कि आर्यों ने कभी देव-मूर्त्तियाँ बनाई, यद्यपि देवताओं की कल्पना वह पुरुष-विध ही करते थे। अत मन्दिरों में उपासना की प्रथा भी, सभवत विदेशों से ही भारत मे आई। यहाँ मैं एक आपत्ति का पहले सेही निराकरण कर देना चहता हूँ। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि भारत में मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनाने की प्रथा किसी विदेशी प्रभाव के अधीन शुरू हुई, परन्तु इससे मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि मन्दिरों और मूर्त्तियों के आकार भी विदेशी थे। एक बार इस विचार के उत्पन्न हो जाने के बाद बहुत सभव है कि इनकी रूप रेखा धीरे-धीरे वैदिक काल के स्थायी मडपों से ही विकसित हुई हो। परन्तु यह विचार आया कहाँ से? आर्यों के मस्तिष्क में यह स्वत उत्पन्न हुआ हो, ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि समस्त वैदिक धर्म में मन्दिरों की पूजा-विधि का कोई स्थान नहीं है, और न उपनिषदों की धार्मिक विचार-धारा को उपासना के स्थायी भवनों की अपेक्षा थी। सच तो यह है कि भारतवर्ष में तो सदा से ही, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोच्च रूप उसीका माना गया है, जिसमें मन्दिरों और मूर्त्तियाँ जैसे बाह्य साधनों की आवश्यकता ही न पड़े। अत जब हम देखते हैं कि अपर वैदिक धर्म में मन्दिरों और मूर्त्तियों—दोनों का बडा महत्त्व है तब हमें यह मानना पडता है कि महान परिवर्तन वैदिक धार्मिक विचार-धारा और उपासना विधि का स्वाभाविक विकासमात्र नहीं है, अपितु किसी प्रबल बाह्य प्रभाव का परिणाम है

पौराणिक शैव धर्म के उपर्युक्त प्रमुख अशों के अतिरिक्त, अनेक अप्रमुख अश भी ऐसे हैं जिनका स्रोत भी इस प्रकार हम वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पा सकते। इस कारण उनका उद्भव कहीं और ढूँढना पडता है। इन सब बातों से यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी खोज का दूसरा सूत्र पकडे और यह पता लगावें कि यह कौन-सा बाह्य प्रभाव था, जिससे वैदिक रुद्र की उपासना में मौलिक परिवर्तन हुआ और उपरिलिखित सारी विशेषताएँ जिस धर्म में थीं, उस अपर वैदिक शैवधर्म का विकास हुआ।

द्वितीय अध्याय

पिछले कुछ वर्षों से भारतवर्ष मे और आस-पास के प्रदेशो मे जो पुरातात्त्विक खोजें हुई हैं, उनसे एक वात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता का विकास विलकुल अलग-अलग रहकर किया, वह ठीक नहीं है। तथ्य यह है कि प्रारम्भ से ही आर्य जाति का, भारत का और अन्य देशो की दूसरी सभ्य जातियो के साथ, सक्रिय सम्पर्क रहा। सिन्धु-घाटी मे जो कुछ पाया गया है, वह तो विशेष रूप से वडे महत्त्व का है, क्योंकि उससे भारत के आर्यपूर्व युग के इतिहास पर प्रकाश पडता ही है। इसके साथ-साथ वह एक ऐसी खोई हुई कड़ी हमें मिलती है, जो भारतीय सभ्यता को पश्चिम एशिया की सभ्यताओ से मिला देती है और हमे वताती है कि किस प्रकार अनेक प्रकार के जातीय और सांस्कृतिक अंशो के सम्मिश्रण से और विभिन्न जातियो की विविधमुखी प्रतिभा के मेल से भारतीय सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची। सवसे वढकर महत्त्व की वात तो यह है कि सिन्धु-घाटी की खोजों से हमे अनेक अप्रत्याशित सुराग मिले हैं जो भारतीय धर्म और संस्कृति के वहुत-से ऐसे पहलुओ को समझने मे सहायक हुए हैं, जिनका समाधान अभी तक भारतीय सभ्यता का अध्ययन करनेवाले नहीं कर सके थे। शैव-धर्म के इतिहास के लिए तो इन खोजो का अपार महत्त्व है। इनसे शैव मत के उन्हीं रूपो का समुचित समाधान हो जाता है, जिनका उद्भव हम वैदिक धर्म मे नहीं पा सकते—और जिनको अभी तक संतोषजनक ढंग से समझाया नहीं जा सका था।

सर्वप्रथम हम शैव मत के सवसे प्रमुख रूप 'लिंगपूजा' को लेते हैं। यह तो निश्चित है कि जिस लिंग रूप मे भगवान् शिव की उपासना सवसे अधिक होती है, वह प्रारम्भ मे जननेन्द्रिय सम्वन्धी था। यह ठीक है कि कुछ विद्वान् ऐसा नहीं मानते और उन्होंने 'लिंग' को अन्य प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है[1]। उनके समस्त तर्कों का आधार यही है कि अपर काल मे 'लिंग' का जननेन्द्रिय से कोई सम्वन्ध नहीं था और वैदिक-धर्म मे भी जननेन्द्रियो की उपासना का विलकुल कोई संकेत नहीं मिलता। परन्तु यह सव तर्क उन अकाट्य प्रमाणों के आगे अमान्य हो जाते हैं, जो निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रारम्भ में 'लिंग' जननेन्द्रिय-सम्वन्धी था। कुछ अतिप्राचीन और यथार्थरूपी वड़ी लिंगमूर्त्तियाँ तो हमें मिलती ही हैं[2]। इसके अतिरिक्त महाभारत में वड़े स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि लिंगमूर्त्ति में भगवान् शिव की जननेन्द्रिय की ही उपासना होती थी। इसी कारण शिव को अद्वितीय और अन्य देवताओं से पृथक् माना है, जिनकी जननेन्द्रियों की इस प्रकार उपासना नहीं की जाती थी[3]। प्राचीन पुराणों में भी लिंगमूर्त्ति

१ श्री सी० वी० अय्यर ओरिजिन एन्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया।

२ यथा गुडीमल्लम् की लिंगमूर्त्ति।

३. इस पुस्तक का चौथा अध्याय देखिए।

को जननेन्द्रिय-सम्बन्धी माना गया है, और उसकी उपासना का कारण बताने के लिए अनेक कथाएँ रची गई हैं[1]। अत यह मानना ही पड़ेगा कि जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना चाहे वैदिक धर्म में बिलकुल न रही हो, कालान्तर में तो उसका भारतीय धर्म मे समावेश हो ही गया और वह रुद्र की उपासना के साथ सम्बन्धित हो गई। हमारे सामने अब प्रश्न यह है कि यह कब और कैसे हुआ ?

जननेन्द्रियों की उपासना का प्राचीन सभ्य ससार में बहुत प्रचार था। आदि मानव के मस्तिष्क पर समस्त पार्थिव जीवन की आधारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त आदि मानव के अप्रौढ विवेक ने मैथुन कर्म और पशुओं तथा धान्य की उर्वरता के बीच एक कारणकार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया[2]। इसीसे लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका एक रूप जननेन्द्रियों की उपासना है। चूँकि प्राचीन समाज के प्राय सभी धर्मों का विकास अतिप्राचीन उर्वरता-सम्बन्धी विधियों से हुआ और उर्वरता-सम्बन्धी विविध देवता ही उनके उपास्य बने, अतः लिंगोपासना उन सबका एक प्रमुख अग बन गई। इस प्रकार जब प्रजनन-प्रक्रिया को धार्मिक सम्मान मिला, तब यह स्वाभाविक ही था कि जिन इन्द्रियों द्वारा यह प्रक्रिया सपन्न होती है, उनमें भी एक रहस्यमयी शक्ति का अस्तित्व माना जाय। इसी कारण उनकी भी उपासना होने लगी और प्राय सभी देशो मे जहाँ उर्वरता-सम्बन्धी धर्मों का प्रचार था, लिंग और योनि की किसी-न-किसी रूप मे प्रतिष्ठा होने लगी। एक ओर मिस्र मे उनकी उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथार्थरूपी लिंगो के खुले आम और बडे समारोह से जलूस निकाले जाते थे, और यन्त्रों द्वारा उनको गति भी दी जाती थी[3]। दूसरी ओर जापान में भी वे पूजे जाते थे और साधारणतया लिंग-मूर्तियाँ अलग कर ली जाती थीं तथा पूजा के लिए सड़कों के किनारे उनको स्थापित कर दिया जाता था[4]। परन्तु लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र था—पश्चिम एशिया, जहाँ बेबीलोन और असीरियन लोगों की महान् सभ्यताओं की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फूली-फली। इस प्रदेश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, किसी-न-किसी देवता की उपासना के सम्बन्ध मे लिंग-प्रतीकों की पूजा होती थी। यदि हम उत्तर मे चले तो सबसे पहले थ्रेस देश के उस देवता का परिचय मिलता है, जिसकी उपासना का प्रचार पश्चिम एशिया मे सभवत उस समय हुआ जब फिर्गियन (Phrygian) जाति यहाँ आकर बसी, और बाद मे जो देवता ग्रीस मे भी 'डायोनीसस' (Dionysus) के नाम से पूजा जाने लगा। डायोनीसस उर्वरता-सम्बन्धी देवता था—उस उर्वरा पृथ्वी का देवता, जिसकी गरमाहट और रसों से विशेषकर जीवन का सचार होता है[5]। उनकी प्रजनन-शक्ति के प्रतीक के रूप मे लिंगमूर्ति की उपासना होती थी और

१ इसका पाँचवाँ अध्याय देखिए।
२ हिर्श ग्राउवर्ड सेक्स वरशिप।
३ हेरोडोटस २, ४८।
४ E R E IX पृ० ८१६।
५ फारनेल कल्ट्स आफ दि ग्रीक स्टेट्स।

ग्रीक लोगों ने यह लिंगमूर्ति भी, इस देवता के समस्त उपासना के साथ, पश्चिम एशिया से ही ली। असीरिया में 'अशेरह' की उपासना होती थी। यह देवता 'बाअल' (Baal) और देवी 'अश्तोरेथ' (Ashtoreth) के सयोग का प्रतीक था। इसका रूप बिलकुल स्त्री-योनि सा था[१]। इस प्रतीक के नमूने 'बेबीलोन' और 'निनवेह' मे भी मिले हैं, जिससे यह पता चलता है कि इसकी उपासना एक बहुत बडे प्रदेश मे होती थी। कुछ और दक्षिण की ओर आते हुए हम देखते हैं कि बेबीलोन की देवी 'इश्तर' (Ishtar) और उसके पति देवता की उपासना मे भी लिंगोपासना के इसी प्रकार के चिह्न मिलते हैं। 'इश्तर' की एक स्तुति मे दो योनि-मूर्त्तियो के उपहार का उल्लेख किया गया है। इनको 'सल्ला' कहा गया है। इनमें एक नीलम की और दूसरी सोने की मूर्त्ति थी। इन्हे देवी का महान् प्रसाद माना जाता था[२]। लिंगपूजा समेत 'इश्तर' की इस उपासना का प्रचार दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में अरब तथा ईरान मे भी फैला हुआ था। यह ग्रीक इतिहासकार हेरोडाटेस की बातो से प्रमाणित होता है। उसके कथनानुसार अरब लोग इस देवी को 'अलिलत्' और ईरानी इसको 'मित्रा' कहते थे। इस दूसरे नाम से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ईरान में इस देवी को (सम्भवतः) प्राचीन ईरानी देवता 'मित्र' की पत्नी माना जाने लगा था, और इस प्रकार इस देवी की उपासना का प्राचीन ईरानी धर्म के साथ सम्मिश्रण हो गया था।

अब सिन्धु-घाटी की सभ्यता के जो अवशेष हमें 'मोहेंजोदडो' और अन्य स्थानो पर मिले हैं, उनसे वहाँ के लोगों के धर्म के बारे से जो कुछ हम जान सके हैं, उससे यह पता चलता है कि यहाँ भी इसी प्रकार की एक देवी की उपासना का प्रचार था। जिन-जिन स्थानो पर खुदाई की गई है, वहाँ हर जगह आँवे में पकाई हुई मिट्टी की छोटी-छोटी स्त्री-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो सम्भवतः इसी देवी की मूर्त्तियाँ हैं। ये निजी पूजा के लिए बनाई गई थी। फिर जिस प्रकार पश्चिम एशिया में इस देवी के साथ एक पुरुप देवता का भी सम्बन्ध था, उसी प्रकार यहाँ भी एक पुरुप देवता था जिसके चित्र कतिपय मिट्टी की चौकोर टिकियो पर पाये गये हैं। इसके अतिरिक्त इन्ही स्थानों पर अनेक पत्थर के लिंग-प्रतीक भी मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में भी लिंगोपासना का प्रचार था। इन प्रतीको के जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होने में कोई सदेह नहीं है, क्योंकि उनमे कुछ तो बड़े यथार्थरूपी हैं, यद्यपि अधिकाश का रूप रूढिगत हो गया है। इन्हीं स्थानों पर अनेक पत्थर के छल्ले भी मिले हैं, सभवतः 'लिंगयोनि' के जुड़वा प्रतीको में योनि का काम देते थे। पश्चिम एशिया की भाँति यहाँ भी इस लिंगोपासना का सम्बन्ध देवी और उसके सहचर पुरुप देवता की उपासना के साथ था। इसमे सदेह की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती, यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें तबतक नहीं मिल सकता जबतक कि सिन्धुघाटी मे जो लेख मिले हैं, वे पढ़े नहीं जाते। फिर भी यह स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी और पश्चिम एशिया की देवी की उपासना एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती थी। वैसे तो इस समानता से ही इन दोनो प्रदेशों की सभ्यताओं के

१. क्लिफर्ड हाउवर्ड . सेक्स वरशिप।
२. P. S. B. A. . ३१, ६३ और E. R. E. VII . पृ० ४३३।

परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है, पर इसके लिए हमारे पास और भी प्रमाण हैं, जिनसे यह सम्बन्ध निश्चित-सा हो जाता है। देवी की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ जैसी सिन्धु-घाटी में मिली हैं, वैसी ही ईजियन समुद्र के तट पर पश्चिम एशिया में भी मिलती हैं। इसी प्रदेश में लिंग-प्रतीक भी मिलते हैं, यह हम ऊपर बता ही चुके हैं। फिर जब इसके अतिरिक्त, हम यह भी देखते हैं कि 'मेसोपोटेमिया' की खुदाइयों में भारतवर्ष के बने गण्डे, तावीज, मिट्टी के बरतन, देवदार के शहतीर आदि अन्य पदार्थ मिले हैं तथा सिन्धुघाटी की खुदाइयों में 'मेसोपोटेमिया' की बनी, बरमे से छिदी, मिट्टी की एक टिकिया और अन्य वस्तुएँ पाई गई हैं तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और पश्चिम एशिया की सभ्यता यदि एक ही नहीं थी तो उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य था।

भारतवर्ष और पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के बीच इस घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रमाण सर 'आरेल स्टाइन' की खोजों से मिला है। ये खोजें अभी हाल ही में वजीरिस्तान और उसके आस पास के प्रदेशों में हुई हैं। अपनी अनेक खोज-यात्राओं में उन्होंने बहुत-सी प्राचीन बस्तियों को ढूँढ निकाला है, जिनके भारत और मेसोपोटेमिया के बीच स्थित होने से, और वहाँ जिस प्रकार की वस्तुएँ मिली हैं, उनसे इन दोनों प्रदेशों की सभ्यताओं के परस्पर सम्बन्ध के बारे में रहा-सहा सदेह भी लगभग मिट ही जाता है। सर आरेल स्टाइन को वजीरिस्तान में विभिन्न स्थलों पर देवी की पकी मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ मिलीं,[1] जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रदेश में भी देवी की उपासना होती थी, अतः इस प्रदेश का और सिन्धु घाटी का धर्म एक सा ही था। इस प्रदेश की वृषभ मूर्त्तियाँ, माला के दाने, मिट्टी के बरतन प्रभृति वस्तुएँ भी सिन्धु-घाटी की वस्तुओं के सदृश ही हैं। 'मुगुल कुडाई' पर एक मिट्टी के बरतन का टुकड़ा मिला है। उस पर कुछ लिखाई भी है, जो सिन्धुघाटी की टिकियों पर की लिखाई से मिलती जुलती है[2]। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रदेश सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र के अन्दर था। इसके साथ-साथ, इस प्रदेश के लगभग सब स्थलों पर मिट्टी के बरतनों के टुकड़े प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिन पर चित्रकारी की गई थी। इस चित्रकारी के मुख्य प्रकार सुमेर युग से पहले की 'मेसोपोटेमिया' की चित्रकारी मुख्य प्रकारों से बहुत मिलते हैं। इससे इन प्रदेशों का पश्चिम एशिया से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, और भारत तथा पश्चिम एशिया को मिलानेवाली शृंखला पूरी हो जाती है।

सिन्धुघाटी और पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर यह मानना कठिन है कि सिन्धु-घाटी में लिंगोपासना की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से हुई। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि देवी की उपासना के साथ-साथ यह भी पश्चिम एशिया से आगम से आई। यहाँ भी सर 'आरेल स्टाइन' की खोजों से हमें इस तथ्य का अन्तिम प्रमाण

---

१ वही इंडस सिविलिज़ेशन।

२ सर ए० स्टाइन मेमुआर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया नं० ३७।

३ सर ए० स्टाइन मेमुआर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया नं० ३७, पृ० ८०,
[illegible]

मिला है, क्योंकि यदि हम यह मान ले कि लिंगोपासना भारत मे पश्चिम से आई, तो इसके कुछ चिह्न हमे रास्ते मे कहीं मिलने चाहिए। ऐसे चिह्न हमे वजीरिस्तान के दो स्थलो पर मिलते हैं। पेरियानो घुडई मे सर आरेल स्टाइन को एक पदार्थ मिला, जिसे वह उस समय पहचान न सके[1], परन्तु जिसको अब स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है कि वह एक 'योनि' का ही प्रतीक है। सर जान मार्शल ने उसे यही बताया भी है। 'मुगुल घुडई' पर एक और पदार्थ मिला, जो एक बड़ा यथार्थ 'लिंग' का प्रतीक है[2]। ऐसे ही प्रतीको के अन्य नमूने भी भविष्य मे शायद इस प्रदेश मे मिले[3]। अत हम यह मान सकते हैं कि इस प्रदेश मे लिंगोपासना का प्रचार था या कम-से-कम लोग उससे परिचित अवश्य थे।

यहां यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मिट्टी के केवल दो टुकडो के आधार पर हम कोई लम्बे-चौडे निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। परन्तु ऊपर हमने पहले ही इन प्रदेशो में देवी की उपासना के प्रचार के प्रमाण उपस्थित कर दिये हैं। लिंगोपासना चूँकि इस देवी के उपासना के साथ जुडी हुई थी, अतः सम्भावना यही है कि यहाँ उसका भी प्रचार था और ये मिले दो पदार्थ भी इस सम्भावना को पुष्ट करते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दो पदार्थों से ही इस प्रदेश की उपलभ्य सामग्री का अन्त नहीं हो जाता। भारतवर्ष और ईरान के बीच के प्रदेश मे, जिसमे सर 'आरेल स्टाइन' ने पहले-पहल खोज-यात्राएँ की हैं, अभी पुरातात्त्विक खोज बहुत कम हुई है, किन्तु भविष्य मे हमे अधिक सामग्री मिलने की सभावना है। हाँ, इस भूभाग से जरा और पश्चिम, स्वय ईरान में, इस प्रकार की सामग्री मिलने की सभावना कुछ कम है, क्योकि यहाँ अपरकालीन सभ्यताओ ने पूर्ववर्ती सभ्यताओ के सब चिह्न पूर्ण रूप से मिटा दिये हैं। कुछ तो पुराने स्थलो पर नई इमारते खडी कर दी गई हैं, और कुछ पुराने स्थलो मे पत्थर निकाल-निकाल कर नई इमारतो मे लगा दिये गये। परन्तु यदि हेरोडोटस का विश्वास किया जाय, तो एक समय इस देवी की उपासना ईरान मे भी होती थी[4]। कुछ भी हो वजीरिस्तान की खोजों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेसोपोटेमिया की सस्कृति का प्रभाव पूर्व की ओर फैला और भारत तक पहुँचा। अत ईरान पर भी निश्चित ही यह प्रभाव पड़ा होगा।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसी के आधार पर हमारा यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि सिन्धु-घाटी की लिंगोपासना उस लिंगोपासना का एक अगमात्र था, जो समस्त पश्चिम एशिया मे फैली हुई थी। अब यह विचार करना है कि इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना मे समावेश कैसे हुआ? इसके लिए हमे पहले तो यह देखना है कि सिन्धु-

---

१ सर ए स्टाइन मेमुआर आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इडिया न० ३७, पृ० ३८, प्लेट ६।

२ ,, ,, ,, न० ३७, पृ० ४५, प्लेट १०।

३ 'मुगुल घुडई' में एक तश्तरी की तरह का एक पदार्थ मिला है, जो अपरकालीन शिवलिंगों की चौकी के समान है।

४ हेरोडोटस, १, १३१।

घाटी के लोगों और वैदिक आर्यों में परस्पर कैसे सम्बन्ध थे? यह निश्चित है कि वैदिक आर्यों के पंजाब में बसने से पहले सिन्धु घाटी के लोग निचली सिन्धु-घाटी में बसते थे और सम्भवत उसके परे पूर्व और उत्तर की ओर काफी दूर तक फैले हुए थे। वैदिक आर्यों के पंजाब में आने का समय, जिस पर प्राय सब विद्वानों का एक मत है, २५०० वर्ष ईसा पूर्व है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता इससे काफी पुरानी थी, परन्तु मोहनजोदड़ो में जो एक 'सुमेरोबेबीलोनियन' मिट्टी की टिकिया मिली है, और जिसको श्री सी० एल० फैब्री ने २८००-२६०० ईसा पूर्व का बताया है, उससे सिद्ध होता है कि जिस समय वैदिक आर्य ऊपरी पंजाब में बस रहे थे, उस समय भी सिन्धु-घाटी के नगर आबाद और समृद्ध अवस्था में थे। अत. कुछ समय तक सबसे पहले वैदिक आर्य और सिन्धु-घाटी के लोग समकालीन रहे होंगे। पंजाब के मैदानों में बस जाने के तुरन्त पश्चात् ही वैदिक आर्यों ने दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था, अत यह हो नहीं सकता कि यह दोनों जातियाँ शत्रु के रूप में या किसी और तरह से एक दूसरे के सम्पर्क में न आई हों। स्वयं ऋग्वेद में ही इस सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेदीय सूक्तों में दासों, दस्युओं और आर्यों के अन्य अनेक शत्रुओं का उल्लेख हुआ है। इससे यह पता चलता है कि अपने इस नये आवास को उन्होंने सूना नहीं पाया, अपितु इसमें बहुत-सी जातियाँ पहले से ही आबाद थीं, जिन्होंने पग-पग पर इस भूमि पर अधिकार करने के लिए आर्यों का कड़ा विरोध किया। इन शत्रुओं के 'पुरों' और 'दुर्गों' का भी अनेक बार उल्लेख किया गया है जो पत्थर या लोहे के बने हुए थे[1]। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आर्यों के ये शत्रु, कुछ असभ्य और बर्बर लोग नहीं थे, जिनको आर्यों ने सहज में ही अपने मार्ग से हटा दिया। अपितु, वे सभ्य जातियाँ थीं, जिनके बड़े-बड़े नगर और किले थे, और वे संगठित रूप से रहती थीं। उनके साथ आर्यों को भयंकर युद्ध करने पड़े, इसके अनेक संकेत हमें मिलते हैं और इन्हीं युद्धों में विजय पाने के लिए आर्य लोग देवताओं से प्रार्थना करते थे। इससे हम सहज में ही अनुमान लगा सकते हैं कि इन शत्रुओं का युद्ध-कौशल और लड़ने की शक्ति आर्यों से कुछ कम नहीं थी। सच तो यह है कि यही वैदिक आर्य, जो इन शत्रुओं को तिरस्कार की भावना से दास और दस्यु कहते थे, अपनी सुविधा के अनुसार उनसे सामरिक मेल करने से भी नहीं झिझकते थे[2]। अब जब हमारे पास इस बात का स्वतन्त्र प्रमाण है कि जिन प्रदेशों में वैदिक आर्य लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, लगभग उसी प्रदेश में, उसी समय, एक सभ्य जाति का निवास था, तब इस बात की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है कि यही जाति, आर्यों का वह शत्रु थी या कम-से-कम उन शत्रुओं में से एक थी, जिनका उल्लेख ऋग्वेद के सूक्तों में हुआ है। इस तर्क के समर्थन में एक और प्रमाण भी है, जिससे वह पूर्णरूप से मान्य हो जाता है। वह तर्क है—ऋग्वेद में इन शत्रुओं की कुछ विशिष्टताओं का उल्लेख। जहाँ तक हमारा वर्तमान ज्ञान जाता है, ये विशिष्टताएँ केवल

---

[1] उदाहरणार्थ ऋग्वेद, ७, १८, ६।

[2] यथा विख्यात 'दशराज' युद्ध में।

सिन्धु-घाटी के लोगो मे ही पाई जाती थी। ऋग्वेद के दो विभिन्न स्थलो पर 'शिश्नदेवा.' अर्थात् शिश्न अथवा लिंग को देवता माननेवालो की चर्चा की गई है[1]। यह उपाधि सिन्धु-घाटी के लोगो के लिए बिलकुल ठीक बैठती है, जिनकी लिंगोपासना के सम्बन्ध में असदिग्ध प्रमाणो का विवरण हम अभी दे चुके हैं। अत. यह निश्चितप्राय है कि वैदिक आर्यों का सिन्धु-घाटी के निवासियो से परिचय था और बहुत सम्भव है कि इन दोनों का क्रियात्मक रूप से सम्पर्क हुआ। इन दोनो जातियो के सघर्ष का परिणाम हुआ आर्यों की विजय, और धीरे-धीरे अन्य देशो की तरह यहाँ भी पराजित अपने विजेताओ के साथ घुल-मिल गये, और उनका पृथक् व्यक्तित्व लुप्त हो गया। परन्तु यह सम्मिश्रण दो समान रूप से सभ्य जातियो का सम्मिश्रण था और जिनकी पराजय हुई थी, उनकी सभ्यता अपने विजेताओं की सभ्यता से कुछ आगे ही बढी हुई थी। अतः सम्मिश्रण की इस प्रक्रिया में दोना जातियाँ एक दूसरे से प्रभावित हुईं। सिन्धु-घाटी के लोगो का अपना अलग व्यक्तित्व लुप्त हो गया, परन्तु उन्होने वैदिक आर्यों की सस्कृति पर अपनी स्थायी छाप डाल दी। इन दोनो के सम्मिश्रण से जिस सभ्यता का अभ्युदय हुआ, उसकी जडे सिन्धु नदी की घाटी मे भी उतनी ही गहरी गई हुई थीं, जितनी कि सप्त सैन्धव में।

सिन्धु-घाटी के लोगों के वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण का सबसे पहला परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों के देवताओ ने सिन्धु-घाटी के देवताओ को आत्मसात् कर लिया। हमने ऊपर कहा है कि सिन्धु-घाटी मे देवी की उपासना के साथ एक पुरुष-देवता की उपासना भी होती थी, जिसको सम्भवत देवी का पति माना जाता था। देवी का पति होने के नाते उसका सम्बन्ध बहुत करके उर्वरता से रहा होगा, और इस प्रकार उसकी स्थिति कुछ ऐसी ही थी जैसी कि मिस्र मे आसिरिस (Osiris) की या बेबीलोनिया मे देवी 'इश्तर' के सहचर 'ताम्मुज' (Taammuz) की। सिन्धु घाटी में पाये एक शील-चित्र में, इस पुरुष-देवता के दोनो ओर एक व्याघ्र, एक हाथी, एक गैंडा और एक भैंसा दिखाया गया है, उसके सिंहासन के नीचे दो हिरण दिखाये गये हैं। इस प्रकार शायद उसको पशुपति माना जाता हो। इन दोनो ही रूपो में वह वैदिक रुद्र के समान था और सम्भव है कि इन दोनो में और कुछ भी सादृश्य रहा हो। अतः जब सिन्धु घाटी के लोगो का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे। यह प्रक्रिया कोई असाधारण प्रक्रिया नहीं थी , परन्तु इसके परिणाम अत्यन्त दूरव्यापी हुए।

सिन्धु-घाटी के लोग लिंगोपासक थे। ऊपर जिस शील-चित्र की चर्चा की गई है, उसमें पुरुष-देवता को 'ऊर्ध्वमेढ़्र' अवस्था में दिखाया गया है, यद्यपि लिंग को किसी प्रकार बढ़ा कर नहीं दिखाया गया है और न किसी अन्य प्रकार से उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी चित्र में इस देवता को त्रिमुख दिखाया गया है, अतः

---

१ ऋग्वेद ७, २१, ५९ २०, ६६, ३।

२ मार्शल : मोहजोदडो एड दि इडस सिविलिजेशन भाग १, पृ० ५२, प्लेट १२, न० १७।

सम्भव है कि पुरुष नर की मिली एक भग्नमूर्त्ति, जिसकी गर्दन की मोटाई को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसके भी तीन सिर रहे होंगे, इसी देवता की मूर्त्ति होगी। इस मूर्त्ति की जननेन्द्रिय ऐसी बनाई गई है कि उसको अलग किया जा सकता है। इन दोनों बातों से यह सम्भव हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में उर्वरता-सम्बन्धी विधियों में जिस लिंग की उपासना होती थी, वह इस देवता का लिंग था। अत जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। पहले-पहल तो यह बात जरा विचित्र-सी लगती है कि आर्यों ने जिस प्रथा को गर्हित समझा था, (उपर्युक्त दो ऋग्वेदीय मन्त्रों में 'शिश्नदेवा' का उल्लेख बड़े अपमान-सूचक ढंग से किया गया है) उसी को उन्होंने अपने एक देवता की उपासना का अंग बन जाने दिया। परन्तु, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, लिंगोपासना एक बड़ी प्राचीन प्रथा थी और दूर-दूर तक इसका प्रचार था। इसकी परम्परा इतनी प्रबल थी और जिन लोगों में इसका प्रचार था, उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि आर्य सम्भवत इसका पूर्णरूप से दमन नहीं कर सके। इसके साथ स्वयं आर्यों की अपनी उर्वरता-सम्बन्धी विधियाँ थीं और रुद्र भी उर्वरता के देवता थे। अत आर्यों के कुछ ऐसे वर्गों ने, विशेषत. उन वर्गों ने जिनमें ऐसी उर्वरता-सम्बन्धी विधियों का सर्वाधिक प्रचार था और जिनका सिन्धु-घाटी के लोगों से सबसे अधिक सम्पर्क हुआ। इस प्रथा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं समझी। आखिर इस प्रथा का एक ऐसी जाति में सम्मान था जो आर्यों से कम सभ्य नहीं थी, और फिर उर्वरता-सम्बन्धी होने के नाते वह वैदिक आर्यों के जनसाधारण के धार्मिक आचार विचार के सर्वथा प्रतिकूल नहीं थी। इस प्रकार लिंगोपासना का आर्यों में प्रचार हुआ।

आर्यों ने इस प्रकार लिंगोपासना को स्वीकार कर तो लिया, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वरूप को बिलकुल पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचार-धारा की पृष्ठ-भूमि न रहने के कारण और आर्य-धर्म के प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में आकर लिंगोपासना में कुछ-न-कुछ परिवर्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आर्यों ने उसके बाहरी आकार को तो बनाये रखा, तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गये, लिंग-मूर्त्तियों का आकार भी यहाँ तक रूढ़िगत हो गया कि उनका मूल रूप पहचाना नहीं जा सकता था, और अन्त में भगवान शिव का 'लिंग' एक प्रतीक मात्र होकर रह गया— उनके निर्गुण स्वरूप का केवल एक संकेत।

सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का दूसरा बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्य धर्म में एक देवी की उपासना का समावेश हो गया। हम ऊपर कह आये हैं कि सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता की उपासना देवी की उपासना के साथ सम्बन्धित थी। रुद्र का भी 'अम्बिका' नाम की एक स्त्री-देवता के साथ सम्बन्ध था। अत जब रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् किया, तब यह स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-घाटी की देवी का अम्बिका के साथ समीकरण हो जाय। वैदिक साहित्य में अम्बिका

रुद्र की भगिनी है, पत्नी नहीं। यह बात हमारे इस अनुमान में कोई कठिनाई उपस्थित नही करती, क्योकि देव-कथाओ के ऐसे सम्बन्ध शीघ्र ही वदल जाते हैं। इस प्रकार सिन्धु घाटी की यह देवी रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी। इन दोनो स्त्री देवताओ के समीकरण में सबसे बड़ी सुविधा यह हुई कि 'अम्बिका' शब्द का अर्थ है 'माता' और सिन्धु-घाटी की देवी को भी माता ही माना जाता था तथा दोना का सम्बन्ध उर्वरता से था। नामों या उपाधियो के साम्य से देवताओ के समीकरण का एक और दृष्टान्त असीरिया की 'इश्तर' देवी है। उसकी एक साधारण उपाधि थी 'वेलिट' अर्थात् स्वामिनी। उसको निरन्तर 'रण की वेलित' अथवा इस या उस वस्तु की 'वेलित' कहा जाता था। परन्तु यही नाम वेवीलोन के देवता 'वेल' की पत्नी का भी था। यद्यपि वेवीलोन के शिला-लेखों में 'इश्तर' का 'वेल' के साथ कहीं भी उल्लेख नहीं है, फिर भी उसकी उपाधि का, 'वेल' की पत्नी के नाम के साथ, सादृश्य होने के कारण, इन दोनो स्त्री देवताओ के सम्बन्ध में धीरे-धीरे भ्रम होने लगा और 'अशूरवनीपाल' के समय तक दोनो को एक ही माना जाने लगा था। इस सम्राट् के शिला-लेखो मे 'इश्तर' को स्पष्ट रूप से वेवीलोन के देवता 'वेल' की पत्नी कहा गया है [१]।

परन्तु रुद्र की पत्नी के रूप में इस देवी का पद, अन्य वैदिक देवताओ की पत्नियों से सर्वथा भिन्न था। अन्य देवताओ की पत्नियों का अपना व्यक्तित्व वहुत कम था, उनकी ख्याति अपने पति देवताओं के कारण ही थी। परन्तु रुद्र की पत्नी एक स्वतत्र देवता थी और देवताओ मे उसका मुख्य स्थान था। वह एक पूर्ण विकसित मत की आराध्य देवी थी, और इस मत मे उसका स्थान अपने सहचर पुरुष देवता से वहुत ऊंचा था। इस कारण प्रारम्भ से ही वह कभी रुद्र के व्यक्तित्व से अभिभूत नहीं हुई, अपितु उसका पद रुद्र के वरावर का था और उसका स्वतत्र मत भी वना रहा जिसमें उसी को परम देवता माना जाता था। अत. रुद्र की पत्नी के रूप मे और अपने स्वतन्त्र रूप मे दोनो ही प्रकार इस देवी की उपासना होने लगी। रुद्र-पत्नी के रूप में इसकी उपासना अपर वैदिक काल के शैव मत का एक अन्तरग अश वन गई, और अपने स्वतन्त्र रूप में इसकी उपासना से भारतवर्ष में शाक्त अथवा तान्त्रिक मत का सूत्रपात हुआ [२]।

शाक्त या तान्त्रिक मत का उद्गम वैदिक धर्म में ढूंढने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। परन्तु इस सव का विफल होना अनिवार्य था, क्योंकि वैदिक धर्म में कोई ऐसी स्त्री देवता नहीं है, जिसकी वाद के शाक्त मत की देवी से जरा भी समानता हो। वैदिक धर्म में जो स्त्री देवता हैं भी, उनका स्थान वहुत निम्न है। कुछ सूक्तों में 'पृथिवी' का स्तवन किया गया है। परन्तु वह केवल इस धरणी का मानवीकरण है, और इस वात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह कभी इस अवस्था से आगे वढी हो। एक अन्य स्त्री देवता का 'रोदसी' नाम सभवतः पृथ्वी का ही एक दूसरा नाम था। उसकी 'ग्नाओ' में गणना की

१. जैस्ट्रो रिलिजन आफ वेवीलोनिया एण्ड एसीरिया पृ० २०५-२०६।

२. इस मत में इस देवी की उपासना की उर्वरता-सम्बन्धी अनेक विधियाँ वनी रहीं।

गई है और एक बार उसको रुद्र की पत्नी कहा गया है। परन्तु कालान्तर में वह लुप्तप्राय हो जाती है। यह मानना कठिन है कि ऐसी निम्न कोटि की स्त्री देवताओं में से कोई भी देवी अपर काल की इतनी बड़ी मातृ रूपा देवी बन गई और उसने अपने इस विकास का कोई चिह्न नहीं छोड़ा, क्योंकि वैदिक साहित्य में ऐसा कोई चिह्न नहीं मिलता। वेद में केवल एक स्त्री-देवता ऐसी है जो औरों से भिन्न है और उनसे अधिक महत्त्व भी रखती है। वह है—'वाक्', जिसका पहले-पहल ऋग्वेद के एक अपरकालीन सूक्त में उल्लेख हुआ है[1]। उसकी कल्पना प्राय देवताओं की शक्ति के रूप में की गई है और उसको देवताओं के कार्यों पर नियन्त्रण रखनेवाली बताया गया है। हमें आगे चलकर इस बात पर विचार करने का अवसर मिलेगा कि किस प्रकार 'वाक्' की जैसी कल्पना से विश्वप्रकृति की कल्पना का उद्भव हो सकता है। परन्तु वाक् शाक्तमत की आराध्य देवी से बिल्कुल भिन्न है। उसको कहीं भी मातृरूप मे नहीं माना है, जैसा शक्ति को माना जाता था। उसकी उपासना का उर्वरता मे भी कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता है, जैसा निश्चित रूप से शाक्तो की शक्ति की उपासना का था। इसके अतिरिक्त इस वाक् का रुद्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यदि हम इस देवता को अपरकालीन शक्ति का आदि रूप मानें, तो इस शक्ति का रुद्र के साथ जो घनिष्ट सम्बन्ध है, उसका समाधान नहीं होता। पुराणो में 'कौलो' को विधर्मी कहा गया है,[2] अन्त मे यह बात भी सिद्ध करती है कि इस देवी की उपासना का उद्गम विदेशी था। अत हमारी यह धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि भारतवर्ष मे शाक्त मत बाहर से आया, और उसका प्रारम्भ हम उस समय से मान सकते हैं जब सिन्धु-घाटी के लोगो का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो जाने के फलस्वरूप सिन्धु-घाटी की मातृदेवता की उपासना का आर्य धर्म मे समावेश हुआ।

मातृ देवता की यह उपासना जिस रूप मे भारत मे फैली, उसी के फलस्वरूप यहाँ कुछ ऐसे रीति-रिवाजों का भी प्रचार हुआ, जिनका पश्चिम एशिया मे इस उपासना के साथ सम्बन्ध था और जो बहुत करके सिन्धु-घाटी मे भी प्रचलित थे। इनमे सबसे प्रमुख है, देवी के मन्दिरों मे बालिकाओ और स्त्रियो का सेवार्थ समर्पण। इस प्रथा का जन्म सभवत बेबीलोन मे हुआ था, क्योंकि ऐसी स्त्रियो का सबसे प्राचीन उल्लेख बेबीलोन के लेखो में हुआ है[1]। 'ईश्तर' की उपासना के लिए जिस स्त्री को समर्पण किया जाता था, उसको साधारणतया 'उखातु' कहते थे। 'गिलगमेश' की कथा मे 'एबानी' को एक ऐसी ही स्त्री ने अपने वश मे दिखाना चाहा था। इस प्रथा का प्रादुर्भाव किसी अश्लील भावना की प्रेरणा से नहीं हुआ था, अपितु यह प्रथा मानव की अप्रौढ अवस्था मे उस सरल और सच्चे विश्वास के फलस्वरूप जन्मी कि विधिपूर्वक की हुई सभोग-क्रिया धान्य और पशुधन की वृद्धि का साधन होती है और इसी कारण यह देवी को प्रिय है। अतः जिन स्त्रियो को इस कार्य के लिए देवी के मन्दिरो मे रखा जाता था, उनके सम्बन्ध में

१ ऋग्वेद १०, १२५।

२ [illegible] का पाँचवाँ अध्याय देखिए।

यह धारणा होती थी कि वे समाज का वड़ा हित कर रही हैं। उन पर इस कारण किसी प्रकार का धव्वा नहीं आता था, वल्कि उनको पवित्र माना जाता था और उनका समाज में वड़ा सम्मान होता था। वास्तव में वेवीलोनियन और यहूदी लोगो में तो वेश्या का साधारण नाम 'कदिस्तु' अथवा 'कदेसु' था, जिसका अर्थ है 'पवित्र'। माता-पिता बड़ी खुशी से अपनी वेटियो को मन्दिरों मे सेवार्थ समर्पण कर देते थे, और इसमें अपना गौरव समझते थे[1]। धार्मिक वेश्यावृत्ति की यह प्रथा समस्त पश्चिम एशिया में फैल गई, और यहाँ तक कि यूनानी नगर 'कारिन्थ' मे देवी 'एफ्रोडाइटे' की उपासना मे भी इसका समावेश हो गया। इस प्रथा को कहीं भी, यहाँ तक कि यूनानियों मे भी, निन्दित नहीं समझा जाता था। इसके प्रमाण मे हमे यूनानी कवि 'पिंडार' की वह प्रशस्ति मिलती है, जिसमे उसने उन युवतियो का गुणगान किया है, जो वैभवशाली 'कारिन्थ' नगर में अतिथियो का सत्कार करती थीं, उनके आमोद-प्रमोद की सामग्री जुटाती थीं और जिनके विचार प्रायः 'अरेनिया' एफ्रोडाइटे' की ओर उड़ते रहते थे[2]। ग्रीक इतिहासकार 'स्ट्रैवो' ने उनको 'हेटेरा' की गौरवास्पद उपाधि दी है, जिसका अर्थ है वह जो देवी की सेवा के लिए समर्पित कर दी गई हो[3]। भारतवर्ष में यह प्रथा सिन्धु-घाटी-वासियो और आर्यों के सम्मिश्रण के वाद भी वनी रही, परन्तु किसी प्रकार इसका सम्बन्ध देवी की सेवा से हट कर पुरुष-देवता की सेवा से हो गया, और भगवान् शिव के मन्दिरो मे सेवार्थ लडकियाँ समर्पित की जाने लगीं। लिंगोपासना के समान ही इस प्रथा को भी आर्यों ने किसी प्रकार स्वीकार कर तो लिया, परन्तु वह इसको अच्छा नहीं समझते थे और जहाँ आर्यों का प्रभाव सवसे अधिक था, वहाँ यह प्रथा धीरे-धीरे मिटा दी गई। उत्तर भारत मे कम-से-कम ईसा की पाँचवीं शती तक अपर वैदिक साहित्य या अन्य उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री मे इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु देश के अन्य भागो में, जहाँ आर्यों का प्रभाव धीरे-धीरे फैला और समस्त आर्येतर तत्त्वों को अपने अन्दर नहीं समा सका, वहाँ इस प्रथा ने जड पकड ली। भारत मे देवदासी प्रथा का उद्भव का सबसे संतोषजनक समाधान इसी प्रकार हो सकता है। इस समय जो सामग्री उपलब्ध है, उससे हम, सिन्धु-घाटी की सभ्यता के समय से लेकर इस प्रथा का प्रारम्भिक इतिहास नहीं दे सकते। परन्तु जैसे जैसे समय वीतता गया, इस प्रथा के आदि स्वरूप को लोग भूल गये और प्राचीन होने के नाते इसको पवित्र माना जाने लगा। यहाँ तक कि ईसा की आठवीं सदी तक (इस प्रथा का एक दक्षिण भारतीय शिला-लेख में स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है)[4] यह प्रथा स्थिर रूप से जम गई थी और राज्य की ओर से मान्यता पा चुकी थी। इसका वाहरी स्वरूप वैसा ही था जैसा प्राचीन वेवीलोनिया मे था। परन्तु इस समय तक इस प्रथा का कोई अर्थ नहीं रह गया था। वेवीलोनिया के मन्दिरो की वेश्याओं का, वहाँ की उर्वरता-सम्वन्धी देवी की उपासना में एक निश्चित

---

१ जेस्ट्रो . सिविलिजेशन आफ वेवीलोनिया एण्ड एसीरिया।
२ फार्नेल कल्टस आफ दि ग्रीक स्टेट्स भाग २, अध्याय २१, पृ० ६३५।
३ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
४. पट्टदकल में राष्ट्रकूट धारावर्ष का शिलालेख . समय ७०० शक संवत्।

स्थान था, और उनकी स्थिति का तार्किक समाधान भी किया जा सकता था। परन्तु भारतवर्ष मे उनकी स्थिति का कोई तार्किक आधार नहीं था। भगवान् शिव की उपासना की उर्वरता-सम्बन्धी उपासना की अवस्था से निकले बहुत युग बीत गये थे। अत' उनके मन्दिरों म धार्मिक वेश्यावृत्ति की प्रथा केवल प्राचीन होने के नाते पवित्र मानी जाती थी, और अन्धविश्वासी उसको स्वीकार करते थे। वास्तव मे यह प्रथा मन्दिरो के पुजारियों के हाथों मे उनकी वासनातृप्ति और धनलिप्सा की पूर्ति का एक जघन्य साधन बनकर रह गई। इसकी दीक्षा देवता के साथ विधिवत् विवाह के द्वारा दी जाती थी और तदनन्तर लड़कियां देवता की मूर्ति की सेवा करती थीं। उसके आगे नृत्य करती थीं और इन कामों स अवकाश मिलने पर अपना गर्हित पेशा करती थी। कालान्तर में कुछ वैष्णव मन्दिरो मे भी इस प्रथा का प्रचार हो गया।

पश्चिम एशिया मे इस देवी की उपासना के साथ एक और बडी महत्त्वपूर्ण विधि का भी सम्बन्ध था और भारतवर्ष मे भी इसका प्रचार था, यद्यपि कालान्तर मे यह प्राय सर्वथा लुप्त हो गई। यह विधि थी मन्दिर के पुरुष पुजारियों का उन्मत्त नृत्य। इसकी इति बहुधा पुजारियों के स्वय अपना पुसत्व हरण कर लेने पर होती थी। विद्वान् फार्नेल ने इस विधि का, और इसके पीछे जो विश्वास काम करता था उसका, इस प्रकार वर्णन किया है—"इस पूजा का स्वरूप अत्यन्त भावुक, उन्मादपूर्ण और रहस्यमय था और इसका उद्देश्य था अनेक प्रकारो से देवी के साथ अतरग सम्बन्ध स्थापित करना नपुसक पुजारी का पद प्राप्त करने के लिए जो पुसत्व-हरण आवश्यक समझा जाता था, उसकी उत्पत्ति भी अपने-आपको देवी से आत्मसात् करने और उसकी शक्ति से अपनेको परिपूर्ण कर लेने की उत्कट कामना के कारण हुई जान पड़ती है। यह कार्य सम्पन्न होने पर अपने रूप परिवर्तन को सम्पूर्ण करने के लिए स्त्री-वेश धारण कर लिया जाता था[१]।"

सिन्धु-घाटी के लोगों मे इस प्रथा के प्रचार का हमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु भारत मे यह प्रथा रही अवश्य होगी, क्योंकि अभी थोडे ही दिनों तक बम्बई प्रान्त में एक विशेष सम्प्रदाय मे यह प्रथा प्रचलित थी।

सिन्धु घाटी के लोगों का आर्य जाति से सम्मिश्रण का तीसरा महान् परिणाम यह हुआ कि भारत मे मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना होने लगी। हम ऊपर देख आये हैं कि वैदिक धर्म मे यह नव नहीं था। परन्तु पश्चिम एशिया के धर्मों का यह एक प्रमुख अग था। इस प्रदेश मे देवी और अन्य देवताओं के मन्दिरो के अस्तित्व के हमे प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। देवी की मृत्तिका-मूर्तियो से और अन्य चित्रों से यह पता चलता है कि उसकी मूर्तियां भी बनाई जाती होंगी और मन्दिरो मे उनकी पूजा होती होगी। सिन्धु-घाटी में भी इसी प्रकार की देवी की मृत्तिका मूर्तियाँ मिलती हैं और बहुत करके यहाँ भी मन्दिरो म उनकी उपासना होती थी। यह ठीक है कि सिन्धु-घाटी की खुदाइयों में अभी तक हम कोई ऐसी इमारत नहीं मिली, जिनको हम निश्चित रूप से कह सकें कि यह देवालय

१ फार्नेल : कल्ट्स आफ दि ग्रीक स्टेट्स, भाग ३, अध्याय ७, पृ० ३००।

था, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यहाँ मन्दिर थे ही नहीं। अभी तक तो मकानों की दीवारों की नीवें और उनके अधोभाग ही हमें मिले हैं, और उनसे यह बताना बहुत कठिन है कि वे मकान वास्तव में किस काम आते थे। हो सकता है कि उनमें से कुछ बड़े मकान देवालय रहे हों। सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के सम्मिश्रण होने पर, और इन दोनों के देवताओं का परस्पर आत्मसात् होने पर, सिन्धु-घाटी की देवी और उसके सहचर देवता के मन्दिर, रुद्र की सहचर देवी और स्वयं रुद्र के मन्दिर माने जाने लगे। इस प्रकार देवताओं के लिए देवालय बनाने की प्रथा का भारतीय धर्म में समावेश हुआ। लगभग इसी समय भारतीय धर्म में भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो रहा था, जो पूजा के स्थायी स्थलों में सामूहिक उपासना किये जाने, और उपासकों द्वारा अपने इष्टदेव के सम्मान में भवन खड़े करने के अनुकूल था। अतः मन्दिर की उपासना का सम्बन्ध भक्तिवाद से हो गया, और धीरे-धीरे यह उपासना का एक आवश्यक अंग बन गया। कालान्तर में जब प्राचीन वैदिक धर्म का स्थान इस नये भक्तिवाद ने पूर्ण रूप से ले लिया, जब मन्दिर की उपासना भारतीय धर्म का एक प्रमुख रूप बन गई।

इन सबसे यह स्पष्ट है कि सिन्धु-घाटी में हमें जो कुछ मिला है, उससे उत्तर वैदिक शैव धर्म के अनेक प्रमुख रूपों का संतोषजनक समाधान हो जाता है। इसके साथ-साथ भारतवर्ष का, पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के साथ, भौतिक संस्कृति और धर्म के क्षेत्रों में, जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसका भी हमें पता चलता है। सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के एक हो जाने के उपरान्त, रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया, वह स्वरूप उतना ही सम्मिश्रित था जितनी कि वह सभ्यता जो इस एकीकरण के पश्चात् विकसित हुई। रुद्र का अब लिंगोपासना के साथ दृढ सम्पर्क हो गया। उनको एक सहचर देवी मिली, जिसकी उपासना उनके साथ और स्वतन्त्र रूप से भी होती थी। उनकी मूर्त्तियाँ बनने लगीं और मन्दिरों में उनकी स्थापना होने लगी। सबसे बढ़कर तो यह बात हुई कि रुद्र के उपासकों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई, जिससे उनके पद का और भी उत्कर्ष हुआ। इन सबसे रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में महान् परिवर्तन हो गया। वैदिक रुद्र की उपासना को अब हम पीछे छोड़ते हैं, और उत्तर वैदिक शैव-धर्म के द्वार पर आ खड़े होते हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हमें एक बात पर और विचार करना है। वह है—सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के सम्मिश्रण का समय। वैसे तो यह सम्मिश्रण एक ऐसी प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे ही होती है और दीर्घ काल तक होती रहती है। अतः इसके लिए कोई एक तिथि नियत करना सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ लगभग अनुमान हम उस समय का लगा सकते हैं, जब यह प्रक्रिया हो रही थी। इसका प्रारम्भ तो सामान्यतः उसी समय से हो जाना चाहिए जब दो जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आईं। पहले-पहल दोनों जातियों के लोगों के उन दलों में इक्के-दुक्के व्यक्तियों का मेल होता है, जो सबसे अधिक एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और उसके बाद यदि कोई बाह्य प्रतिबन्ध न लगाये जायँ तो यह प्रक्रिया फैलती जाती है। परन्तु इस सम्मिश्रण के फल व्यक्त होने में काफी समय लगता है। परिस्थितियों के अनुसार कभी कम या कभी

अत त्रिगुणमयी है। वह जगत् की सृष्टि करनेवाली है[१]। पुरुष स्वय स्रष्टा नही, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बना कर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप मे स्थित रहता है[२]। यही तथ्य एक अन्य श्लोक मे और भी स्पष्ट हो जाता है, जहा शक्ति अथवा प्रकृति को 'माया' कहा गया है और पुरुष केवल 'मायी' के रूप मे ही स्रष्टा कहलाता है[३]। आगे चल कर जीव और पुरुष मे इस प्रकार भेद किया गया है कि जीव भोक्ता है और प्रकृति द्वारा नियमित है[४]। उसकी मुक्ति तभी होती है जब उसे ब्रह्म साक्षात् होता है और वह प्रकृति अथवा माया के बन्धनो से छूट जाता है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् के अन्तिम अध्याय के एक श्लोक से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त को उस उपनिषद्-काल में भी साख्य कहा जाता था। उस स्थल पर यह कहा गया है कि पुरुष को साख्य और योग द्वारा ही जाना जा सकता है[५]।

अब 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् मे यह पुरुष अन्य कोई नहीं, रुद्र ही है जिनको शिव, और ईश भी कहा गया है। इससे पता चलता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्यदेवता बन गये थे जो साख्य के सिद्धान्तो का विकास कर रहे थे। वे रुद्र को ही पुरुष अथवा परब्रह्म मानते थे। इससे महाभारत और पुराणो मे शिव का साख्य के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसका समाधान हो जाता है और सम्भव है कि इसी से अपर काल मे शैव-सिद्धान्त के विकास की दिशा भी निर्धारित हुई। यह भी एक रोचक बात है कि जिस उपनिषद् मे पहली बार शिव को परब्रह्म माना गया है, उसी में साख्य और साख्य-प्रकृति का भी पहली बार निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है। प्राय प्रकृति की इस कल्पना का उद्गम प्राचीन वैदिक देवता 'वाक्' को माना जाता है। जिसको ऋग्वेद मे साधारण प्रकार से देवताओ का बल और विश्व की प्रेरक शक्ति कहा गया है। हो सकता है कि कुछ चिन्तको ने इस विचार को लेकर प्रकृति के उस रूप की कल्पना की हो, जिसका वर्णन 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् मे किया गया है। इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि औपनिषदिक चिन्तको ने अपने विचारो और सिद्धान्तो का विकास, शेष जगत् से अलग होकर, किसी शून्य मे नहीं किया। सिन्धु-घाटी की खोजो ने कम-से-कम ऐसी धारणाओ का तो पूर्णतया खडन कर दिया है, और यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक आर्यों का भारत और अन्य देशो की सभ्य जातियो के साथ अवश्य घनिष्ठ सबध रहा होगा, और इनमें विचारो का परस्पर आदान-प्रदान भी उतना ही रहा होगा जितना अन्य भौतिक पदार्थो का। अत हमे इस सम्भावना का भी ध्यान रखना चाहिए कि औपनिषदिक चिन्तको का विचार कोई वैदिक आर्यों का इजारा नहीं था। यह भी हो सकता है

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, [illegible]।

२. ,, ,, ,, ४, ५।

३. ,, ,, ,, ४, १०।

४. ,, ,, ,, १, ८।

५. ,, ,, ,, ६, १३

कि इन लोगो के कुछ विचारो और मान्यताओ के विकास पर वाह्य प्रभाव पडे हा। जव हम यह देखते हैं कि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के कुछ स्थलो मे शिव की प्रकृति शक्ति की कल्पना शिव की अध्यात्म पुरुष की कल्पना के साथ-ही-साथ विकसित हुई है, और जब हम यह स्मरण करते हैं कि शिव ने सिन्धु-घाटी के पुरुप देवता को आत्मसात् कर लेने के फलस्वरूप, एक सहचर स्त्री देवता को प्राप्त कर लिया था, और इन दोनो का परस्पर सम्वन्ध, दार्शनिक दृष्टिकोण से लगभग वही था जो 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में पुरुप और प्रकृति का है, तव इस वात की सम्भावना हो सकती है कि प्रकृति और द्वैतवादी साख्य के विकास में, और उसके सहचर पुरुप देवता के स्वरूप के आधार पर स्थित स्त्री और पुरुप तत्त्वो के आदि द्वैत की कल्पना का कुछ हाथ रहा हो। यह ठीक है कि हम इसके विपरीत यह तर्क भी दे सकते हैं कि शिव का साख्य-सिद्धान्तो के साथ जो सम्वन्ध हुआ, वह शिव के एक सहचर स्त्री-देवता प्राप्त करने का ही परिणाम था और इन दोनो को साख्य का पुरुप और प्रकृति मान लेने से इनकी उपासना को एक दार्शनिक आधार मिल गया। जो कुछ भी हो, अव जव कि हमें सिन्धु-घाटी मे देवी की उपासना के अस्तित्व का पता चला है और हम यह भी जानते हैं कि वह रुद्र की उपासना से सम्वन्धित हो गई, तव समीचीन यह जान पड़ता है कि साख्य के सिद्धान्तो और उसके इतिहास का पुनरावलोकन किया जाय।

प्राचीन उपनिषदो में एक और सदर्भ है, जिसपर हमें विचार करना है। 'केन' उपनिषद् में कहा गया है कि देवताओ को ब्रह्म-ज्ञान 'उमा हैमवती' नाम की एक देवता ने कराया[1]। जिस प्रकार यह 'उमा हैमवती' प्रकट होती है और जो कुछ देवगण पहले नही देख सकते थे, वह उनको दिखाती है। इससे प्रतीत होता है कि उसकी कल्पना देवताओ की चेतनप्रज्ञा के रूप में किया गया था, और इस रूप मे उसको प्राचीन वैदिक वाग्देवता का विकासमात्र माना जा सकता है, जिसका उल्लेख 'वृहदारण्यक' और दूसरे उपनिषदो में भी हुआ है[2]। परन्तु 'उमा' नाम और 'हैमवती' उपाधि से हमें तुरन्त अपरकालीन शिव की पत्नी का स्मरण होता है, जिसका भी एक नाम 'उमा' था और जिसे 'हिमवत्' की पुत्री माना जाता था। 'केन' उपनिषद् की 'उमा हैमवती' शिव पत्नी कैसे वनी, यह स्पष्ट नही है। सम्भव है, इस 'उमा हैमवती' को दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकृति माना जाता हो, और जव रुद्र की सहचरी देवता का भी इसी प्रकृति से आत्मसात् हुआ तो 'उमा' उसका एक नाम हो गया। उमा की उपाधि 'हैमवती' के कारण, जिसका प्रारम्भिक अर्थ सम्भवत. सुवर्णवर्णा अथवा सुवर्णमयी था, अपर काल में शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगा। इसी रूप में उसका नाम पार्वती पड़ा, जो वाद में उनका सवसे प्रसिद्ध नाम हो गया।

प्राचीन उपनिषदों में 'श्वेताश्वतर' ही एक ऐसा उपनिषद् है, जिससे उस काल में रुद्र की उपासना के सम्वन्ध मे हमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। अन्य उपनिषदों में अनेक

---

१ केनोपनिषद् ३, १२।

२ वृहदारण्यक उपनिषद् ६, १, ३।

प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं, जिनमे कुछ मनोरंजक है। 'मैत्रायणी' उपनिषद् में रुद्र का सम्बन्ध तमोगुण से और विष्णु का सतोगुण से किया गया है[१]। यह सम्भवतः रुद्र के प्रति प्राचीन विरोध-भावना के अवशिष्ट स्मृति का फल है। उधर 'प्रश्नोपनिषद्' मे रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है[२] और प्रजापति से उसका तादात्म्य किया गया है। स्वयं 'मैत्रायणी' उपनिषद् मे एक अन्य स्थल पर, रुद्र और आत्मा को एक ही माना गया है, और रुद्र की एक उपाधि 'शंभु' अर्थात् 'शान्तिदाता' का भी पहली बार उल्लेख हुआ है, जो अपर काल मे भगवान् शिव का एक अत्यन्त प्रचलित नाम हो गया[३]। उसी उपनिषद् के एक तीसरे स्थल पर विख्यात गायत्री मन्त्र मे 'भर्ग' का संकेत रुद्र की ओर माना गया है[४]। इन सब उल्लेखों से 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् मे जो कुछ कहा गया है, उसी की पुष्टि होती है।

रुद्र-सम्बन्धी अन्य उल्लेख केवल छोटे उपनिषदों मे मिलते हैं, जो प्रमुख उपनिषदों की अपेक्षा काफी बाद के हैं, और इस कारण यहाँ उनकी उपयोगिता नहीं है।

'श्वेताश्वतर' उपनिषद् मे हमने रुद्र की उपासना का दार्शनिक रूप देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हो रहा था, उसी समय जन-साधारण के धार्मिक आचार-विचार मे भी एक नई परिपाटी का प्रारम्भ हुआ। यह थी—भक्तिवाद की परिपाटी। कुछ अंशों में इस भक्तिवाद का उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा से गहरा सम्बन्ध था, क्योंकि इसके ही मूल मे जो दो तत्त्व थे—अर्थात् एक परमेश्वर मे विश्वास, और इस परमेश्वर की प्रार्थना और स्तुतियों द्वारा उपासना—उनका प्रादुर्भाव इसी दार्शनिक विचारधारा के विकास का फल था। प्राचीन बहुदेवतावाद को अस्वीकार करके और एक परब्रह्म की कल्पना करके उपनिषद् द्रष्टाओं ने धर्म मे निश्चित रूप से एकेश्वरवाद की स्थापना कर दी। उधर ब्राह्मणों के कर्मकांड के प्रभाव मे आकर, प्राचीन देवतागण किस प्रकार श्रीहीन हो गये थे, यह प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है। वैदिक देवताओं की इस प्रकार अवनति होने पर केवल दो देवता ही बचे थे जिनका गौरव और महत्त्व बढ़ा। ये थे विष्णु और रुद्र, और इन्हीं की सबसे अधिक उपासना होने लगी। अतः जब उपनिषदों के एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ, तब इन दोनों देवताओं के उपासकों ने अपने-अपने आराध्यदेव को परब्रह्म और परमेश्वर मानना प्रारम्भ कर दिया। शिव का यह स्वरूप हमने 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् मे देखा है। इसी समय विष्णु को भी उनके उपासक इसी रूप मे देखते होंगे, यह बहुत संभव है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् द्रष्टाओं ने ब्राह्मणों के कर्म-कांड को अस्वीकार करके अध्यात्म, ध्यान, और बुद्धि की एकाग्रता पर अधिक जोर दिया। इसके साथ साथ उपनिषदों के अध्ययन से

---

१ मैत्रायणी उपनिषद् ५, २।

२ प्रश्नोपनिषद् २, ९।

३ मैत्रायणी उपनिषद् ६, ८।

४ ,, ,, ६, ७।

हम यह भी देख सकते हैं कि उनके द्रष्टा ब्राह्मणग्रन्थो को छोड़ कर प्राचीन वैदिक संहिताओ का सहारा लेते हैं, मानों उनकी धारणा यह रही हो कि इन संहिताओ के विशुद्ध सिद्धान्तो और आचारो को ब्राह्मण पुरोहितो ने बिगाड दिया था। इसका फल यह हुआ कि लोगों का ध्यान ब्राह्मण कर्मकाड से हटकर फिर संहिताओ की ओर चला गया। इस प्रकार उपनिषद्-काल में प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थो के कर्मकाड की परिपाटी के स्थान पर लोगों मे एक नई प्रकार की उपासना का प्रचार हुआ, जिसका सार था एकेश्वर का ध्यान और उसमें अनन्त भक्ति। इस एकेश्वर की उपासना के साधन बने—प्रार्थना और भजन, और प्रार्थना और भजन के आदर्श बने—संहिताओ के सूक्त। इस प्रकार भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे इसने प्राचीन कर्मकाड का पूरी तरह स्थान ले लिया। और चूँकि यह भक्तिवाद शिव और विष्णु की उपासना को लेकर ही आगे बढा, इस कारण ये दोनो ही इस नवीन धार्मिक परिपाटी के मुख्य देवता बन गये।

भक्तिवाद का जन्म यद्यपि उपनिषद्-काल में ही हो गया था, फिर भी इसका पूर्ण प्रचार उपनिषद्-काल के बाद ही हुआ। सदा की भाँति जब एक धार्मिक परिपाटी का स्थान दूसरी धार्मिक परिपाटी लेती है, तब कुछ समय तक नई और पुरानी परिपाटियाँ दोनो साथ-साथ चलती हैं, अतः दोनो साथ-साथ चलती रहीं। यद्यपि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के एक श्लोक से यह भासता है[१] कि उस समय भी रुद्र भक्तिवाद के देवता माने जाने लगे थे, फिर भी कुछ समय तक उनके प्राचीन स्वरूप की स्मृति और तदुपासना-सम्बन्धी विधियाँ बनी रहीं। यह हमको श्रौत, धर्म और गृहस्थ सूत्रों से पता चलता है। इस परिवर्तन-काल में जनसाधारण मे रुद्र की उपासना का क्या स्वरूप था, वह इन सूत्रो से प्रकट हो जाता है।

'श्रौत सूत्र' ब्राह्मण कर्मकाड के साराश मात्र हैं और इस कर्मकाड के मुख्य यज्ञों के साथ उनका सम्बन्ध है। इस कारण ब्राह्मण कर्मकाड के क्षेत्र से बाहर धार्मिक आचार-विचार मे जो विकास हो रहा था, उसकी झलक साधारण रूप से इन सूत्रो में दिखाई देने का अवसर नहीं है। अतः रुद्र की उपासना का जो स्वरूप हमें श्रौत सूत्रों मे दिखाई देता है, वह प्राय. वैसा ही है जैसा ब्राह्मण ग्रन्थो में। वह अनेक देवताओं मे से केवल एक देवता है, और पहले की तरह रुद्र, भव, शर्व आदि उनके अनेक नामो का उल्लेख होता है[२] और इसी प्रकार महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उनकी अनेक उपाधियो का भी उल्लेख होता है[३]। मनुष्यो और पशुओं की रक्षा के लिए रुद्र से प्रार्थना की जाती है[४]। उनको व्याधि-निवारक कहा गया है[५], और रोगनाशक ओषधियों का देनेवाला[६]। 'त्र्यम्बक' नाम से उनको विशेष हवियाँ दी जाती हैं[७], जो ब्राह्मणग्रन्थो

१. श्वेताश्वतर उप० ६, १३।
२. शाखायन श्रौत सूत्र ४, १६, १।
३ ,, ,, ,, ४, २०, १४।
४. ,, ,, ,, ४, २०, १, आश्वलायन ३, ११, १।
५. ,, ,, ,, ३, ४, ८।
६ लाठ्यायन श्रौत सूत्र ५, ३, २।
७ शाखायन श्रौत सूत्र ३, १७, २०-११।

के समय में दी जाती थी। एक स्थल पर रुद्र को समर्पित मूषक का भी उल्लेख किया गया है[1]। रुद्र और अग्नि को तादात्म्य की स्मृति भी अवतक शेष है और रुद्र को एक बार 'अग्निग्विष्टिकृत' कहा गया है[2]। शाखायन श्रौत सूत्र में रुद्र के लिए किये जानेवाले एक विशेष यज्ञ का भी उल्लेख किया गया है, जो ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है, यद्यपि उस समय भी वह रहा अवश्य होगा[3]। 'गृह्य सूत्रों' मे इसका अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह इतना श्रोत सूत्रों का नहीं, जितना गृह्य सूत्रो का विषय था, और इसी कारण शायद ब्राह्मणग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया गया। इस यज्ञ का उद्देश्य था, 'स्वस्ति'—अर्थात् प्रेम और वैभव की प्राप्ति। शुक्लपक्ष में एक निश्चित तिथि पर उत्तर-पूर्व दिशा में रुद्र को एक गौ की बलि दी जाती थी। गृह्य सूत्रों का निरीक्षण करने पर हम इस यज्ञ का अधिक विस्तार से विवेचन करेंगे। इस समय जो ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि 'शाखायान श्रौत सूत्र' के इस सदर्भ में रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसका एक अंश ऐसा है जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। (इससे हमें यह पता चलता है कि इस समय रुद्र के स्वरूप का विकास किस प्रकार हो रहा था। यह है रुद्र की सहचर स्त्री देवता का उल्लेख। उसको भवानी, शर्वानी, ईशानी, रुद्राणी और आग्नेयी कहा गया है। यह सब रुद्र के विभिन्न नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं। यज्ञ मे इस स्त्री देवता को हवियाँ देने का भी विधान किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि इस समय तक इस स्त्री देवता को भी आर्यों के देवगण में विधिवत् गणना होने लगी थी और रुद्र के साथ ही इसकी भी उपासना होती थी। प्राचीन ग्रंथों मे रुद्र-पत्नी का यह प्रथम उल्लेख है। पिछले अध्याय मे जो कुछ कहा गया है, इसका ध्यान रखते हुए, हम यह कह सकते हैं कि 'शाखायन श्रौत सूत्र' के समय तक सिंधु घाटी की देवी की उपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया था।

'शाखायन श्रौत सूत्र' के इसी सदर्भ मे हमे रुद्र के गणो का उल्लेख भी मिलता है। यजुर्वेद के 'शतरुद्रिय' सूक्त मे भी इन गणो का उल्लेख हुआ है और याद होगा कि वहाँ इनका संकेत रुद्र के उपासकों की ओर था। परन्तु इस सदर्भ में उनकी कुछ उपाधियाँ ऐसी हैं, जिनसे पता चलता है कि सूत्रकार का अभिप्राय रुद्र के उपासको से नहीं है। यह उपाधियाँ—'अघोषिन्य,' 'प्रतिघोषिन्य', 'सघोषिन्य' और इन सब—का लक्ष्य गणो के घोष अर्थात् गर्जन या धूत्कार से है। इसके अतिरिक्त उनको 'क्रव्याद' (मृतमांस-भक्षी) भी कहा गया है, जिससे यह गण निश्चित रूप से भूत, पिशाच, कटप आदि के श्रेणी में आ जाते हैं। स्मरण रहे कि 'अथर्ववेद' मे इन्हीं भूत, पिशाचादि के निवारणार्थ रुद्र का आह्वान किया जाता था और इस प्रकार रुद्र का इनके साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसी मे बढ़ते-बढ़ते यह माना जाने लगा कि यह भूत-पिशाच आदि रुद्र के

---

1. लाट्यायन ५, ३, २।
2. शांखायन श्रौत सूत्र ८, २८, १।
3. शाखायन श्रौत सूत्र ४, १७-२०।

अनुयायी हैं। स्वय अथर्ववेद के एक मत्र मे[1] भी रुद्र के गणो के घोष का उल्लेख किया गया है, और हो सकता है कि यह इन गणो का सकेत इन्हीं भूत-पिशाचो की ओर हो। 'शाखायन श्रौत सूत्र' मे इनके उल्लेख का महत्त्व यह है और इससे पता चलता है कि रुद्र के एक रूप का सम्बन्ध अभी तक जनसाधारण के अन्ध-विश्वासो से था। 'गृह्य सूत्रों' में यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

रुद्र की उपासना का जो स्वरूप 'श्रौत सूत्रों' मे मिलता है, लगभग वही स्वरूप 'धर्म-सूत्रों' में भी है, जो समकालीन हैं। सदा की तरह रुद्र के अनेक नामो का उल्लेख किया गया है। 'बौधायन धर्म-सूत्र' से रुद्र और रुद्र की सहचर स्त्री देवता के लिए अनेक तर्पणो का विधान किया गया है, और इस स्त्री देवता को स्पष्ट रूप से रुद्र की पत्नी कहा गया है[2]। रुद्र के गुणो के स्वरूप मे कुछ विकास हुआ है। अब उनमे स्त्री-गुण भी हैं, और इन गुणो को 'पार्षद' और 'पार्षदी' कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसी धर्म-सूत्र में दो बिलकुल नये देवताओ का भी उल्लेख किया गया है, जिनके स्वरूप और इतिहास का हमे विशेष रूप से अध्ययन करना है, क्योंकि अपर काल मे इनका शिव के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। इनमे पहला देवता विनायक हैं, जिनकी आगे चलकर 'गणेश' नाम से ख्याति हुई[3]। 'तत्तिरीय आरण्यक' मे एक श्लोक है, जो प्रसिद्ध गायत्री मत्र के ढग पर ही बनाया गया है। इसके देवता का 'वक्रतुण्ड' और 'दन्तिः' कह कर वर्णन किया गया है, और तत्पुरुष से उसका तादात्म्य किया गया है[4]। परन्तु इसके उपरान्त 'बौधायन धर्म-सूत्र' के समय तक न तो इस आरण्यक में ही और न कहीं अन्यत्र ही इस देवता का उल्लेख किया गया है। इस धर्म-सूत्र में इस देवता को विधिवत् मान्यता प्रदान की गई है, और इसके लिए तर्पणो का विधान किया गया है। उसको 'वक्रतु ड और 'एकदन्त' के अतिरिक्त 'हस्तिमुख', 'लम्बोदर', 'स्थूल' और 'विघ्न' भी कहा गया है। इन सब उपाधियो से यह निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है जो बाद मे गणेश कहलाया, यद्यपि इसका यह नाम यहाँ नहीं दिया गया है।

'विघ्न' उपाधि से इस देवता के स्वरूप का पता चलता है। जैसा कि आगे चलकर 'गृह्य-सूत्रों में स्पष्ट हो जायगा कि इस देवता को प्रारम्भ में विघ्नों और बाधाओं का देवता माना जाता था, और इन्हीं विघ्नो तथा बाधाओ के निवारण के लिए उससे प्रार्थना की जाती थी। इस देवता के 'पार्षदों' और 'पार्षदियो' का भी उल्लेख किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि इसकी उपासना किसी-न-किसी रूप में रुद्र की उपासना के साथ सम्बद्ध थी। अपरकालीन साहित्य में गणेश को शिव का पुत्र माना गया है और इस सूत्र में भी एक रुद्र सूत्र का उल्लेख किया गया है[5]। परन्तु यह रुद्र-सुत 'वक्र-तुण्ड' ही है, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण यहाँ नहीं मिलता।

---

१ अथर्ववेद ११, २, ३१।
२. बौधा० धर्म-सूत्र : २, ५, ६।
३. ,, ,, ,, : २, ५, ७।
४ तैत्तिरीय आ० : १०, १।
५ बौधा० धर्म-सूत्र २, ५, ६ अपिच शांखा० श्रौतसूत्र ४, २०, १।

इसी सूत्र मे जिस दूसरे देवता का उल्लेख हुआ है, वह है स्कन्द[१]। विनायक की तरह इस देवता के लिए भी तर्पणों का विधान किया गया है, और इसी से पता चलता है कि इसको भी विनायक के समान ही विधिवत् मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त इस सूत्र मे ही इसके अन्य नामों का भी उल्लेख किया गया है जैसे 'षण्मुख', 'जयन्त', 'विशाख', 'सुब्रह्मण्य' और 'महासेन'। इन नामो से निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है जो आगे चलकर 'कार्तिकेय, नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस देवता के विषय में कुछ और नहीं कहा गया है और इस एक सदर्भ से उसका रुद्र के साथ क्या सम्बन्ध था, यह हम नहीं जान सकते।

सूत्र काल मे जन-साधारण के धार्मिक आचार-विचारों के विषय मे हमें सबसे अधिक जानकारी गृह्यसूत्रो से प्राप्त होती है। इन सूत्रों का सम्बन्ध प्रधानतया गृहस्थ की विधियो मे है, अत श्रौत अथवा धर्मसूत्रो की अपेक्षा इन्हीं गृह्यसूत्रों मे उस समय के जन-साधारण के धार्मिक मान्यताएँ और रीति-रिवाज अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। रुद्र की उपासना के विषय मे, गृह्यसूत्रों से हमे मूल्यवान सामग्री मिलती है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एक ओर रुद्र ने दार्शनिकों के परब्रह्म का पद पाया था, तो दूसरी ओर उनकी उपासना का जनसाधारण के सरल विश्वासों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव मे रुद्र के आदि स्वरूप की स्मृति को कभी भी पूर्णरूपेण मिटाया न जा सका, और किसी-न किसी रूप मे सदा ही उनके आदि स्वरूप की उपासना होती ही रही, जिसके इर्द गिर्द जनसाधारण की सरल धार्मिक भावनाएँ और विश्वास केन्द्रित थे। गृह्य-सूत्रों मे रुद्र की उपासना का यही पहलू प्रमुख है। उनको साधारणतया रुद्र कहा गया है और उनकी सभी पुरानी वैदिक उपाधियो का उल्लेख हुआ है[२], यद्यपि उनके नये नाम 'शिव' और 'शकर' अब अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं[३]। कभी-कभी उनको 'वृषतक' भी कहा गया है, जिसका संकेत उनमे प्राचीन हिंसक रूप की ओर है[४]। उनको साधारण रूप मे वृक्षों, चौराहों, पुण्य तीर्थों और श्मशानों यानी ऐसे सभी स्थलों में अकेले विचरनेवाला माना गया है, जहा लोगो का अनिष्ट हो सकता है, और इसी अनिष्ट के निवारणार्थ उनकी आराधना की जाती है[५]। श्मशानो से रुद्र का सम्बन्ध, यहाँ ध्यान देने योग्य है क्योंकि आगे चलकर भगवान् शिव के स्वरूप के विकास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल मे रुद्र को मृत्यु-सम्बन्धी देवता माना जाता था, उसी के फल स्वरूप जनसाधारण के मत मे श्मशानो से उनका यह सम्बन्ध हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

रुद्र के पूजन मे क्षेम और समृद्धि प्राप्त होती है, ऐसा इस समय लोगों का विश्वास

१ बौधा० धर्म-सूत्र २, ५, ८।
२ आश्वलायन गृह्य-सूत्र ४, १०।
३ ,, ,, २, १, २।
४ ,, ,, २, १, २, मानव गृह्य० २,३,५, बौधायन धर्मसूत्र, ७, ९० में भी रुद्र को 'विशान्तर' कहा गया है।
५ पारस्कर गृह्यसूत्र ३, १३, [illegible]।

था। इसी उद्देश्य से 'शूलगव' यज्ञ का विधान किया गया है [1]। यह मुख्यतः एक गृह्यविधि थी और गृह्य सूत्रों मे इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। वसन्त अथवा हेमन्त ऋतु में शुक्ल पक्ष मे यह यज्ञ किया जाता था। इसका स्थान वन मे अथवा कम-से-कम नगर या अन्य वस्ती से पर्याप्त दूरी पर, यजमान के आवास से उत्तर-पूर्व दिशा मे होता था। इस स्थान पर यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर, वेदी पर दूर्वा विछा कर, एक गाय की विधिवत् वलि रुद्र को दी जाती थी। वध्य पशु के रुधिर से आठ छोटे पात्र भरे जाते थे। फिर रुधिर को आठ दिशाओं मे (चार प्रधान और चार मध्यवर्त्ती) छिड़क दिया जाता था और प्रत्येक वार 'शतरुद्रिय' के पहले मत्र से प्रारम्भ होनेवाले एक-एक अनुवाक का पाठ किया जाता था। तदनन्तर वध्य पशु की खाल उतारी जाती थी, और उसके हृदय आदि भीतरी अगो को निकाल कर रुद्र पर चढाया जाता था। अन्त मे रुद्र से यजमान के प्रति कल्याणकारी रहने की प्रार्थना की जाती थी। इस विचित्र यज्ञ के दो अश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहला तो यह कि इस यज्ञ को वस्ती से दूर जाकर करना पड़ता था, मानो यह कुछ भयावह अथवा रहस्य-मय हो। इससे पता चलता है कि यह यज्ञ सामान्य कर्मकाण्ड से अलग एक विशेष सस्कार था, जिसको वास्तव में एक प्रकार का गुप्त टोना अथवा टोटका कहना चाहिए। फिर भी सूत्र-ग्रथो मे ही हमे इस वात के प्रमाण भी मिल जाते हैं कि यद्यपि ऐसे सस्कारो को साधारणतया गर्हित समझा जाता था, तथापि विशेष परिस्थितियो में और विशेष उद्देश्यो के लिए इनका कभी-कभी विधान भी किया जाता था। 'अथर्ववेद' मे हम रुद्र का जनसाधारण के अन्य विश्वासो और जादू आदि से जो सम्वन्ध था, वह देख चुके हैं। अतः यह नितान्त सम्भव है कि इस रूप मे रुद्र को अभी तक वैसा ही भयावह और रहस्यमय देवता माना जाता था जैसा कि अथर्ववेद मे उन्हे माना जाता था। यह भी सम्भव है कि आदिम जातियो के कुछ आर्येतर देवताओ को आत्मसात् करने के फलस्वरूप रुद्र के इस रूप का कुछ विकास भी हुआ हो।

इस यज्ञ का ध्यान देने योग्य दूसरा अश है—गाय की वलि। भारत मे अति प्राचीन काल से ही गाय को पवित्र माना जाने लगा था और 'अथर्ववेद' तक मे गो-हत्या को पाप माना गया है। जैसे-जैसे समय वीतता गया, गोहत्या का निषेध और भी कड़ा होता गया। कभी-कभी इस निषेध का अपवाद भी होता था, विशेषतः ऐसी विधियो मे जो अति प्राचीन काल से चली आती थीं और समय ने जिनको पुनीत वना दिया था। उदाहरण के लिए सम्मानित अतिथियो को मधुपर्क दान, जव कि गो-वलि साधारण ही नहीं, अपितु विहित भी थी [2]। परन्तु साधारण यज्ञो और अन्य सस्कारों मे गायो और वैलो को वलि देने की प्रथा वहुत पहले ही वन्द हो गई थी। इसीलिए जव इस यज्ञ मे हम अवतक गो वलि का विधान पाते हैं, तव यह इस वात का एक और सकेत है कि इस रुद्र के इस रूप की उपासना ब्राह्मण-धर्म का अग नहीं थी।

---

१ मानव गृह्य-सूत्र २, ५, वौधायन गृ० सू० २, २, ७, १-३, आश्वलायन गृ० सू० ४, १०।

२ मानव गृह्य-सूत्र ६, १, २।

'गृह्य सूत्रों' में मुख्य रूप से रुद्र के उसी रूप का उल्लेख किया गया है, जिसमें जन-साधारण में उनकी उपासना होती थी। फिर भी सूत्रकार, रुद्र के विकास होनेवाले दार्शनिक स्वरूप, जैसा कि उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है, से अनभिज्ञ नहीं थे।

'बौधायन गृह्य-सूत्र' में इसी 'शूलगव यज्ञ' के वर्णन में एक स्थल पर रुद्र को विश्व-व्यापी परम ब्रह्म माना गया है[1]। आगे चलकर एक अन्य स्थल पर रुद्र को फिर आदि पुरुष और विश्वस्रष्टा कहा गया है[2]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गृह्य-सूत्रों के समय तक रुद्र का वह द्विविध स्वरूप स्थापित हो चुका था—दार्शनिक और जनसाधारण-सम्मत, जो बाद में बराबर बना रहा।

गृह्य-सूत्रों में रुद्र की पत्नी और रुद्र के पुत्र अथवा पुत्रों का भी लगभग उसी प्रकार उल्लेख किया गया है, जिस प्रकार धर्म-सूत्रों में[3]। परन्तु गृह्य-सूत्रों से जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वह है जो रुद्र की उपासना में एक बिलकुल नई प्रवृत्ति पर प्रकाश डालती है—मूर्त्ति-पूजा। गृह्य-सूत्रों में प्रथम बार रुद्रादि देवताओं की मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन और पूजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण धर्म में मूर्त्ति-पूजा का समावेश किस प्रकार हुआ, इसकी ओर पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है। बौधायन गृह्य-सूत्र में रुद्र की ही नहीं, अपितु विष्णु की मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन का भी विधान किया गया है[4]। इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक मूर्त्ति-पूजा रुद्र और विष्णु की उपासना का एक अंग बन गई थी। इसी सूत्र में एक बार 'देवागार' का भी उल्लेख किया गया है[5] और जब मूर्त्तियों का निर्माण होने लगा था, तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय तक देवालय भी बनने लगे होंगे। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में पहली बार शिवलिंग का भी उल्लेख हुआ है, जिस अध्याय में रुद्र की मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन का वर्णन किया गया है, वहाँ मानवाकार मूर्त्तियों के साथ-साथ लिंग मूर्त्तियों का भी वर्णन किया गया है जिनका कोई आकार नहीं होता था[6]। इससे सिद्ध होता है कि 'बौधायन गृह्य-सूत्र' के समय तक रुद्र की उपासना लिंग-रूप में भी होने लगी थी। इन लिंग-मूर्त्तियों का सम्बन्ध प्रारम्भ में जननेन्द्रिय से था, इस तथ्य का ज्ञान उस समय लोगों को था या नहीं, यह स्पष्ट नहीं होता। परन्तु 'लिंग' नाम से ही, और चूँकि महाभारत में इस सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से माना गया है, हम यह कह सकते हैं कि 'बौधायन गृह्य-सूत्र' के समय में भी इस सम्बन्ध का ज्ञान लोगों को था। परन्तु इस लिंग मूर्त्ति की उपासना-विधि बिलकुल नई थी और प्राचीन जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। 'लिंग' को केवल भगवान शिव का एक प्रतीक माना जाता था, और उसकी उपासना फल, फूल आदि द्वारा

1. बौधायन गृह्य-सूत्र १, २, ७, २३।
2. ,, ,, ३, २, १६, ३८।
3. ,, ,, १, २, ७।
4. ,, ,, ३, २, १३, १८।
5. ,, ,, ३, ३, ६, ३।
6. ,, ,, ३, २, १०, १४।

ठीक उसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार उसकी मानवाकार मूर्त्तियो की। इससे पता चलता है कि रुद्र का 'लिंगोपासना' के साथ सम्बन्ध अब बहुत प्राचीन हो गया था, और लिंग-मूर्त्ति के आदिम जननेन्द्रिय-सम्बन्धी स्वरूप को अब बिलकुल मिटा दिया गया था। यह इस बात का द्योतक है कि उस समय तक सिन्धु-घाटी की जाति का आर्य जाति के साथ पूर्णरूप से सम्मिश्रण हो चुका था।

गृह्य-सूत्रो में रुद्र की पत्नी को जो स्थान दिया गया है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि इस समय तक सिन्धु-घाटी के निवासी आर्य जाति के साथ मिल चुके थे। रुद्र की पत्नी अब एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। रुद्र की मूर्त्तियो की प्रतिष्ठापन विधियाँ के साथ-साथ इस स्त्री-देवता के पूजन की विधियाँ भी बताई गई हैं, और पहली बार उसको 'दुर्गा' कहा गया है[१]। यद्यपि उसकी मूर्त्तियो का कोई सीधा उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि देवी के स्नान आदि का जो विधान किया गया है, उससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसकी मूर्त्तियाँ भी अवश्य बनाई जाती होगी। इस देवी के स्वरूप का पता हमे उसकी उपाधियों से चलता है, जो 'आर्या', 'भगवती', 'देवसकीर्ति' आदि है। इनसे सिद्ध होता है कि इस देवी को उच्च कोटि का देवता माना जाता था और उसका कीर्तिगान अन्य देवता भी करते थे। 'महाकाली', 'महायोगिनी' और 'शस्त्रधारिणी' उपाधियाँ भी इसे दी गई हैं, और इनसे पता चलता है कि इस देवी का स्वरूप लगभग वैसा ही था जैसा आगे चलकर 'दुर्गा' का हुआ। इसके अतिरिक्त एक और उपाधि 'महापृथ्वी' से यह स्पष्ट पता चलता है कि प्रारम्भ मे यह देवी, पृथ्वी देवता ही थी। दूसरी ओर इसकी एक अन्य उपाधि 'मनोगमा', इस बात की ओर सकेत करती है कि इस देवी के स्वरूप के दार्शनिक पहलू का भी विकास हो रहा था और इस रूप मे इस देवी के साक्षात्कार के लिए ध्यान और योगाभ्यास आवश्यक थे। सम्भवतः इस समय तक इस देवी का उपनिषदो की शक्ति से तादात्म्य हो गया था। यहाँ तक ही नहीं, उसकी एक उपाधि 'महावैष्णवी' से तो यह पता चलता है कि इस समय तक इस देवी को रुद्र की शक्ति ही नहीं, अपितु अन्य देवताओं की शक्ति भी माना जाता था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि देवी को हवि· देते समय जिन मन्त्रों का पाठ होता था, वे सब अग्नि अथवा 'आपव·' सम्बन्धी प्राचीन श्रुतियाँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय ऋषियों को देवी की उपासना के लिए मन्त्र ढूँढ़ने मे कठिनाई हो रही थी। इसका कारण यह था कि ऐसे मन्त्र प्राचीन श्रुतियों में थे ही नहीं। आर्य धर्म मे देवी की उपासना के विदेशीय होने का यह एक और प्रमाण है। गृह्यसूत्रो में रुद्र की मानवाकार और लिंगाकार मूर्त्तियों का एक साथ उल्लेख किये जाने का ऐतिहासिक महत्त्व है। इससे पिछले अध्याय के हमारे उस कथन की पुष्टि होती है कि भारतवर्ष मे मूर्त्तिपूजा और देवालय-निर्माण का उद्भव सिन्धु-घाटी की सभ्यता के प्रभाव पड़ने से हुआ। चूंकि लिंग-प्रतीकों की उपासना का उद्भव भी उसी प्रभाव के अन्तर्गत और उसी समय हुआ था, अत· भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में इन

---

१ बौधायन गृह्य-सूत्र · ३, ३, ३।

दोनों का उल्लेख लगभग साथ-साथ होना चाहिए और यही हम गृह्यसूत्रों में पाते हैं। इसलिए मूर्त्तिपूजा और देवालय निर्माण के उद्भव के सम्बन्ध में हमने जो सुझाव दिया है, वह ठीक प्रतीत होता है।

गृह्यसूत्रों में रुद्र और रुद्र-पत्नी की उपासना के विकास के सम्बन्ध में तो हमें उपर्युक्त मूल्यवान् सामग्री मिलती ही है। इसके साथ-साथ इन्हीं ग्रन्थों से उस रहस्यमय देवता विनायक के सम्बन्ध में भी, जिसका एक अल्प उल्लेख धर्मसूत्रों में किया गया है, अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है और इनसे इस देवता के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में 'विनायक' एक जातिवाचक नाम था, जो जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के अनुसार राक्षसों के एक गण-विशेष के लिए प्रयुक्त होता था। 'मानव-गृह्यसूत्र' में एक स्थल पर एक नहीं, चार विनायकों का उल्लेख किया गया है[1]। उनके नाम हैं—'शालकटंकट', 'कूष्माण्ड राजपुत्र', 'उस्मित' और 'देवयजन'। इनको अहितकारी जीव माना गया है। जिन मनुष्यों पर इनका प्रभाव पड़ता है, वे पागलों की तरह आचरण करते हैं—उनको स्वप्नों में अशुभ लक्षण दिखाई पड़ते हैं और उनको सदा ऐसा लगता है मानो कोई उनका पीछा कर रहा हो। इन विनायकों के दुष्प्रभाव से राजकुमारों को राजगद्दी नहीं मिलती, विवाहाभिलाषिणी कन्याओं को वर नहीं मिलते, स्त्रियाँ शीलवती होते हुए भी पुत्रविहीना रह जाती हैं, विद्वानों को सम्मान नहीं मिलता, विद्यार्थियों के अध्ययन में अनेक बाधाएं पड़ती हैं, व्यापारियों को व्यापार में हानि होती है और किसानों की खेती नष्ट हो जाती है। संक्षेप में यह विनायक सामान्य रूप से उत्पाती जीव माने जाते थे और मनुष्यों के साधारण व्यापार में उनके कारण बाधाएँ न पड़े, इस उद्देश्य से, उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था। इसके लिए जो विधियां बताई गई हैं, उनमें जादू-टोनों का पुट अधिक है और उनका स्वरूप स्पष्ट ही अथर्ववेदीय है। इससे पता चलता है कि ये 'विनायक' जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के क्षेत्र के जीव थे। यह विधियाँ तम निवारक सूर्य के स्तवन के साथ समाप्त होती थीं, और इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि विनायकों को अंधकार और नदी के जीव माना जाता था।

इन चार विनायकों का फिर और कहीं उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु 'बोधायन गृह्य-सूत्र' में एक विनायक की अर्चना का विधान किया गया है[2]। यह विनायक वही है जिसका उल्लेख 'बोधायन धर्म सूत्र' में भी हुआ है। इस विनायक और उपर्युक्त चार विनायकों में क्या सम्बन्ध था, इसको स्पष्ट नहीं किया गया। परन्तु नाम के साम्य के साथ-साथ इस विनायक के गुण भी वैसे ही हैं जैसे उन चार विनायकों के। हाँ, उन गुणों में कुछ थोड़ी-बहुत वृद्धि हो गई है। विघ्नकारी से बढ़कर अब यह विनायक विघ्नपति हो गया है, और विघ्नों के नाश के लिए तथा फिर सामान्य रूप से सफलता के लिए उससे प्रार्थना की जाती है। उसके स्वरूप के वर्णन में अब प्रशंसा-सूचक

---

१ मानव गृह्यसूत्र २, १४।

२ बौधायन गृह्य-सूत्र ३, ७, १०।

वाक्यों और उपाधियों का प्रयोग अधिक होता है। परन्तु, जिस स्तोत्र द्वारा इसकी अर्चना की गई है, उसके अन्तिम श्लोक मे विधिवत् अर्चना के उपरान्त उससे दूर चले जाने की जो प्रार्थना की गई है, उसीसे इस विधि के वास्तविक उद्देश्य का पता चलता है, जो एक अहितकारी और भयावह जीव को उपासक से दूर रखना था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह विनायक भी विनायकगण मे से एक था, और प्रारम्भ मे मानो अपने गण के प्रतिनिधि के रूप मे इसकी उपासना होती थी। अर्थात्—इस एक विनायक की सतुष्टि से समस्त विनायकगण की सतुष्टि हो जायगी, ऐसा माना जाता था। परन्तु कालान्तर में इसके इस प्रतिनिधि रूप की स्मृति क्षीण होती गई, और उसको एक स्वतन्त्र देवता माना जाने लगा। धर्मसूत्रो मे वर्णित और 'हस्तिमुख', 'वक्रतुण्ड' आदि उपाधियों-जैसा ही उसका स्वरूप है। उसके पुरुष परिचरो, स्त्री-परिचरों', 'पार्षदो' और 'पार्षदी' का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम श्लोक से पहले श्लोक मे उसकी एक उपाधि 'गणेश्वर' भी है, जिससे आगे चलकर गणेश नाम वना।

यह विनायक उत्तर-कालीन 'गणेश' का आदि रूप है। 'वौधायन गृह्य-सूत्र' में इसका एक स्त्री देवता के साथ साहचर्य भी वताया गया है, जिसका नाम 'ज्येष्ठा' है[1]। विनायक के स्तवन से ठीक पहलेवाले संदर्भ में इस स्त्री-देवता की अर्चना का विधान किया गया है। विनायक के समान ही इसको भी 'हस्तिमुखा' कहा गया है। उनके परिचर भी 'पार्षद' और 'पार्षदी' कहलाते हैं। उसके स्वरूप और गुणों का वर्णन नहीं किया गया, परन्तु विनायक की सहचरी होने के नाते सभवतः उसका स्वरूप और गुण भी विनायक जैसे ही थे। दुर्गा से उसे पृथक् माना गया है, परन्तु यह ध्यान देने योग्य वात है कि इसकी आकृति को भयावह वताया गया है। उसके रथ के सम्वन्ध मे कहा गया है कि उसे सिंह और व्याघ्र खींचते थे। यह दो गुण वाद मे स्वय दुर्गा के हो जाते हैं। यह गुणसक्रमण इन दोनों देवताओं के तादात्म्य की ओर सकेत करता है और पुराणों के समय तक तो वास्तव मे 'ज्येष्ठा' दुर्गा का एक नाम वन ही गया था। यह वात महत्त्वपूर्ण है और इसका पूरा अर्थ हम आगे चलकर समझेंगे।

उत्तर वैदिक साहित्य मे विनायक का इस प्रकार सहसा उल्लेख और अपर काल मे शिव के साथ उसका घनिष्ठ सम्वन्ध, इन दोनों ही वातों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि विनायक के स्वरूप और उसकी वास्तविक उत्पत्ति के विषय मे छान-वीन की जाय। अभी ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रारम्भ मे यह विनायक विनायकगण में से एक था और यह विनायकगण जनसाधारण के प्रचलित विश्वास के अनुसार अहितकारी जीव थे। क्या किसी समय रुद्र का भी इन विनायकों के साथ कोई सम्वन्ध था? 'वौधायन गृह्य-सूत्र' मे जहाँ विनायक का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसे 'भूतपति', 'भूपति', 'भूताना पति' और 'भुवनपति' की उपाधियाँ दी गई हैं। ये उपाधियाँ साधारणतया रुद्र के लिए प्रयुक्त होती हैं। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर विनायक को 'उग्र' और 'भीम' भी कहा गया

१. बौधायन गृह्य-सूत्र : ३, ६।

हैं, जो वैदिक साहित्य में विशेष रूप से रुद्र की उपाधियाँ हैं। रुद्र और विनायक दोनों के परिचरों का भी एक ही नाम है, जबकि विष्णु के सम्बन्ध में किसी परिचरवर्ग का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यह धारणा होती है कि रुद्र और विनायक का परस्पर सम्बन्ध जितना ऊपर से प्रतीत होता है, उससे भी कहीं अधिक घनिष्ठ है। अपर-कालीन साहित्य में, विशेषकर पुराणों में, शिव को बहुधा गणेश की उपाधियाँ दी गई हैं, और गणेश को प्राय भगवान् शिव के अनेक गुणों से विभूषित किया गया है। इससे यह प्रबल धारणा होती है कि कुछ विशेष पहलुओं से देखने पर शिव और गणेश का स्वरूप परस्पर बहुत विभिन्न नहीं था, अत यह सभव हो सकता है कि प्रारम्भ में यह दोनों देवता एक ही थे।

हमने प्रथम अध्याय में इस बात की ओर सकेत किया था कि अपने एक रूप में रुद्र विनायक के समान ही एक भयावह देवता थे, जिनकी तुष्टि के लिए 'त्र्यम्बक होम' किया जाता था। सूत्र ग्रन्थों में शूलगव यज्ञ के वर्णन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हो सकता है कि अपने एक रूप में स्वय रुद्र को ही एक विनायक माना जाता हो और उसी रूप में उसको हस्तिमुख भी कल्पित किया गया हो। सभवत इस रूप में रुद्र को 'गिरिचर' भी माना जाता था, और उनके कन्दरावास के प्रतीक स्वरूप मूषक को उनका वाहन कहा गया था[1]। यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर वैदिक काल में यह मूषक अनिवार्य रूप से गणेश का वाहन माना जाने लगा, शिव का नहीं। सभवत इस रूप में शिव को ही विनायक कहा जाता था। रुद्र और गणेश के इस आदिकालीन तादात्म्य की पुष्टि 'अथर्वशिरस् उपनिषद्' से भी होती है, जिसमें रुद्र और विनायक, इन दोनों देवताओं को एक माना गया है। कालान्तर में रुद्र के अन्य रूपों का विकास दूसरे प्रकार से हुआ और उनका यह रूप मानो पृथक्-सा हो गया और होते-होते, इस रूप में रुद्र, विनायक के नाम से एक स्वतत्र देवता बन गये। सूत्र ग्रन्थों के समय तक यह अवस्था आ गई थी। देवकथाओं में एक देवता द्वारा अन्य देवताओं को आत्मसात् कर लेने की प्रक्रिया तो काफी प्रचलित है और इसके उदाहरण हम रुद्र के अनेक रूपों की विवेचना करते समय दे भी चुके हैं। परन्तु एक विपरीत प्रक्रिया भी देवकथाओं में चलती है, अर्थात् एक ही देवता के विभिन्न रूपों का विकास होते-होते अनेक स्वतत्र देवताओं का अस्तित्व हो जाना। रुद्र और विनायक के सम्बन्ध में यही विपरीत प्रक्रिया काम करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भ में विनायक रुद्र के ही एक रूप का नाम था, परन्तु जैसे जैसे इस रूप का विकास होता गया, उस प्रारम्भिक तादात्म्य की स्मृति मिटती गई और अत में दोनों स्वतन्त्र देवता बन गये। साथ ही गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा और यह पिता-पुत्र सम्बन्ध उपयुक्त है भी, क्योंकि रुद्र के ही एक रूप से गणेश का जन्म हुआ है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको देखते हुए अपर वैदिक काल में ज्येष्ठा और

---

[1] रुद्र के इस स्वरूप की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम पहले अध्याय में 'त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय होम' के प्रसंग में लिखा चुके हैं।

दुर्गा का तादात्म्य बडा अर्थपूर्ण हो जाता है। सभवतः ज्येष्ठा विनायको की सजातीय ही प्रचलित लोक-विश्वास की एक स्त्री-देवता थी, और इसी कारण रुद्र के विनायक रूप से उसका साहचर्य रहा होगा। जब स्वय रुद्र का साहचर्य एक अन्य स्त्री देवता से हुआ जो उनकी पत्नी कहलाई, तब इस ज्येष्ठा का उस स्त्री देवता से तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि कुछ समय तक उसकी अलग उपासना होती रही, तथापि अन्त में उसको दुर्गा से अभिन्न माना जाने लगा और उसका नाम दुर्गा के अनेक नामो मे गिना जाने लगा। अत दुर्गा और ज्येष्ठा का यह तादात्म्य, रुद्र और विनायक के आदि तादात्म्य का एक और प्रमाण है।

हमारा यह निरीक्षण अब वैदिक काल के अन्त तक पहुँच गया है। इस अध्याय को समाप्त करने से पहले, हम सक्षेप मे यह देख ले कि उत्तर वैदिक काल मे, वैदिक रुद्र की उपासना मे कितने महान् परिवर्तन हुए थे।

सिन्धु-घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया। इसके फलस्वरूप, सिन्धु घाटी की स्त्री-देवता का रुद्र की पूर्व सहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसको रुद्र पत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार भारतवर्ष मे देवी की उपासना आई और शाक्तमत का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीको की उपासना, जो सिन्धु-घाटी के देवताओं की उपासना का एक अग थी, का भी रुद्र की उपासना मे समावेश हो गया। साथ ही 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी होने लगी। परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ मे यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था। इस प्रकार भारतवर्ष में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव धर्म का एक अग बन गई। दूसरी ओर उपनिषद् ग्रन्थों से पता चलता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नई धार्मिक और दार्शनिक विचार-धाराओ के प्रवर्तको मे हो रहा था, और य लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे। परन्तु रुद्र का स्वरूप प्रचलित लोक-धर्म और धार्मिक आचार में लगभग वही रहा जो प्राचीन वैदिक काल में था। परन्तु इसी समय भक्तिवाद का विकास भी द्रुतगति से हो रहा था और उसमें रुद्र को जो देवाधिदेव का पद दिया जा रहा था, वह भी अधिकाधिक लोगो के सामने आ रहा था। इसके साथ-साथ रुद्र के एक प्राचीन रूप के विकास के फलस्वरूप एक नये देवता का प्रादुर्भाव हुआ जिसको सूत्रों मे 'विनायक' कहा गया है, और जो अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। रुद्र और विनायक प्रारम्भ मे एक ही देवता के दो रूप थे। परन्तु इस बात की स्मृति धीरे-धीरे लुप्त हो गई, और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा।

रुद्र की उपासना की विधि मे भी महान् परिवर्तन हुआ। जिस समय उपनिषदो के दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण हो रहा था, उसी समय भक्तिवाद की धारा भी चली, जिसका एक सकेत हमें 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' मे मिलता है। इस भक्तिवाद ने इस देश की धार्मिक विचारधारा और आचार को बिलकुल ही पलट दिया। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का धीरे-धीरे ह्रास होता गया, और उसका स्थान प्रार्थना और देवता के चरणो मे सीधे-सादे उपहार रखने

की विधि ने ले लिया। सिन्धु-घाटी की धार्मिक परम्परा के प्रभाव से भारतवर्ष में देवालयों में पूजा करने की प्रथा चली और चूँकि यह प्रथा भक्तिवाद के अनुकूल थी, अत इसको तुरन्त ही अपना लिया गया। उमी समय से यह भारतवर्ष की धार्मिक परम्परा का एक स्थायी अग बन गई। अब रुद्र के मन्दिर बनने लगे, और उनमे रुद्र की मूर्तियों का प्रतिष्ठान होने लगा। ये मूर्तिया मानवाकार भी थीं और 'लिंगाकार' भी।

इस प्रकार वैदिक युग के समाप्त होते-होते रुद्र के उपासना के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया और मानो इसी परिवर्तन के प्रतीक स्वरूप रुद्र का नाम भी बदल गया तथा अब वह 'शिव' कहलाने लगे। वैदिक युग के अनन्तर साधारण रूप से उनका यही नाम हो गया।

चतुर्थ अध्याय

भारत मे अपर वैदिक काल के सबसे प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेख हैं—बौद्ध-साहित्य तथा 'पाणिनि' और 'कौटिल्य' के ग्रन्थ। जहाँ तक भगवान् शिव की उपासना का सम्बन्ध है, इन अभिलेखो में हमे कतिपय उल्लेखो के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। परन्तु इन उल्लेखो से उन निष्कर्षों की पुष्टि होती है, जिन पर हम पिछले तीन अध्यायो में पहुँचे थे। बौद्ध ग्रन्थ 'दीघ निकाय' में विष्णु और शिव दोनो का उल्लेख है, परन्तु उनकी उपासना के सम्बन्ध में कुछ नही कहा गया। प्राचीन 'तिपिटक' और 'जातक' ग्रन्थों में भी यही स्थिति है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे रुद्र और उनकी उपाधियो 'भव' और 'शर्व' का तो उल्लेख किया है[1], परन्तु उनके नये नामो, 'शिव', 'शकर' आदि का नही। परन्तु यह ग्रन्थ सूत्रों के समय से बाद का है, इसके अनेक सकेत मिलते हैं। ग्रन्थ में केवल 'रुद्र', 'भव' और 'शर्व' नामो से स्त्री-लिंग बनाने का नियम ही नही दिया गया[2], अपितु दो बार 'भक्ति'[3] और दो बार 'भक्त'[4] का उल्लेख भी किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो चुका था, बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस समय तक यह भक्तिवाद कुछ प्राचीन भी हो चुका था, क्योंकि एक सूत्र में कृष्ण और अर्जुन के भक्तो का उल्लेख किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इन दोनो को देवता माना जाता था और इनकी पूजा होती थी[5]। मूर्तियो और देवालयो का उल्लेख अष्टाध्यायी मे कहीं नहीं है, परन्तु उस समय वे रहे अवश्य होंगे।

पाणिनि के समय मे भगवान् शिव के विकसित स्वरूप का सबसे बड़ा प्रमाण वे सूत्र हैं जिनको 'माहेश्वर' कहा गया है और जो उनकी अष्टाध्यायी के ही नहीं, अपितु तत्कालीन सस्कृति के समस्त व्याकरण के आधार हैं। इन सूत्रों में सस्कृत वर्णों का एक विशेष ढग से वर्गीकरण किया गया है, जिससे प्रत्येक वर्ग का एक छोटा-सा नाम बन जाता है, जिसे प्रत्याहार कहते हैं[6]। इन प्रत्याहारो को लेकर ही वैयाकरण अपने सूत्रों की रचना करते थे। ये सूत्र महेश्वर अर्थात् भगवान् शिव के प्रकट किये हुए माने जाते हैं। और चूँकि इन सूत्रों में सस्कृत भाषा की सभी ध्वनियाँ अन्तर्हित हैं, अत ये सूत्र महेश्वर के दिये हुए हैं, इसका

---

१ अष्टाध्यायी १, ४६, ३, ५३, ४, १००।
२ ,, १, ४६।
३. ,, २, २१, ३, ६५।
४. ,, ४, ६८, ४, १००।
५ ,, ३, ६८।
६ ,, ये माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं—"अ इ उ (ण्), ऋ लृ (क्), ए ओ (ङ्), ऐ औ (च्), ह य व र (ट्), ल (ण्), ञ म ङ ण न (म्) झ भ (ञ्), घ ढ ध (ष्), ज ब ग ड द (श्), ख फ छ ठ थ च ट त (व्), क प (य्), श ष स (र्), ह (ल्)।"

अर्थ यह हुआ कि उस समय तक यह माना जाने लगा था कि मानव को
भगवान् शिव से ही मिली है[१]। यह शिव के स्वरूप के महान् उत्कर्ष का सूचक है
पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनन्तर हमें फिर ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व का
अर्थशास्त्र ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में दुर्गों के अन्दर बने शिव और अन्य दे
मन्दिरों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में और भ
ऐसी सामग्री है, जिससे पता चलता है कि उस समय तक देवालय और मूर्तिपूजा
में भारतीय धर्म का अंग बन चुके थे[१]।

ऊपर जिन ग्रन्थों की चर्चा की गई है, उनसे कोई और विशेष महत्त्व
नहीं मिलती। अतः अब हम अपर वैदिक काल में शैवधर्म सम्बन्धी अपनी जा
अगले स्रोत को लेते हैं। वह स्रोत है—रामायण और महाभारत।

रामायण और महाभारत में शैव-धर्म का काफी विकसित रूप दिखाई देता है
पौराणिक शैव धर्म के प्रायः सभी लक्षण वर्तमान हैं। परन्तु रामायण और महा
रचना-काल काफी लम्बा है, इसी कारण उसमें रुद्र की उपासना के प्राचीन और
दोनों रूप पाये जाते हैं। रामायण में महाभारत की अपेक्षा शैव धर्म का कु
प्राचीन रूप दिखाई देता है, अतः पहले हम रामायण को ही लेते हैं।

सूत्र ग्रन्थों की अपेक्षा रामायण में रुद्र का स्वरूप अत्यधिक विकसित है।
सामान्यतः अब रुद्र नहीं, अपितु 'शिव' कहा जाता है। 'महादेव', 'महेश्वर',
'त्र्यम्बक' और त्र्यम्बक के पर्यायवाची अन्य नामों का अब पहले की अपेक्षा बहु
प्रयोग होता है। भयावह 'रुद्र' से सौम्य 'शिव' नाम का परिवर्तन केवल ना
परिवर्तन नहीं है, अपितु इस देवता के स्वरूप में एक महान् परिवर्तन का वाह्य
और रुद्र के सौम्य करने की उस प्रक्रिया की सफल समाप्ति का सूचक है जो वै
में ही प्रारम्भ हो गई थी।

उपनिषद् ग्रन्थों में हमने देखा था कि नई धार्मिक और दार्शनिक विचा
सम्पर्क में आकर रुद्र के प्राचीन स्वरूप में कितना परिवर्तन आ गया था। 'श्वे
उपनिषद् में यह भी पता चलता है कि उसी समय भक्तिवाद का भी प्रादुर्भाव हो
और विष्णु और शिव को इस भक्तिवाद के आराध्य देव बनाया जा रहा था। इस
के मूल सिद्धान्त थे—ईश्वर में निष्ठा, और ईश्वर की दया तथा कृपा से मोक्ष प्राप्ति
सिद्धान्तों के प्रभाव से रुद्र के प्राचीन स्वरूप का भयावह अंश पीछे पड़ गया, और
सौम्य रूप अधिकाधिक सामने आता गया। जिस समय तक भक्तिवाद ने पूर्णरूप से
कर्मकाण्ड का स्थान लिया, उस समय तक रुद्र को भी एक सौम्य और दयावान्
रूप में और सच्चे अर्थ में 'शिव' माना जाने लगा था। रामायण में हम रुद्र
रूप देखते हैं। अब रुद्र वह देवता नहीं है, जिनके प्रकोप से और जिनके भयान

---

१ [illegible]

से सभी डरते थे, अपितु अब वे सदा ही मानवमात्र के कल्याण करने में लगे रहते हैं [१]। वे वरदाता हैं [२], आशुतोष हैं और दयानिधि हैं। उनका पद भी अब अत्यन्त उत्कृष्ट है। उपनिषदों में हमने देखा था कि रुद्र को दार्शनिक रूप से परब्रह्म माना जाता था। भक्तिवाद के उत्थान के साथ उनके इस रूप का भी अधिकाधिक प्रचार हुआ। प्राचीन वैदिक देवमण्डल का अब इतना ह्रास हो गया था कि वह प्रायः नगण्य था और उसके स्थान पर एक 'त्रिमूर्ति' का उत्थान हो रहा था। इस त्रिमूर्ति मे भी 'ब्रह्मा', प्रायः पीछे-पीछे ही रहते हैं, और विश्व के सक्रिय सचालन और नियत्रण के कार्य मे इनका स्थान त्रिमूर्ति के अन्य दो देवताओं, विष्णु और शिव की अपेक्षा कुछ घट कर है। जब-जब देवताओ पर कोई सकट पड़ता है, बहुधा ब्रह्मा देवताओ की ओर से इन्हीं दो देवताओ मे से किसी एक से साहाय्य याचना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं [३]। जहाँ तक विष्णु और शिव का सम्बन्ध है, अभी तक इन दोनो के बीच कौन श्रेष्ठ है, इसके लिए कोई सघर्ष नहीं होता था। दोनो के उपासक अपने-अपने देवताओं को श्रेष्ठ मानते थे, पर इसको लेकर एक दूसरे से झगड़ते नहीं थे। रामायण चूँकि एक वैष्णव ग्रन्थ है, इस कारण इसमे विष्णु को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु जहाँ-जहाँ शिव का प्रसग आया है, शिव को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उन्हे देवताओ मे सर्वोच्च और सर्वोत्तम तथा देवो के देव कहा गया है [४]। अमर लोक मे भी उनकी उपासना होती है [५]। प्रत्येक महान् सकट में देवतागण सहायता और परित्राण के लिए उन्हीं के पास दौड़े जाते हैं। एक बार तो स्वय विष्णु अन्य देवताओ को लेकर उनकी शरण में गये थे [६]।

भगवान् शिव का उपनिषदोवाला दार्शनिक स्वरूप रामायण मे अधिक नहीं मिलता। परन्तु उनको उस समय जो उत्कृष्ट पद प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि इसका ज्ञान तब अवश्य था। एक स्थल पर तो स्पष्ट रूप से शिव को जगत् की सृष्टि और अन्त करनेवाला, सब लोकों का आधार और पर गुरु कहा गया है [७]। एक अन्य स्थल पर उन्हें 'अमर', 'अक्षर' और 'अव्यय' माना गया है [८]। वास्तव में शिव का जो स्वरूप रामायण मे दिखाई देता है, उसको हम उनके दार्शनिक परब्रह्म स्वरूप का ही एक लोकप्रिय और सहजगम्य रूप मान सकते हैं।

शिव का योगाभ्यास के साथ जो सम्बन्ध पहले-पहल उपनिषदों मे दृष्टिगोचर होता

---

१ रामायण, बाल-काण्ड ३६. ६-१०।
२. ,, ,, . ५५, १३।
३. ,, ,, : ३६, ८।
४ ,, ,, . ४५, २२-२६, ६६, ११-१२; ६, १ १६, २७।
५. ,, ,, . १३, २१ और आगे।
६. ,, ,, . ४५, २३ और आगे।
७. ,, ,, . ६, २।
८. ,, ,, : ४, २६।

है, वह रामायण मे अधिक स्पष्ट हो जाता है। शिव की उपासना का और उनको प्रसन्न करने का सामान्य मार्ग अब तपश्चर्या ही है। 'भगीरथ' ने उनको इसी प्रकार तुष्ट किया [१] और 'विश्वामित्र' ने भी [२]। स्वय देवताओ को भी शिव से वरदान पाने के लिए तप करना पडता है [३]। असल मे तपश्चर्या और योग भारतवर्ष में एक स्वतत्र विज्ञान के रूप में विकसित हुए। भगवद्दर्शन और मोक्षप्राप्ति के लिए इनको अत्यन्त उपयुक्त समझा जाता था। यह भी विश्वास किया जाता था कि इनका अभ्यास करनेवाले को अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी कारण तपश्चर्या और योगाभ्यास को बडा गौरवमय पद दिया गया है। इनकी सहायता से मानव देवताओ से टक्कर लेते हैं, और दानव भी योगाभ्यास के बल मे देवताओ से वरदान प्राप्त करते थे। योग का उत्कर्ष यहाँ तक हुआ कि शिव तक को, जो स्वय योगाधिगम्य थे, योगाभ्यासी माना जाने लगा और वह महायोगी कहलाने लगे। इसको हम योग का चरमोत्कर्ष कह सकते हैं। रामायण के समय तक यह स्थिति आ चुकी थी, और एक स्थल पर हिमालय मे योगाभ्यास करते हुए भगवान् शिव का उल्लेख भी किया गया है [४]।

परन्तु रामायण मे सबसे अधिक ज्ञान हमे शिवोपासना के लोकप्रचलित रूप का होता है। शिव अब एक कल्याणकारी देवता तो माने जाते ही थे, साथ ही रुद्रपत्नी का भी अब उनके साथ निरन्तर उल्लेख होता है, और उनका भी अब एक विकसित व्यक्तित्व बन गया है। उनका एक नाम 'उमा' है [५] और उनको हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाता था [६]। यह वही देवता हैं, जिन्हें 'केन' उपनिषद् मे 'उमा हैमवती' कहा गया है। हिमवत् से सम्बन्ध होने के कारण इनका नाम पार्वती भी पड़ गया और आगे चलकर यह सबसे प्रचलित नाम हो गया [७]। एक बार इनको 'रुद्राणी' भी कहा गया है [८]। परन्तु, 'भवानी' नाम को छोडकर इस प्रकार के नामो का, जो रुद्र के अनेक नामो के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं, आगे चलकर बहुत कम प्रयोग होने लगा और इस स्त्री-देवता को सामान्यत उनके अपने नामो से ही पुकारा जाने लगा। इससे भी पता चलता है कि अधिकतर अन्य देवियो की तरह यह देवी केवल अपने पति रूप पुरुष-देवता की छाया-मात्र ही नहीं थी, अपितु उनका एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व था। शिव के समान ही भक्तिवाद के नम्र प्रभाव मे इनका भी आदिम भयावह रूप धीरे-धीरे लुप्त हो गया, ऐसा जान पडता है।

---

१ रामायण, बा० का० ४२, २३-२८।
२ ,, ,, ५५, १२।
३ ,, उ० का० १३, २१-२२।
४ ,, बा० का० ३६, २६।
५ ,, ,, ३५, १६-२१, ३६, १४-२०, ४३, २, उ० का० ४, २८-३०, १३, २२, ८६, ३२, ८७ १२-१६।
६ ,, बा० का० ३५, १६, ३६, २८, उ० का० ८७, ११।
७ ,, उ० का० ८, २७, १३, २३, ६, २६ ३०।
८ ,, ,, १३, २३।

कम-से-कम शिव की पत्नी के रूप में तो ऐसा अवश्य हुआ है, और तव यह देवी एक सौम्य कल्याणकारिणी और दयावती देवी वन गई। इसका यह अर्थ नही है कि उनका पद कुछ गिर गया हो। यद्यपि रामायण मे इनका अधिक उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि उनके उत्कृष्ट पद प्राप्त होने के अनेक सकेत रामायण मे मिलते हैं। इसी कारण उनको प्राय. 'देवी'[1] कहा जाता है और समस्त सृष्टि उनका सम्मान करती है[2]। देवतागण भी उनके सामने आँख उठाने का साहस नही कर सकते। रामायण की एक कथा के अनुसार एक वार दैवयोग से 'कुवेर' की दृष्टि उनके मुख पर पड़ गई, जिससे तत्क्षण कुवेर की आँख ही चली गई[3]। एक वार जव क्रुद्ध होकर उन्होने देवताओ को शाप दे दिया, तव देवता उनके शाप का निवारण करने मे असमर्थ रहे[4]। अत. जव कवि यह वर्णन करता है कि रावण के कैलास पर्वत को डुलाने पर पार्वती ने डरकर सहसा अपने पति का आलिंगन कर लिया, तव हँसी आती है। कवि की कल्पना नारी के स्वभाव-सुलभ भीरुपन को दिखाने मे यथार्थता को पीछे छोड़ गई है[5]।

रामायण मे देवी की शिव के साथ ही उपासना होती है, और जिस प्रकार भक्तजन भगवान् शिव से कल्याण की प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार देवी से भी करते हैं। वह हमेशा शिव के साथ ही रहती हैं, और इन दोनो को लेकर जिस उपासना का उत्थान हुआ, वही वेदोत्तर काल में शैव धर्म का सवसे अधिक प्रचलित रूप वना।

रामायण में शिव और पार्वती-सम्वन्धी उन देवकथाओं और आख्यानो का चक्र भी प्रारम्भ हो जाता है, जो शिवोपासना के लोकप्रचलित रूप का एक प्रमुख अग है, और जिसका पुराण-काल मे भारी विस्तार हुआ है।

यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि वैदिक काल मे जो कथाए रुद्र के सम्वन्ध मे प्रचलित थीं, उनमें से वहुत कम अव तक शेष रह गई। रुद्र का शिवरूप मे परिवर्तन इतना पूर्ण था कि उनका नाम, स्वरूप और उपासना के तरीके तो वदल ही गये, इसके साथ उनके सम्वन्ध में जिन देवकथाओं का प्रादुर्भाव हुआ, वे भी वदल गई। यद्यपि अव हमें एक नवीन देवकथा-चक्र का अध्ययन करना पड़ता है, तथापि इनमें कुछ कथाओ का वीज हमे वैदिक साहित्य मे मिल सकता है। कुछ कथाओं का आधार तो वैदिक रुद्र का ही एक रूप विशेष है, जिसकी स्मृति तक शेष थी। ये ही कथाएँ वैदिक रुद्र और वेदोत्तरकालीन शिव में सम्वन्ध स्थापित करती हैं, और हमें इस वात का स्मरण कराती हैं कि ये दोनो मूल रूप से एक ही देवता थे। इसका एक प्रमुख उदाहरण है कैलास पर्वत पर शिव का आवास का होना[6]। यह वैदिक रुद्र के, उत्तर दिशा के साथ, सम्वन्ध का

१. रामायण, वा० का० ३६, ६, १०, २६, उ० का० १३, २२- ३०, ८७, १३।
२. ,, ,, ३५, २१।
३. ,, उ० का० : १३, २२-२५।
४. ,, वा० का० ३६, २१-२५।
५ ,, उ० का० · १६, २६।
६. ,, वा० का० . ३६, २६; उ० का० १६, १ और आगे।

विकासमात्र है। दुर्भाग्यवश कोई ऐसा अभिलेख उपलब्ध नहीं है, जिनके द्वारा हम इन देवकथाओं का पूर्व इतिहास जान सकें और इनके आदिम स्रोत तक पहुँच सकें।

रामायण में इन कथाओं में से अधिकतर अपने विकसित रूप में ही पाई जाती हैं, और कुछ का रूप तो लगभग वैसा ही हो गया है जैसा कि पुराणों में मिलता है। अतः हमको इतने पर ही संतोष करना पड़ेगा कि हम इन कथाओं का अध्ययन करें और इनके इसी रूप में ऐसे सुराग ढूँढें जिससे इनकी उत्पत्ति का पता चल सके।

इनमें से पहली कथा तो भगवान् शिव के विषपान की है[1]। यह कथा देवताओं द्वारा सागर-मन्थन की बृहत् कथा का एक भाग है, जिसका रामायण में संक्षेप से ही उल्लेख किया गया है। देव और दानव, मन्दार पर्वत को रई (मथनी) बना कर और नाग वासुकि को रज्जु बनाकर जब दीर्घ काल तक सागर का मन्थन करते रहे, तब वासुकि के मुख से और मन्दार पर्वत की चट्टानों से हलाहल टपकने लगा, जिससे समस्त सृष्टि और स्वयं देवों तथा दानवों के भस्मसात् हो जाने का संकट उत्पन्न हो गया। भयभीत हो देवतागण शिव के पास गये, और देवताओं की ओर से विष्णु ने उनसे प्रार्थना की कि वह सागर-मन्थन के प्रथम फल के रूप में इस हलाहल को ग्रहण करें। इसपर भगवान् शिव उस भयंकर विष को इस प्रकार पी गये, मानो वह अमृत हो। कवि ने यहाँ यह वर्णन नहीं किया कि जब वह हलाहल शिव के कण्ठ में पहुँचा, तब देवताओं की विनती पर उन्होंने उसे वहीं रोक लिया, जिससे उनका कंठ नीला पड़ गया। परन्तु कथा के इस भाग का ज्ञान उस समय भी अवश्य रहा होगा, क्योंकि महाभारत में इसका अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया गया है। इस कथा की उत्पत्ति निःसन्देह वैदिक रुद्र की 'नील ग्रीव,' 'नील-कंठ' उपाधि का समाधान करने के फलस्वरूप हुई थी। इन उपाधियों के मूल अर्थ को लोग भूल गये थे, परन्तु चूँकि उपाधियाँ स्वयं अभी तक चली आ रही थीं, अतः उनको समझाने के लिए ही यह कथा रची गई।

एक अन्य कथा है—गंगावतरण की[2]। इसकी उत्पत्ति का हम ऊपरवाले ढंग से समाधान नहीं कर सकते। भगीरथ अपने पूर्वज सगरपुत्रों के उद्धार के लिए गंगा को स्वर्ग से उतार कर पृथ्वी पर लाना चाहते थे। उनकी भक्ति और प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने गंगा के प्रपात को रोकने के लिए, उसे पृथ्वी पर पहुँचने से पहले, अपने सिर पर लेना स्वीकार कर लिया। अपने अभिमान में गंगा ने चाहा कि भगवान् शिव को भी अपने साथ बहा ले जायँ और पाताल लोक में पहुँचा दें। गंगा के अभिमान-मर्दन के लिए शिव ने उसकी धारा को अपनी जटाओं में ले लिया, और उन जटाओं के जंगल में गंगा ऐसी खोई कि लाख प्रयत्न करने पर भी बाहर निकलने का कोई मार्ग न पा सकी। इस प्रकार गंगा का अभिमान चूर हो जाने पर, और भगीरथ के सानुरोध अनुनय करने पर, अन्त में शिव ने उसे मुक्त कर दिया। यहाँ इस कथा का प्रयोजन स्पष्ट रूप से शिव की महत्ता प्रदर्शन ही है, परन्तु वास्तव में इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका पता नहीं। संभव है कि जिस गंगा नदी को

१. रामायण, बा० का० ४५, १८-२६।
२　　"　　　"　　४२-४३।

पृथ्वी पर देवतास्वरूप माना जाता है, और जिसके उद्गम का शायद उस समय तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं था, उसका उचित स्थान-निर्देश करने के लिए इस कथा की रचना हुई हो।

शिव सम्बन्धी अन्य कथाएँ शिव और पार्वती के साहचर्य के कारण बनी। इनमें सबसे प्रमुख वह है—जो इसी साहचर्य का समाधान करती है। देवताओं के स्वरूप का अत्यधिक मानवीकरण हो जाने के कारण यह आवश्यक था, और सहज व्यावहारिक तर्क की यह माँग भी थी कि किसी देवता को अगर पत्नी मिले तो वह सामान्य परिणय-विधि द्वारा ही उसे प्राप्त करे। जहाँ तक भगवान् शिव का सम्बन्ध है, उनके विषपान की कथा के समान ही उनके विवाह की कथा भी एक बृहत् कथा का भाग है, परन्तु उसका वास्तविक प्रयोजन बिलकुल स्पष्ट है। उसकी उत्पत्ति का ज्ञान भी सहज ही हो सकता है, क्योंकि जब पार्वती को हिमवत् की पुत्री माना जाने लगा, और शिव का वास भी उसी पर्वत मे, तब कथा के शेष अंशों की पूर्ति एक सहज-सी बात थी। रामायण मे इस कथा का, केवल एक बार संक्षिप्त रूप मे ही, उल्लेख किया गया है[1]। इसमें कथानक इस प्रकार है कि उमा ने शिव को वर रूप में पाने लिए तपस्या की, और उसके पिता ने यथासमय उसका विवाह शिव से कर दिया। बाद मे इस कथा का विस्तार हुआ और इसमे अनेक दूसरी बातो और घटनाओ का समावेश किया गया। यहाँ तक कि यह कथा महाकाव्यो का कथानक बनने के योग्य हो गई। इनमे से एक घटना है—मदन-दहन। इसकी सम्भवतः एक अपनी कथा थी, और इसकी रचना, शिव के आदर्शयोगी रूप पर जोर देने और शायद कामदेव की 'अनग' उपाधि का समाधान करने के लिए की गई थी। इसका उल्लेख रामायण के एक अन्य स्थल पर भी हुआ है[2]। यही शायद इसका आदिरूप भी है, क्योंकि इसमे वे नाटकीय अश नही हैं, जो इस कथा के अन्य सस्करणा मे पाये जाते हैं। कुछ और बातो मे भी यह कथा उनसे भिन्न है। इस कथा के अनुसार कामदेव ने, जो पहले सशरीर था, विवाह के उपरान्त अपनी पत्नी के साथ विचरते हुए शिव को रोकने की उद्दण्डता की। परन्तु शिव के तृतीय नेत्र के प्रचण्ड क्रोधानल से वह भस्मसात् हो गया। इस कथा से शिव को 'कामारि' की एक नई उपाधि मिली[3]।

शिव और पार्वती के विवाह की कथा के सिलसिले मे ही स्कन्द के जन्म की कथा भी रामायण मे दी गई है। सूत्र-ग्रन्थो मे इस देवता का उल्लेख हो चुका है। परन्तु वहाँ उसके और शिव के सम्बन्ध का कोई वर्णन नहीं किया गया। रामायण मे इस कथा के दो भिन्न रूप हैं, परन्तु दोनो आपस मे कुछ मिल जुल भी गये हैं। पहले रूप में कथा इस प्रकार है कि शिव और पार्वती की रति-लीला जब अतिदीर्घकाल तक चलती रही, तब देवतागण घबरा गये। वे ब्रह्मा को अग्रणी बना शिव के वास पर पहुँचे, और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वह पार्वती से अपनी कोई सन्तान उत्पन्न न करें, क्योंकि ऐसी सन्तान के तेज को त्रिलोक में कोई सहन नहीं कर सकेगा। शिव ने प्रार्थना स्वीकार की; परन्तु उनका जो बीज

१ रामायण, बा० का० ३५, १३-२०।
२. ,, ,, २३, १० और आगे।
३ ,, उ० का० : ६, ३ इत्यादि।

विलुप्त हो चुका था, उसके लिए कोई उपयुक्त पात्र माँगा। देवताओ ने पृथ्वी को इस कार्य के लिए राजी किया, और जब शिव के बीज ने समस्त पृथ्वी को व्याप्त कर लिया, तब अग्निदेव उस बीज मे प्रवेश कर गये। इसपर उस बीज ने एक श्वेत पर्वत का रूप धारण कर लिया, जिसपर एक शर-वण था और इसी वन मे स्कन्द का जन्म हुआ। परन्तु देवताओ के इस असामयिक विघ्न डालने से पार्वती को बहुत रोष आ गया, और इन्होने देवताओ को शाप दिया कि वे सदा निःसन्तान रहेगे[1]। इस कथा का दूसरा रूप अगले खड मे दिया गया है, और एक प्रकार से कथा के पहले रूप को ही आगे बढाता है। क्योकि, जब पार्वती के शाप से देवताओ की अपनी कोई सन्तान न हो सकी, तब उन्होने गगा को अग्नि से पुत्र उत्पन्न करने के लिए कहा, जो उनके शत्रु-दानवो का सहार कर सके। गगा राजी हो गई, परन्तु अग्नि के बीज को सहन न कर सकी। उसने उसे हिमालय पर्वत पर डाल दिया, जहाँ वह भ्रूण रूप मे बढता रहा, और उचित समय पर 'स्कन्द' का जन्म हुआ। इस नवजात शिशु को कृत्तिकाओ ने पाया तथा पाला-पोसा, और इसी कारण उसका 'कार्तिकेय' नाम भी पडा[2]। अब यहाँ देखना यह है कि कथा के दोनो ही रूपो मे शिव का असली पुत्र 'स्कन्द' नही है। दूसरे रूप में तो उसका शिव से कोई सम्बन्ध ही नही है और उसको अग्नि का पुत्र माना गया है। पहले रूप मे भी अग्नि ही 'स्कन्द' का अव्यवहित जनक है, यद्यपि जिस बीज से स्कन्द का जन्म हुआ, वह शिव का ही था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जब स्कन्द को, शिव का पुत्र नहीं, अपितु 'अग्नि-सम्भव' अर्थात अग्नि से उत्पन्न बतलाया गया है, तब ऐसा जान पडता है कि प्रारम्भ मे 'स्कन्द' को शिव का पुत्र नही माना जाता था। वह अग्नि का पुत्र था और सम्भव है कि वह सूर्य-सम्बन्धी कोई देवता रहा हो। जब हम महाभारत का निरीक्षण करेगे तब यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी और वहाँ हमें तो इस कथा का वह आदि रूप ही नही मिलता है। वहा इस कथा के विकास की विभिन्न अवस्थाओ से हमारा परिचय होता है, और हमे यह भी पता चलता है कि क्यो स्कन्द को शिव के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया?

इन कथाओ के अतिरिक्त रामायण मे कई अन्य कथाओ के प्रसग भी आये हैं। अत. इनका भी उस समय तक प्रादुर्भाव हो गया होगा। दक्ष-यज्ञ की कथा का एक बार उल्लेख किया गया है[3] और एक बार शिव द्वारा 'अन्धकवध' का भी उल्लेख हुआ है[4]। इसके अतिरिक्त 'त्रिपुरारि' और इसकी पर्यायवाची शिव की अन्य उपाधियो के उल्लेख मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिव द्वारा दानवो के तीन पुरो के ध्वस की कथा भी उस समय तक प्रचलित हो गई थी[5]। श्री गोरेसियो

१ रामायण, बा० का० ३६, ५-२७।
२ ,, ,, ३७, २३-२५।
३. ,, ,, ६६, ६।
४ ,, अर० का० ३५, ६३।
५ ,, या० का० ७५, १२, ४, २८, ६, ३।

द्वारा प्रकाशित रामायण मे तो इस कथा के दो प्रत्यक्ष उल्लेख भी हैं [१]। इन कथाओ का वि-तृत विवेचन हम 'महाभारत' का निरीक्षण करते समय करेंगे।

भगवान् शिव का एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण रूप अभी देखना शेप है। वह है—देवताओ और मनुष्यो द्वारा ही नही, अपितु इन दोनों के शत्रु मानेजानेवाले दानवो द्वारा भी शिव की उपासना। उदाहरणार्थ रावण का जब एक बार अभिमान टूट चुका, तब वह शिव का भक्त हो गया [२]। विद्युत्केश दानव को पार्वती ने गोद लिया था और शिव ने उसे अमरत्व का वरदान दिया था [३]। एक अन्य स्थल पर कहा है कि देवताओ के प्रार्थना करने पर भी शिव ने दानवो का सहार करने से इनकार कर दिया, क्योंकि वह पहले ही दानवों का सहार न करने का वचन दे चुके थे [४]। इससे शिव का दानवों के साथ कुछ निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है, और इस वात मे वह विष्णु से विलकुल विपरीत है। विष्णु ने कभी किसी दानव को कोई वर नहीं दिया और न किसी दानव ने ही कभी विष्णु की उपासना की। वह हमेशा देवताओं के पक्षपाती और दानवो के सहारक रहे हैं। शिव ने जव देवताओ की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया, तव विष्णु ने उनके कार्य को अपने ऊपर लिया। यह अन्तर इन दोनों देवताओं मे एक मौलिक भेद का परिचायक है, यद्यपि इनकी उपासना का विकास समान प्रकार से हो रहा था, और आगे चल इन दोनो का तादात्म्य भी हो गया। यह अन्तर इन दोनो देवताओ के आदि-स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। विष्णु प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप से आर्यों के देवता थे। प्रारम्भ से ही उनकी उपासना आर्य-जाति के उच्च वर्गों मे होती थी और वहुत शीघ्र ही ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड से भी उनका यथेष्ट सम्पर्क हो गया। यहाँ भी उनका महत्त्व वढता ही गया और उनको मानो यज्ञ का प्रतीक माना जाने लगा [५]। जनसाधारण मे विष्णु की उपासना अधिक नहीं होती थी। इसके अलावा विष्णु का ब्राह्मण पुरोहितों के कर्मकाण्ड के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने से विष्णु के स्वरूप मे अथवा उनकी उपासना मे किसी विदेशी अंश का समावेश न हो सका। कर्मकाण्ड के उत्थान के साथ यज्ञ को उनका मूर्त-स्वरूप माना जाने लगा और इसी से विष्णु की वह दशा नहीं हुई जो अन्य देवताओ की हुई। जैसे-जैसे अन्य देवताओं के महत्त्व का ह्रास होता गया, विष्णु आर्यों के प्रधान देवता वनते गये, और इसी नाते उनके शत्रुओं के संहारक भी, जिनको देवकथाओ में दानवो का रूप दिया गया है, आर्यों के प्रधान देवता वन गये। परन्तु रुद्र की यह स्थिति नहीं थी। उनका लोकप्रिय स्वरूप और प्रचलित लोक-विश्वासों से उनका घनिष्ठ सम्वन्ध हम देख ही चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि अपने इस लोकप्रिय रूप के फलस्वरूप रुद्र ने आर्येतर जातियो के अनेक देवताओ को आत्मसात् कर लिया, और इन जातियो को आर्य जाति के साथ मिलाने

---

१ रामायण, (गोरेसियो सस्करण) ४, ५, ३०, ६, ५१, १७।

२ ,, उ० का० १६, ३४ और आगे।

३ ,, ,, ४, २९।

४ ,, ,, ६, ३ और आगे।

५ 'विष्णुर्वै यज्ञ'।

की सुविधा के लिए इनको आर्य-देवता रुद्र का उपासक माना जाने लगा। इन जातियों का तो धीरे-धीरे आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो गया, परन्तु इनके प्रारम्भ में आर्येतर होने की स्मृति देवकथाओं में बनी रही। यही कारण था कि इन देवकथाओं में दानवों को शिव का उपासक माना गया है। रामायण में शिव दानवों की उपासना स्वीकार करते हुए और उन्हें वरदान देते हुए पाये जाते हैं। हमें इसको उस प्राचीन काल की स्मृति समझना चाहिए। जब दानव, विभिन्न आर्येतर जातियों के अपने आदिम मानवरूप में, शिव की उपासना करते थे और उनसे कल्याण के लिए प्रार्थना करते थे। इस प्रकार शिव मनुष्यों और सुरों के ही देवता नहीं थे, अपितु दानवों के भी उपास्यदेव थे। शिव की इस अद्वितीय महत्ता को लेकर उनके उपासकों ने उनका पदोत्कर्ष किया। वही एक ऐसे देवता थे, जिन्हें सारी सृष्टि—देव और दानव—पूजते थे। स्वयं विष्णु भी यह दावा नहीं कर सकते थे। इसी कारण शिव-भक्तों ने शिव को ही देवाधिदेव और परम परमेश्वर माना। केवल एक देवता ब्रह्मा भी थे, जिनकी उपासना देव और दानव दोनों करते थे। परन्तु ब्रह्मा के इस प्रकार पूजे जाने के कारण बिलकुल भिन्न और अपेक्षाकृत बड़े सरल थे। चराचर के स्रष्टा के रूप में उनकी कल्पना की गई है। उन्होंने जहाँ देवों की सृष्टि की, वहाँ दानवों और मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों की भी। इसी तथ्य को प्रजापति और उनकी दो पत्नियों, दिति और अदिति, की कथा में लक्षण रूप से दर्शाया गया है। दिति से दैत्य और अदिति से आदित्य और अन्य देवता उत्पन्न हुए। ईसाई देवकथाओं में भी इसी प्रकार का एक उदाहरण मिलता है कि शैतान और उसके अनुयायी प्रारम्भ में ईश्वर के दरबार के फरिश्ते थे। देवों और दानवों के समान स्रष्टा होने के नाते, दोनों के द्वारा ब्रह्मा की उपासना होनी स्वाभाविक ही थी। परन्तु ज्यों-ज्यों विष्णु और शिव का महत्त्व बढ़ने लगा, त्यों-त्यों ब्रह्मा का महत्त्व घटता गया और अन्त में लुप्तप्राय हो गया। यद्यपि प्राचीनता के नाते ब्रह्मा की गणना 'त्रिमूर्ति' में होती रही, परन्तु वास्तव में भगवान् शिव ही एक ऐसे देवता रह गये जिनको यथार्थ में 'सर्वेश' कहा जा सकता था।

रामायण में शिव के स्वरूप और उनकी उपासना के प्रमुख अंशों का उल्लेख मिलता है। साथ-साथ इन्हीं के सम्बन्ध में अनेक छोटी-मोटी बातों का भी पता चलता है। प्रथम तो रामायण में शिव की दो नई उपाधियाँ दी गई हैं, 'हर'[1] और 'वृषध्वज'[2]। पहले नाम की व्युत्पत्ति 'हृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है—'ले जाना'। जान पड़ता है कि प्रारम्भ में यह उपाधि अग्नि की थी, क्योंकि उसको देवताओं के लिए बलि ले जानेवाला माना जाता था। जब रुद्र और अग्नि का तादात्म्य हुआ, तब सम्भवतः यह उपाधि अग्नि से बदलकर रुद्र को दी जाने लगी और कालान्तर में यह उपाधि शिव के सबसे अधिक प्रचलित नामों में से एक हो गई। दूसरी उपाधि का इतिहास भी रोचक है। संहिताओं में हम देख आये हैं

---

[1] रामायण, बा० का० ४३, ६, उ० का० ४, ३२, १६, २७, ८७, ११। यह उपाधि 'आश्वलायन गृह्य-सूत्र' में भी एक बार शिव को दी गई है—४, १०।

[2] ,, यु० का० ११७, ३, उ० का० १६, ३५, ८७, १०।

कि 'वृषभ' अथवा 'वृष', रुद्र की एक सामान्य उपाधि थी। इन शब्दों का व्यावहारिक अर्थ 'बैल' है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उत्तर वैदिक साहित्य में भी यह शब्द रुद्र की उपाधि मात्र ही रहा, और रुद्र के सम्बन्ध में इसका शाब्दिक अर्थ 'वर्षयिता' अर्थात् वर्षा करनेवाला किया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ लोग भूल गये, और इसके व्यावहारिक अर्थ को ही लेकर उन्होंने वृषभ को शिव का वाहन मानकर इस उपाधि का समाधान किया। तदनन्तर शिव के मन्दिरों पर जो पताकाएँ फहराई जाती थीं, उनपर सम्भवतः इस वृषभ के चित्र बनने लगे, और इस प्रकार, शिव को 'वृषभध्वज' की नई उपाधि मिली।

रामायण मे ही प्रथम बार शिव के परिचर 'नन्दी' का भी उल्लेख किया गया[1]। उसको कराल आकृतिवाला, कृष्ण पिंगल वर्ण का, वामनाकार, छोटी-छोटी बाहोंवाला, परन्तु महाबली, विकट रूप और मुण्डी कहा गया है। उसका यह रूप हूबहू रुद्र रूप में शिव के प्राचीन अनुचरों-जैसा है, जो अब 'गण' कहलाते थे। नन्दी की एक उपाधि 'मुण्डी' से ऐसा जान पड़ता है कि शिव के कुछ उपासक ऐसे संन्यासी थे जो अपने केश मुड़ा देते थे। अपर काल में तो इस केश-मुडन का आम प्रचलन हो गया। अतः नन्दी और गण हमें शिव के उस प्राचीन रूप की याद दिलाते हैं जब प्रचलित लोक-विश्वास के विचित्र रूपधारी अलौकिक जीवों के वे दल नेता थे। उनके स्वरूप में महान् परिवर्तन हो जाने पर भी इन जीवों का सम्बन्ध उनसे बना ही रहा।

शिव के इसी प्राचीन रूप की ओर रामायण में एक और स्थल पर भी सकेत किया गया है, जहाँ शिव के 'भैषज्य' को सर्वोत्तम माना गया है[2]। एक अन्य स्थल पर हम शिव के स्वरूप का एक नया पहलू देखते हैं, जिसकी पहले कहीं चर्चा नहीं हुई है[3]। यहाँ कहा गया है कि एक बार शिव पार्वती-सहित अपने अनुचरों को साथ ले वन में विहार करने गये। वहाँ पार्वती के विनोदार्थ शिव ने स्त्री-रूप धारण कर लिया और इसके फलस्वरूप उस प्रदेश के प्रत्येक पुरुषसत्व का, यहाँ तक कि पुरुष नामवाले वृक्षों का भी, उसी प्रकार स्त्री-रूप हो गया। तब शिव, पार्वती और उनके सब अनुचर मस्त होकर वन-विहार और आमोद-प्रमोद करने लगे। उसी समय जब 'इल' नामक राजा दैवयोग से उस प्रदेश में आ गये तब तत्क्षण वे भी स्त्री-रूप हो गये। तभी से उनका नाम 'इला' पड़ा। शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रामायण मे 'लिंग' का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय लिंगोपासना का अस्तित्व नहीं था। वास्तव में रामायण से हमें शिव की उपासना के सम्बन्ध मे, वह सच्ची भक्ति से प्रसन्न होते थे और तपश्चर्या द्वारा उनसे वरदान प्राप्त किये जा सकते थे, इसके सिवा बहुत-कुछ पता नहीं

---

१. रामायण, उ० का० . १६, ८।

२. ,, ,, . ९०, १२। ऋग्वेद में रुद्र को भिषक् और 'भिषक्तम्' कहा गया है।

३. ,, ,, : ८७, १२-१५।

लगता। किसी शिव मन्दिर का अथवा शिव की मूर्त्ति तक का रामायण में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'रामायण' भक्तिवाद का विकसित रूप है, और भक्तिवाद के प्रभाव से शिव का स्वरूप बिलकुल बदल गया था। पिछले अध्याय में हम यह भी देख चुके हैं कि भारत मे मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण भक्तिवाद के विकास के साथ-ही साथ हुआ, अत. हमारा यह मानना युक्तिसगत ही होगा कि रामायण के समय तक मन्दिर मे पूजा करने की प्रथा का प्रादुर्भाव हो चुका था, और शिव की मूर्त्तियाँ भी बनाई जाती थी और उनकी उपासना होती थी।

रामायण-महाभारत युग मे रुद्र और शिव के स्वरूप और उनकी उपासना के विषय मे हमे रामायण की अपेक्षा महाभारत से बहुत अधिक जानकारी प्राप्त होती है। महाभारत के विभिन्न कालो में एक से अधिक सस्करण हो चुके हैं, अतः हो सकता है कि शिव-सम्बन्धी प्रसग सब एक ही समय के न हो। परन्तु सब मिलाकर इन प्रसगो से, उस युग मे, रुद्र और शिव की उपासना के विषय मे हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस युग मे रुद्र-शिव की उपासना के दो रूप हैं—एक दार्शनिक और दूसरा लोक-प्रचलित। यद्यपि महाभारत में इन दोनो रूपो को इस ढग से पृथक् नहीं माना गया है, और यह भी सत्य ही है कि शिव की उपासना के लोकप्रचलित रूप पर उसके दार्शनिक रूप का भी काफी प्रभाव पडा है। फिर भी सुविधा इसी में होगी कि हम पहले इन दोनो रूपो का अलग-अलग निरीक्षण करें, और फिर समष्टि रूप से यह देखें कि उस काल मे शिवोपासना का क्या रूप था?

दार्शनिक रूप मे शिव को अब परब्रह्म माना जाता था। वह असीम हैं, अचिन्त्य हैं, विश्वस्रष्टा हैं और विश्व को अपनेमे समाये हुए हैं। वह परम हैं और उनसे परे कुछ भी नहीं है। वह महाभूतो के एकमात्र उद्गम और एक मात्र आधार हैं, वह नित्य, अव्यक्त और कारण हैं[1]। एक होते हुए भी उनके अनेक रूप हैं[2]। वह सबमें व्याप्त हैं, और सबके उद्गम हैं। वह विश्व के आदि हैं, और उन्हीं मे विश्व का विलय होता है। सृष्टि के विलयकर्ता के रूप मे उनको 'कालरुद्र' कहा गया है[3]। इस प्रकार जो स्थान उनको 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' मे दिया गया है, उसको यहाँ पूर्णरूप से मान्यता दी गई है, और शिव का पद अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचता है। परन्तु अब तक भी इस सम्बन्ध मे शिव और विष्णु मे कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी और एक स्थल पर दोनो को स्पष्ट रूप से समान कहा गया है[4]। हां, उनके अपने उपासकों ने अन्य सब देवताओ

---

१ महाभारत, द्रोण० ७४, ५६, ६१, १६६, २६, और अनुशासनपर्व २२, १५८।

२ ,, कर्ण० . २४, ६२, ६४।

३ ,, अनु० २२, १६६, २२, १८८, ६०।

४ ,, अनु० ११२, ५३।

को छोडकर केवल उनको ही सर्वश्रेष्ठ मानना शुरू कर दिया था[1]। स्वयं विष्णु अपने कृष्णावतार रूप में कई वार शिव की महिमा का गान और उनकी उपासना तक करते हुए दिखाये गये हैं[2]। परन्तु विष्णु-भक्तों ने विष्णु के सम्बन्ध में भी यही किया और इस प्रकार इन दोनों देवताओ मे एक साम्य-सा स्थापित हो गया था। जिस समय जिस देवता की उपासना होती थी, उस समय उसी को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वास्तव में यह वही संहिताओं वाली प्रथा है, जिसके अनुसार प्रत्येक देवता को उसका स्तवन करते समय सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वैदिक देवतागण मे से विष्णु और शिव इन्हीं दो देवताओ का, वेदोत्तर काल मे, उत्कर्ष हुआ और अब यह प्राचीन प्रथा इन्हीं दो देवताओ के सम्बन्ध मे प्रचलित थी। परन्तु अन्त में इस प्रथा का स्वाभाविक परिणाम इन दोनो देवताओं का तादात्म्य हो जाना ही था। शिव और विष्णु दोनो के उपासक, यद्यपि उनके मार्ग अलग-अलग थे, अब एक ही एकेश्वरवाद की स्थिति पर पहुँच गये थे और उसी एक ईश्वर को एक दल शिव और दूसरा दल विष्णु कहता था। इससे असली अवस्था—केवल इसी वात—को समझना था कि इन देवताओं के इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ माने जाने पर दोनों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं रह जाता। पुराणो के समय तक यह अवस्था भी आ गई थी, परन्तु रामायण-महाभारत में इन दोनो देवताओ का कभी स्पष्ट रूप से तादात्म्य नहीं किया गया है और साधारणतया इनको एक नहीं माना गया है। फिर भी उस समय उपनिषदो की परम्परा तो काफी प्रवल रही होगी और हम यह कह सकते हैं कि उस समय भी कम-से-कम कुछ लोग इन दोनो की एकता को समझते होगे।

शिव के परब्रह्म स्वरूप के प्रदुर्भाव के साथ-साथ उनका साख्य से भी सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध की पहली झलक हमने उपनिषदो में देखी थी। महाभारत मे इसकी स्मृति शेष है और अनेक वार शिव का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह साख्य को अपने द्वारा जानते हैं[3]। एक स्थल पर शिव को स्वय साख्य कहा गया है[4] और जो लोग साख्य के सिद्धान्तों के विशेषज्ञ हैं तथा तत्त्वो और गुणो का ज्ञान रखते हैं, वही शिव को पाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। शिव का साख्य के साथ यह सम्बन्ध सम्भवत किस कारण हुआ, यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। परन्तु साख्य के पुरुष का जो स्वरूप 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' मे है, वह वेदोत्तर-कालीन, साख्य दर्शन के पुरुष से कुछ भिन्न है, और वेदान्त के ब्रह्म के अधिक निकट है। शिव का साख्य से सम्बन्ध इस औपनिषदिक पुरुष के रूप में हुआ था। उनका यह रूप वाद मे भी वना रहा और महाभारत में हम देखते हैं कि उनका स्वरूप वेदोत्तर-कालीन साख्य के पुरुष की अपेक्षा वेदान्त के ब्रह्म से अधिक मिलता है। इसी कारण शिव का साख्य के साथ, जो प्राचीन सम्बन्ध था, वह धीरे-धीरे क्षीण होता गया और अन्त मे विलकुल ही लुप्त हो गया।

---

१. महाभारत, अनु० २२।
२. ,, द्रोण० : ७४, १६, ५१, १६६, २९ और आगे।
३. ,, कर्ण० २४, ६१—'य साख्यमात्मना वेत्ति'।
४. ,, अनु० २३, ४३।

महाभारत मे इस सम्बन्ध की स्मृति तो अवश्य बनी है, परन्तु साथ-साथ इस सम्बन्ध के क्रमश विच्छेद के भी सकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल पर यह कहा गया है कि शिव एक दार्शनिक जिज्ञासु का रूप धर साख्य दर्शन और साख्य पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने 'सनत्कुमार' ऋषि के पास गये [१]। यहाँ साख्य को बडा ऊँचा पद दिया गया है। इसको वह सन्मार्ग बताया गया है, जिसपर चलकर सनत्कुमार-जैसे महर्षियो ने मोक्ष प्राप्त किया। शिव अपने सम्बन्ध मे कहते हैं कि वह अबतक 'ऐश्वर्य' और 'अष्टगुण' के 'वंकृत' और 'क्षर' मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं। 'ऐश्वर्य' का यहाँ अर्थ ईश्वर का मार्ग प्रतीत होता है और इसका आशय सम्भवत भक्ति-मार्ग के एकेश्वरवाद से है, जिसका प्रचार शैव और वैष्णव दोनों मत कर रहे थे। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि साख्य को यहाँ 'प्राकृत ज्ञान' अर्थात् प्रकृति का ज्ञान कहा गया है [१]। इससे पता चलता है कि इस समय तक प्रकृति की कल्पना साख्य शास्त्र का एक प्रमुख अग बन गई थी, और इसकी एक विशेषता थी। इसी सदर्भ के अन्तिम दो पद्यो मे कहा गया है कि शिव और अन्य देवताओ ने साख्य का सच्चा मार्ग छोड दिया था तथा वे असत् मार्ग पर चलने लगे थे। शिव और साख्य के इस विभेद से प्रसगवश यह भी पता चलता है कि यह सदर्भ अपेक्षाकृत बाद का है।

शिव का योग के साथ जो सम्बन्ध था, वह भी उनके दार्शनिक स्वरूप का ही एक अग माना जा सकता है। इस सम्बन्ध की उत्पत्ति हम पिछले अध्याय मे बता ही चुके हैं। रामायण महाभारत के समय तक योग और तपश्चर्या भगवत्-प्राप्ति के प्रमुख साधन माने जाने लगे थे। महाभारत में तो इसको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है[३]। वह योगियो के परम पुरुष हैं[४]। वह आत्मा का योग और समस्त तपश्चर्याएँ जानते हैं[५] और स्वय महायोगी हैं[६]। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कई स्थलो पर विष्णु को भी 'योगेश्वर' कहा गया है[७]। इससे पता चलता है कि महाभारत के समय तक विष्णु की उपासना मे भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, क्योकि कोई मत भी इसके बढते हुए महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

अब हम शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप की ओर आते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि शिव के विभिन्न अनुयायियो के विभिन्न आचार-विचारो के अनुसार शैव धर्म के भी अनेकानेक

---

१ महाभारत, अनु० ६८, ८, २२।
२ ,, अनु० ६८, २०।
३ ,, वन० ८६, २५ और आगे। द्रोण० ७४, २६ और आगे।
४ ,, द्रोण० ७४, ६१।
५ ,, कर्ण० २४, ६०।
६ ,, द्रोण० ५०. ४३ और आगे।
७ ,, अनु० ६८, ७४ इत्यादि। 'गीता' के अंतिम श्लोक में भी कृष्ण को योगेश्वर कहा गया है।

रूपो का विकास हो रहा था। इनमें से सबसे प्रमुख रूप वह है जिसको शिव के दार्शनिक स्वरूप की लोकप्रचलित व्याख्या कह सकते हैं। शिव को एक ईश्वर, जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहर्ता माना गया है। वह देवताओ, मानवो और दानवो—सभी के परम प्रभु हैं [1]। उनकी ही प्राचीन काल से उपासना होती आई है, वर्तमान मे होती है और भविष्य मे होती रहेगी [2]। वह असीम हैं, अचिन्त्य हैं और देवताओ द्वारा भी अनधिगम्य हैं [3]। उनके साधारण नाम हैं—'ईशान', 'महेश्वर', 'महादेव', 'भगवान्' और 'शिव' [4]। उनको अन्य सब देवताओं से बडा माना गया है। सारे देवता ब्रह्मा-विष्णु के साथ, उनकी शरण मे आते हैं [5]। एक स्थल पर ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव के दोनो ओर खडे हुए बताया गया है [6]। एक अन्य स्थल पर यह वर्णन किया गया है कि यह दोनो देवता शिव के पार्श्वों मे से निकल रहे हैं। यहाँ ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव का ही अंश माना गया है। इसी वर्णन के पीछे त्रिमूर्ति की कल्पना है, जिसका बाद में इतना प्रचार हुआ। शिव की उपासना का सार 'भक्ति' है और रामायण की तरह यहाँ भी शिव की कल्पना सतत मानव जाति के कल्याणकारी और भक्तानुकम्पी देवता के रूप मे की गई है [7]। शिव का यह स्वरूप द्रोणपर्व की उस कथा से बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है, जहां शिव मानव-कल्याण के हित मे ब्रह्मा से अपनी विध्वंसकारिणी अग्नि को शान्त करने के लिए अनुनय करते हैं। वह अग्नि उनके कोप से प्रज्वलित हुई थी और जिससे समस्त सृष्टि के भस्म हो जाने का भय था [8]। प्राचीन काल मे अनेक ऋषियो ने अपनी भक्ति के बल से शिव से अनेक वरदान पाये थे [9]। महाभारत काल मे इन्हीं ऋषियो का अनुकरण अर्जुन, उपमन्यु और अन्य लोगों ने किया था [10]। इसके अतिरिक्त एक विशेष उपासना भी थी, जिससे शिव प्रसन्न होते थे। यह 'पाशुपत व्रत' था, जिसका कर्णपर्व मे उल्लेख किया गया है [11]। व्रतकर्ता की परिस्थितियो और उसके उद्देश्यों के अनुसार इस व्रत की—बारह दिन से बारह वर्ष तक की—विभिन्न अवधियाँ होती थीं। परन्तु इस व्रत का विस्तृत वर्णन नहीं दिया गया है।

शैव धर्म का सबसे अधिक लोकप्रचलित रूप वह था, जिसमे शिव को पार्वती का

---

१ महाभारत, द्रोण० . ७४, ४१, ४३।
२. ,, कर्ण० . २४, ६८।
३ ,, अनु० २३, १७।
४. ,, कर्ण० २४, ६१, ६३ ; शल्य० ३९, ६ , सौप्तिक० ६, ३०।
५. ,, अनु० २२, १४४-४५।
६ ,, अनु० २२, १४४-४५।
७ ,, द्रोण० . ४१, १५, ७४, ६० , अनु० ११२, १६ इत्यादि।
८. ,, द्रोण० : ५०, ८० और आगे।
९. ,, अनु० २४, १, ३८।
१० ,, वन० : ३३, ८७ और आगे , अनु० . २०, ८५-९०।
११. ,, कर्ण० : २५, २४।

पति माना जाता था और दोनो की साथ-साथ उपासना होती थी। दयानिधान, कल्याण-कारी शिव की पत्नी भी वैसी ही दया की मूर्ति और सौम्य स्वभाव की थी और दोनो कैलास पर्वत पर अनन्त और परम आनन्द की अवस्था में रहते थे। 'प्रत्येक युग में मनुष्यों के लिए वे विवाहित प्रेम का आदर्श रहे हैं'[१]। शिव का यह स्वरूप भक्तिवाद के आराध्यदेव का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसी रूप में शिव की प्रशंसा में स्तुतियाँ गाई जाती थीं। इनमें शिव को सदा परमेश्वर का पद दिया जाता था और शिव की दया तथा अनुग्रह के लिए उनसे प्रार्थना की जाती थी। देवताओं तक को शिव को इसी प्रकार प्रसन्न करना पडता था[२]। जन-साधारण में अधिकांश शिव के इसी रूप की उपासना करते थे, क्योंकि शिव का यह रूप सुखद और सुगम था तथा मनुष्य की मृदु और ललित भावनाओं का इसके प्रति अत्यधिक आकर्षण था। शिव और पार्वती के रूप का मानवीकरण भी बहुत आगे बढ़ गया है। शिव को अब अत्यन्त सुन्दर आकृतिवाला माना जाता था और पार्वती का रूप एवं लावण्य स्त्री-जाति में सर्वोत्तम था। दोनों के वेश और अलंकारों का भी वर्णन किया गया है[३]। विभिन्न कथाओं में उनकी भावनाएँ भी बिलकुल मानवी हैं। वृषभ अब नियत रूप से शिव का वाहन बन गया था[४]। परन्तु जब शिव के देवत्व पर अधिक जोर दिया जाता था, तब फिर उनके इस मानवी रूप को छोड दिया जाता था। उनकी अपुरुषविध आकृति का सबसे प्रमुख लक्षण है—उनके तीन नेत्रों का होना[५]। कई बार, उनको सहस्राक्ष, अष्टादशभुज इत्यादि भी कहा गया है। यह वर्णन वैदिक पुरुष के वर्णन के समान हैं और स्पष्ट ही शिव की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमता का प्रतीक है[६]। शिव के गण भी उनके साथ रहते थे और महाभारत में उनको प्रायः 'भूत' कहा गया है। उनके बडे विचित्र रूप थे—कुछ विकृतांग थे, किन्हीं के मानव शरीर और पशु-पक्षियों के सिर थे तथा किन्हीं के मानव-सिर थे, परन्तु शरीर पशुओं के थे[७]। यह गण वैदिक रुद्र के स्वरूप की स्मृति मात्र हैं। इस प्रसंग में शिव को 'निशाचर-पति' की उपाधि दिया जाना भी अर्थपूर्ण है[८]।

यद्यपि अब शिव का स्वभाव अधिकतर सौम्य माना जाता था, फिर भी शिव-भक्त शिव के प्रकोप को भूलते नहीं थे। यदि पापियों के कुकर्मों से अथवा ईश्वरीय इच्छा को उल्लंघन के कारण शिव का क्रोध जागृत हो जाय, तो उनकी सौम्य आकृति बडा भयावह रूप धारण कर लेती है। महाभारत में शिव के इस रूप का वर्णन 'कर्ण पर्व' में किया गया है, जहाँ उनको 'ब्रह्मद्विट्-संहातिन्' अर्थात् देवताओं और ब्राह्मणों के शत्रुओं का संहार करने

१　महाभारत, द्रोण०　७८, ३५।
२　,,　द्रोण०　२४, ५४ और आगे।
३　,,　अनु०　२२, ११८ और आगे।
४.　,,　अनु०　११३, ३२ और आगे।
५　,,　वन०　२२६, २६, २७ इत्यादि।
६　,,　अनु०　२२, ११६ इत्यादि।
७.　,,　वन०　८२, ३, १८८, १३, द्रोण० ७४, ३७, कर्ण० २७, २८ और आगे।
८　,,　द्रोण०　४६, ४६।

वाला कहा गया है।[1] उनका 'पिनाक' नाम का धनुष और उनका 'शूल' नामक वज्र, उनके प्रिय अस्त्र हैं[2]। इसी कारण उनको 'प्रवरायुधयोधी' भी कहा जाता है[3]। उनकी शक्ति का कोई मुकावला नहीं कर सकता[4]। उनका जो विरोध करते हैं, उनके लिए तो वह साक्षात् काल हैं[5]। इस रूप मे वह कुपित, भयावह और महासंहारकर्ता हैं[6]। उनकी समस्त आकृति भयकर है और सम्भवतः इसी रूप मे उनको कृष्णवस्त्रधारी माना गया है, यद्यपि साधारणतया वह श्वेतवस्त्रधारी ही थे[7]।

इस प्रकार अपने लोकप्रचलित स्वरूप मे शिव के दो रूप हो गये—एक सौम्य, दूसरा भयंकर। महाभारत काल मे शिव के इस द्वयविध रूप का ज्ञान भली प्रकार था। एक स्थल पर स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि शिव के यह दो भिन्न रूप हैं[8]।

परन्तु इसके साथ-साथ जो लोग शिव की शरण मे जाते हैं, उनकी सव वाधाएँ वे हर लेते हैं[9]। इसी कारण जव-जव देवो और मनुष्यो पर कोई भीषण सकट आ पड़ता है, तव वे भगवान् शिव के पास जाकर परित्राण की प्रार्थना करते हैं। भगवान् सदा उनकी विनती सुनते हैं। उनके पास आये हुए याचको की पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाने पाती। इस रूप मे शिव का सवसे प्रसिद्ध कार्य है—त्रिपुरदाह। इस कथा को हम आगे चलकर विस्तार-पूर्वक देखेगे। रामायण मे भगवान् शिव द्वारा अन्धक-वध की कथा का प्रसग आया ही है। जैसे-जैसे समय वीतता गया, अनेक कथाएँ भी प्रचलित हो गईं।

भगवान् शिव की लोकप्रचलित उपासनाविधि के सम्वन्ध में जो कुछ हमने रामायण से जाना, उससे कुछ अधिक हमें महाभारत से पता चलता है। शिव को प्रसन्न करने का एक ही उपाय था और वह था—सच्ची भक्ति। जो उनको प्रसन्न करना चाहते थे और उनसे वरदान प्राप्त करना चाहते थे, वे इस भक्ति के अतिरिक्त कठोर तपस्या भी करते थे, और एकाग्र बुद्धि से शिव का ध्यान करते थे। जो विघ्न और प्रलोभन इस अचल साधना मे वाधक होते थे, उनका दमन करते थे। शिव के ऐसे अनन्य भक्तो में अर्जुन और उपमन्यु प्रमुख हैं। अर्जुन ने अपनी तपस्या द्वारा वाञ्छित पाशुपत अस्त्र पाया[10]। उपमन्यु ने, जिसकी तपस्या अर्जुन से भी कठोर थी, शिव को छोड अन्य किसी देवता की आराधना करने से इनकार कर दिया। अन्त मे जो कुछ उसने चाहा, उसे मिला। इसके अलावा शिव ने

१. महाभारत, कर्ण० २४,७१।
२. ,, वन० : ३३,८७,३५,१ ; उद्योग ११७,७।
३ ,, कर्ण० २४,७१।
४ ,, ,, २४,७३।
५. ,, ,, : २६,२६।
६. ,, ,, : २४,६९ ७०।
७. ,, अनु० : १५१,३।
८. ,, ,, : १५१,३।
९. ,, कर्ण० : २४,७१।
१०. ,, वन० : ३३, ८७ और आगे।

प्रसन्न होकर उसे अमरत्व का वरदान भी दिया और उपमन्यु संसार में एक आदर्श भक्त का उदाहरण रख गया[१]। साधारण रूप से शिव की पूजा स्तुतिगान और प्रार्थनाओं द्वारा की जाती थी। इस प्रकार की अनेक प्रार्थनाएँ महाभारत में मिलती हैं[२]। परन्तु शिव की साधारण दैनिक पूजाविधि के सम्बन्ध में हमें महाभारत से बहुत-कुछ पता नहीं चलता। रामायण की भाँति यहाँ भी शिव मन्दिरों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु शिवमूर्तियों की चर्चा अवश्य की गई है। इसीसे हम अनुमान लगाते हैं कि उस समय शिव-मन्दिर भी होते होंगे। एक स्थल पर कहा गया है कि शिव अपनी मूर्तियों की उपासना से प्रसन्न होते हैं और ये मूर्तियाँ मानवाकार और लिंगाकार दोनों होती हैं[३]। इससे स्पष्ट पता चलता है कि दोनों प्रकार की मूर्तियाँ उस समय बनती थीं और उनकी उपासना होती थी। लिंग-मूर्त्तियों के जननेन्द्रिय-सम्बन्ध की स्मृति अबतक शेष थी। परन्तु इन मूर्त्तियों की उपासना-विधि का प्राचीन तथा वास्तविक लिंगोपासना से कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु इतना यह जरूर था कि केवल भगवान् शिव की ही लिंग रूप में उपासना होती थी और इसी कारण उपमन्यु ने उनको अन्य देवताओं से बड़ा माना है। इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु तक को शिव के लिंग रूप का उपासक कहा गया है, अतः वे इन सबसे बड़े थे। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के समय तक लिंग-मूर्त्तियों की उपासना का शैव धर्म में पूर्णरूप से समावेश हो गया था। यह भी एक रोचक बात है कि शिव के उपासकों ने एक निन्द्य प्रथा को किस कुशलता से अपने आराध्यदेव के उत्कर्ष का साधन बना लिया।

ऊपर शैव धर्म के जिन रूपों का विवरण दिया गया है, उसको हम शैव धर्म के प्रामाणिक और सबसे अधिक प्रचलित रूप कह सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त भी शैव धर्म के अन्य अनेक रूप थे, जिनका प्रचार विशेष समुदायों में था। ऐसा जान पड़ता है कि शिव-भक्तों पर किसी एक रीति विशेष के अनुसार उपासना करने के लिए कोई दबाव नहीं डाला जाता था। अतः विभिन्न लोग जिस रूप में शिव की कल्पना करते थे, उसी के अनुकूल उसकी उपासना भी करते थे। इसका फल यह हुआ कि शिवोपासना के इतने विविध रूप हो गये, जितने संभवतः अन्य किसी मत के नहीं हुए। महाभारत में इन विभिन्न रूपों में कम-से-कम दो का तो उल्लेख मिलता है, जिनका प्रचार अधिक नहीं था। परन्तु जिनको इस अर्थ में लोकप्रचलित कहा जा सकता है कि जनसाधारण के ही कुछ वर्गों में उनका प्रचार था, उनमें से एक में शिव की कल्पना 'कापालिक' के रूप में की गई है। हम यह देख चुके हैं कि वैदिक रुद्र को एक रूप में मृत्यु का देवता समझा जाता था। इस रूप में उनका सम्बन्ध पिशाचों, डाकिनियों और इसी प्रकार के

१. महाभारत, अनु० २२, ८५, ६०।
२. ,, अनु० १५१, १६ इत्यादि।
३. ,, अनु० २०, ६७। शिव की लिंगमूर्त्तियों के अन्य उल्लेख महाभारत के उत्तरी संस्करण में निम्नलिखित स्थलों पर मिलते हैं—द्रोण० २२, सौप्तिक० १७, अनु० १४, १६, अनु० १७२।

दूसरे अमगल और अन्धकार-सम्बन्धी जीवो से था। सूत्र-ग्रन्थो में हमने यह भी देखा है कि रुद्र के इसी रूप के कारण सम्भवतः उनका सम्बन्ध श्मशानो से हुआ। अतः शिव का 'कापालिक' स्वरूप भी वैदिक रुद्र के इसी रूप का विकास-मात्र प्रतीत होता है। भक्ति-वाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य आकृति के सर्वथा विपरीत यहाँ उनकी आकृति भयावह है। वह हाथ में कपाल लिये रहते हैं[1], और लोक-वर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहाँ वह राक्षसो, वेतालो, पिशाचो और इसी प्रकार के अन्य जीवो के साथ विहार करते हैं[2]। उनके अनुचर वही गण हैं, और महाभारत में इन सबको 'नक्तचर' और 'पिशिताशन' (मृत शरीरो का मास खानेवाले) कहा गया है[3]। एक स्थल पर स्वयं शिव को मास खाते हुए और रक्त और मज्जा का पान करते हुए कहा गया है[4]। जैसा कि हम ऊपर सूत्र-ग्रन्थो का अवलोकन करते हुए कह आये हैं, यह देवता निश्चय ही लोकप्रचलित अन्धविश्वासो और जादू-टोनो के क्षेत्र का देवता था। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ लोग अभी तक रुद्र के इस रूप की उपासना करते थे और उसका विकास भी करते जाते थे। महाभारत के समय तक तो ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के इस रूप के साधारण उपासको के अतिरिक्त अन्य वर्गों मे इसको कुछ मान्यता दी जाने लगी थी। हम ऊपर देख आये हैं कि सूत्र-ग्रन्थो में जो 'शूलगव' यज्ञ का विधान किया गया है, उसका अर्थ यह था कि विशेष परिस्थितियों में कभी-कभी कुछ जादू-टोने-सम्बन्धी क्रियाओ का भी विधिवत् विधान कर दिया जाता था। हो सकता है कि कापालिक रूप मे शिव की उपासना की भी इसी प्रकार कभी कभी अनुमति दे दी जाती हो। उदाहरणार्थ 'अश्वत्थामा' ने सब ओर से हताश हो, शिव के इसी रूप की आराधना की थी[5]। शिव के इस रूप को कुछ-कुछ मान्यता मिल जाने के फल-स्वरूप ही सम्भवतः शिव की तद्रूपसम्बन्धी उपाधियो का उल्लेख होने लगा और महाभारत में ये उपाधियाँ शिव की अन्य उपाधियो के साथ बिलकुल मिल-जुल गई हैं। जहाँ शिव का किसी अन्य रूप में स्तवन होता है, वहाँ भी उन उपाधियो का उल्लेख किया जाता है[6]। स्वभावत, इसके विपरीत जहाँ शिव के 'कापालिक' रूप का वर्णन होता है, वहाँ शिव की अन्य उपाधियों का भी उल्लेख किया जाता है।

अथर्ववेद मे हमने देखा था कि जब रुद्र की भयावह मृत्यु देवता के रूप में उपासना की जाती थी, तब उनको नर-बलि दी जाती थी। ब्राह्मणो द्वारा इस प्रथा को गर्हित ठहराये जाने पर भी, जान पडता है कि कुछ वर्गों में रुद्र के कापालिक रूप की उपासना के सम्बन्ध मे इस प्रथा का प्रचार बना रहा। इसका सकेत हमे महाभारत मे

---

१. महाभारत, वन० १८८, ५०।

२,३ ,, वन० . ८३, ३। द्रोण० ५०, ४९। शल्य० ३९, २४। सौप्तिक० ६, ३३ इत्यादि।

४. ,, अनु० १५१, ७।

५. ,, सौप्तिक० ६ और ७।

६. ,, द्रोण० . ५०, ४९ इत्यादि।

मिलता है। उदाहरणार्थ 'जरासन्ध' नियमित रूप से युद्धवन्दियों को शिव पर वलि चढा देता था[1]। 'अश्वत्थामा' ने भी जब शिव के कापालिक रूप की आराधना की, तो अपने-आपको वलि चढा दिया। इस प्रथा की कृष्ण ने घोर निन्दा की थी। उन्होंने जरासन्ध की, इसी प्रथा का अनुसरण करने पर जो प्रचलित विधियों के विलकुल विपरीत थी, तीव्र भर्त्सना की। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रथा को साधारणतया निन्द्य समझा जाता था, परन्तु लुके-छिपे शिव के कापालिक रूप के उपासकों में कुछ लोग इस प्रथा का अनुसरण करते थे। यह लोग योग-सिद्धान्त की दो-चार वातें सीख कर, जिसका रामायण-महाभारत काल में वहुत प्रचार और आदर था, तथा अपना वेश भी अपने आराध्यदेव-जैसा वना कर, अपने-आपको तपस्वी और योगी कहते थे। वे अपनी तपस्या से लोकोत्तर शक्तियाँ प्राप्त करने का दावा करते थे। यही लोग आगे चलकर कापालिक कहलाये, और इन्हीं में नर-वलि की प्रथा दीर्घकाल तक वनी रही। इनके सम्वन्ध में हम अगले अध्याय में कुछ और कहेंगे। महाभारत में उनका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सम्भव है कि उस समय तक इनका एक अलग सम्प्रदाय न वना हो।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना समुदाय विशेषों में ही होती थी, एक मद्य-प्रिय तथा विलास-प्रिय देवता का था। रामायण में हमने शिव के स्त्री रूप धारण करने की कथा में इस रूप की एक झलक देखी थी। महाभारत में यह रूप कुछ अधिक स्पष्ट दिखाई देता है[2]। जव अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तपस्या की, तव पहले भगवान् शिव 'किरात' के रूप में प्रकट हुए। 'किरात' एक वन्य जाति विशेष का नाम था जो अवतक हिमालय की उपत्यकाओं में रहती है। भगवान् शिव ने एक साधारण किरात का वेश धारण किया था—अर्थात् वह खाल के वस्त्र पहने थे और उनके पीछे सहस्रों स्त्रियाँ और 'भूत'-गण हँसते-खेलते, नाचते-गाते और प्रमत्त विलास-क्रीडाएँ करते चले आ रहे थे। इस समय वैसे ही किरात वेश में भगवती उमा भी उनके साथ थीं। इन स्त्रियों और भूतों के आमोद-प्रमोद के वर्णन से हमें सहसा पश्चिम एशिया में ग्रीस के मद्यदेवता वेकस (Bachchus) और उसके प्रमत्त अनुचरों की विलास-क्रीडाओं का स्मरण हो आता है। एक अन्य स्थल पर[3] कहा गया है कि एक वार शिव 'तिलोत्तमा' नाम की अप्सरा पर ऐसे मुग्ध हुए कि वह सहसा चतुर्मुख हो गये, जिससे किसी दिशा में भी तिलोत्तमा उनकी दृष्टि से ओझल न हो सके। शिव के इस रूप के सम्वन्ध में और अधिक सामग्री पुराणों में मिलती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम आगे चल कर करेंगे। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई? परन्तु उनके किरात वेश से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि महाभारत काल से पूर्व किसी समय शिव ने इसी किरात जाति के एक देवता को आत्मसात् कर लिया था, जिसकी उपासना उस जाति में मद्यपान और विलास-क्रीडाओं द्वारा की जाती थी। 'नीलमत पुराण' में भी, जिसका

---

१ महाभारत, सभा० २२, २८ और आगे।

२ ,, वन० ३९।

३ ,, अनु० ११३,२ और आगे।

अवलोकन हम अगले अध्याय में करेंगे, यह प्रसंग आया है कि कश्मीर प्रदेश में इसी प्रकार की क्रीडाएँ शिव की उपासना का एक अग थी। इससे भी हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी रूप मे शिव को एक नर्तक भी माना जाता था, और कालान्तर मे जव शिव का विलास-प्रिय रूप क्षीण हो गया, तव भी नृत्य से उनका यह सम्वन्ध बना ही रहा। उसीका विकास होते-होते शिव की 'नटराज' के रूप में कल्पना होने लगी और उनको नृत्यकला का सर्वश्रेष्ठ साधक माना जाने लगा।

रामायण-महाभारत काल में शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप के विवेचन में अव उन कथाओ का देखना शेप रह जाता है, जिनका प्रादुर्भाव इस समय तक हो गया था। इनमें कुछ कथाओ की चर्चा रामायण मे हो चुकी है। महाभारत में भी वे कथाए मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कथाएँ भी दी हुई हैं, जिनकी ओर रामायण में सकेत मात्र किया गया है। इनमे से कार्तिकेय के जन्म की कथा सर्वप्रमुख है। महाभारत में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है, और इससे शिव तथा स्कन्द के परस्पर सम्वन्ध पर भी वहुत प्रकाश पडता है। इसके साथ-साथ, देवकथाओ का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, इसका भी यह कथा एक वड़ा रोचक उदाहरण है। इस कथा का सवसे प्राचीन रूप वन पर्व मे मिलता है[1]। देवताओ की सेनाओ को कोई योग्य सेनापति नही मिलता था। इस कारण दानवो के विरुद्ध सग्राम में उनकी वार-वार पराजय होती थी। इसपर इन्द्र ने सोचा कि यदि अग्नि की ऐसी सन्तान हो, जिसमे सव देवताओ की शक्तियाँ पुँजीभूत हो[2], तो वही देवसेनाओं का सेनापतित्व करने के लिए सवसे अधिक योग्य होगी। तदनन्तर देवता गण सप्तर्षियो द्वारा अनुष्ठित यज्ञ मे गये और स्वभावतः अग्नि देवता भी उनके साथ गये। यहाँ अग्नि को सूर्यमण्डल में से प्रकट होते हुए कहा गया है। यज्ञ में अग्नि ऋपिपत्नियो के रूप पर मुग्ध हो गये, और अपने इस अनुराग से आतुर हो, वनो मे घूमने लगे। इसी वीच दक्ष-पुत्री 'स्वाहा' ने अग्नि को यज्ञ के समय देखा था और तभी से वह उनपर अनुरक्त हो गई थी। जव अग्नि वनों की ओर चले गये, तव स्वाहा उनके पीछे-पीछे गई और वहाँ उसने यह छल किया कि वारी-वारी से ऋपिपत्नियो मे से छः का रूप धारण करके वह अग्नि के पास गई। अग्नि देवता वड़ी सुगमता से इस धोखे में आ गये। इस प्रकार छः वार अग्नि से समागम करके 'स्वाहा' ने उनके वीर्य को एक श्वेत पर्वत पर कुछ शरो के वीच डाल दिया। वहाँ पूरे समय वीतने पर एक शिशु ने जन्म लिया, जिसके सव सस्कार इन्द्र ने विधिवत् सम्पन्न किये। यहाँ हम देखते हैं कि स्कन्द को अग्नि का पुत्र माना गया है और शिव से उसका कोई सम्वन्ध नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस कथा में अग्नि का सूर्य से तादात्म्य किया गया है। अत. जान पडता है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्वन्धी देवता थे और सम्भवतः सूर्य के उस देदीप्यमान प्रकाश के प्रतीक थे, जिसके सामने समस्त अन्धकार दूर हो जाता है। इस कारण अन्धकार के प्रतीक

१ महाभारत, वन० १८३।

२. वैदिक उक्ति भी है—'अग्नि सर्वा. देवता'।

मिलता है। उदाहरणार्थ 'जरासन्ध' नियमित रूप से युद्धवन्दियों को शिव पर वलि चढ़ा देता था[1]। 'अश्वत्थामा' ने भी जब शिव के कापालिक रूप की आराधना की, तो अपने-आपको वलि चढ़ा दिया। इस प्रथा की कृष्ण ने घोर निन्दा की थी। उन्होंने जरासन्ध की, इसी प्रथा का अनुसरण करने पर जो प्रचलित विधियों के विलकुल विपरीत थी, तीव्र भर्त्सना की। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रथा को साधारणतया निन्द्य समझा जाता था, परन्तु लुके-छिपे शिव के कापालिक रूप के उपासकों में कुछ लोग इस प्रथा का अनुसरण करते थे। यह लोग योग-सिद्धान्त की दो-चार बातें सीख कर, जिसका रामायण-महाभारत काल में बहुत प्रचार और आदर था, तथा अपना वेश भी अपने आराध्यदेव-जैसा बना कर, अपने-आपको तपस्वी और योगी कहते थे। वे अपनी तपस्या से लोकोत्तर शक्तियाँ प्राप्त करने का दावा करते थे। यही लोग आगे चलकर कापालिक कहलाये, और इन्हीं में नर-वलि की प्रथा दीर्घकाल तक बनी रही। इनके सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में कुछ और कहेंगे। महाभारत में उनका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सम्भव है कि उस समय तक इनका एक अलग सम्प्रदाय न बना हो।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना समुदाय विशेषों में ही होती थी, एक मद्य-प्रिय तथा विलास-प्रिय देवता का था। रामायण में हमने शिव के स्त्री रूप धारण करने की कथा में इस रूप की एक झलक देखी थी। महाभारत में यह रूप कुछ अधिक स्पष्ट दिखाई देता है[2]। जब अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तपस्या की, तब पहले भगवान् शिव 'किरात' के रूप में प्रकट हुए। 'किरात' एक वन्य जाति विशेष का नाम था जो अबतक हिमालय की उपत्यकाओं में रहती है। भगवान् शिव ने एक साधारण किरात का वेश धारण किया था—अर्थात् वह खाल के वस्त्र पहने थे और उनके पीछे सहस्रों स्त्रियाँ और 'भूत'-गण हँसते-खेलते, नाचते-गाते और प्रमत्त विलास-क्रीडाएँ करते चले आ रहे थे। इस समय वैसे ही किरात वेश में भगवती उमा भी उनके साथ थीं। इन स्त्रियों और भूतों के आमोद-प्रमोद के वर्णन से हमें सहसा पश्चिम एशिया में ग्रीस के मद्यदेवता वेकस (Bachchus) और उसके प्रमत्त अनुचरों की विलास-क्रीडाओं का स्मरण हो आता है। एक अन्य स्थल पर[3] कहा गया है कि एक बार शिव 'तिलोत्तमा' नाम की अप्सरा पर ऐसे मुग्ध हुए कि वह सहसा चतुर्मुख हो गये, जिससे किसी दिशा में भी तिलोत्तमा उनकी दृष्टि से ओझल न हो सके। शिव के इस रूप के सम्बन्ध में और अधिक सामग्री पुराणों में मिलती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम आगे चल कर करेंगे। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई? परन्तु उनके किरात वेश से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि महाभारत काल से पूर्व किसी समय शिव ने इसी किरात जाति के एक देवता को आत्मसात् कर लिया था, जिसकी उपासना उस जाति में मद्यपान और विलास-क्रीडाओं द्वारा की जाती थी। 'नीलमत पुराण' में भी, जिसका

१ महाभारत, सभा० २१, २८ और आगे।
२ ,, वन० ३५।
३ ,, अनु० १३,२ और आगे।

अवलोकन हम अगले अध्याय मे करेगे, यह प्रसग आया है कि कश्मीर प्रदेश में इसी प्रकार की क्रीडाएँ शिव की उपासना का एक अग थीं। इससे भी हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी रूप मे शिव को एक नर्तक भी माना जाता था, और कालान्तर में जब शिव का विलास-प्रिय रूप क्षीण हो गया, तब भी नृत्य से उनका यह सम्बन्ध बना ही रहा। उसीका विकास होते-होते शिव की 'नटराज' के रूप में कल्पना होने लगी और उनको नृत्यकला का सर्वश्रेष्ठ साधक माना जाने लगा।

रामायण-महाभारत काल मे शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप के विवेचन में अब उन कथाओ का देखना शेप रह जाता है, जिनका प्रादुर्भाव इस समय तक हो गया था। इनमे कुछ कथाओ की चर्चा रामायण मे हो चुकी है। महाभारत में भी वे कथाए मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कथाएँ भी दी हुई हैं, जिनकी ओर रामायण में सकेत मात्र किया गया है। इनमें से कार्तिकेय के जन्म की कथा सर्वप्रमुख है। महाभारत में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है, और इससे शिव तथा स्कन्द के परस्पर सम्बन्ध पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। इसके साथ-साथ, देवकथाओ का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, इसका भी यह कथा एक बड़ा रोचक उदाहरण है। इस कथा का सबसे प्राचीन रूप वन पर्व में मिलता है[1]। देवताओ की सेनाओ को कोई योग्य सेनापति नही मिलता था। इस कारण दानवो के विरुद्ध सग्राम मे उनकी बार-बार पराजय होती थी। इसपर इन्द्र ने सोचा कि यदि अग्नि की ऐसी सन्तान हो, जिसमे सब देवताओ की शक्तियाँ पुँजीभूत हो[2], तो वही देवसेनाओ का सेनापतित्व करने के लिए सबसे अधिक योग्य होगी। तदनन्तर देवता गण सप्तर्षियो द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में गये और स्वभावतः अग्नि देवता भी उनके साथ गये। यहाँ अग्नि को सूर्यमण्डल मे से प्रकट होते हुए कहा गया है। यज्ञ में अग्नि ऋषिपत्नियों के रूप पर मुग्ध हो गये, और अपने इस अनुराग से आतुर हो, वनो मे घूमने लगे। इसी बीच दक्ष-पुत्री 'स्वाहा' ने अग्नि को यज्ञ के समय देखा था और तभी से वह उनपर अनुरक्त हो गई थी। जब अग्नि वनो की ओर चले गये, तब स्वाहा उनके पीछे-पीछे गई और वहाँ उसने यह छल किया कि बारी-बारी से ऋषिपत्नियो में से छः का रूप धारण करके वह अग्नि के पास गई। अग्नि देवता बडी सुगमता से इस धोखे में आ गये। इस प्रकार छः बार अग्नि से समागम करके 'स्वाहा' ने उनके वीर्य को एक श्वेत पर्वत पर कुछ शरो के बीच डाल दिया। वहाँ पूरे समय बीतने पर एक शिशु ने जन्म लिया, जिसके सब सस्कार इन्द्र ने विधिवत् सम्पन्न किये। यहाँ हम देखते हैं कि स्कन्द को अग्नि का पुत्र माना गया है और शिव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस कथा में अग्नि का सूर्य से तादात्म्य किया गया है। अतः जान पडता है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्बन्धी देवता थे और सम्भवत. सूर्य के उस देदीप्यमान प्रकाश के प्रतीक थे, जिसके सामने समस्त अन्धकार दूर हो जाता है। इस कारण अन्धकार के प्रतीक

---

१. महाभारत, वन० · १८३।

२ वैदिक उक्ति भी है—'अग्नि सर्वा देवता'।

भ्रूण का रूप धारण किया, तब वह इसे सहन न कर सकी। गगा उसे मेरु पर्वत पर शरो के मध्य रख आई, जहाँ पूरे समय पर एक शिशु का जन्म हुआ और जिसे कृत्तिकाओ ने पाया तथा पाला-पोसा। महाभारत के उत्तरी सस्करण मे इस कथा के अन्तिम भाग का एक विचित्र और स्पष्ट ही अपरकालीन रूप अनुशासन पर्व मे दिया गया है[1]। इसमे कथा इस प्रकार है कि जब गगा ने भ्रूण को फेक दिया, तब छ: कृत्तिकाओ ने उसे उठा लिया, और उसके छः भाग करके एक-एक भाग को अपने अपने गर्भ मे रख लिया। इस प्रकार विभक्त हुआ वह भ्रूण बढ़ता गया और पूरे समय पर प्रत्येक कृत्तिका ने एक शिशु के विभिन्न अगो को जन्म दिया। परन्तु पैदा होते ही यह विभिन्न अग जुड गये और इस प्रकार स्कन्द का जन्म हुआ।

कथा के इस रूप में भी, स्कन्द का वास्तविक पिता तो अग्नि को ही माना गया है और स्कन्द को अनेक बार 'अग्निसूनु' कहा भी गया है। रामायण मे इस कथा का जो रूप है, और वह महाभारत की कथा का ही एक अन्य रूप है। उसमें भी यही स्थिति है। इस कथा के विकास की अन्तिम अवस्था पुराणो मे आती है और वहा उसका अवलोकन किया जायगा।

शिव-सम्बन्धी दूसरी प्रमुख कथा, जिसका इस समय तक प्रादुर्भाव हो गया था, शिव द्वारा दानवों के तीन पुरों के ध्वस की कथा है। यह कथा भी देवकथाओ के क्रमिक विकास का एक अच्छा उदाहरण है, यद्यपि स्कन्द-जन्म की कथा की तरह पूर्ण रूप से नहीं। इस कथा का सूत्रपात सम्भवत 'ऐतरेय ब्राह्मण' की उस कथा से होता है, जिसमें यह दिखाया गया है किस प्रकार देवासुर संघर्ष मे असुरो ने पृथ्वी, आकाश और द्यौ को तीन दुर्गों मे परिणत कर दिया—और जो क्रम से लोहे, चान्दी और सोने के थे—तथा किस प्रकार देवताओ ने 'उपसदों' द्वारा इन तीन दुर्गों को जीता[2]। कथा लाक्षणिक है और ध्यान देने की बात यह है, इसमे कहीं भी रुद्र की चर्चा नहीं की गई है। परन्तु इस कथा के फलस्वरूप असुरो के तीन दुर्गों अथवा पुरो की कल्पना देवकथाओ मे स्थिर रूप से आ गई है। जब शिव की उपासना का विकास हुआ, तब इस 'त्रिपुर' की कल्पना को शिव के उत्कर्ष का साधन बना लिया गया और त्रिपुर-ध्वस का श्रेय उनको दिया जाने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे इस कथा का निर्माण हुआ तथा रामायण-महाभारत काल मे यह अपने विकसित रूप में पाई जाती है। महाभारत मे इसका कई स्थानो पर उल्लेख है, परन्तु इन विभिन्न उल्लेखो मे वैसा काल-भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा स्कन्द-जन्म की कथा मे। यह सब उल्लेख एक ही कथा के विस्तृत अथवा सक्षिप्त रूप हैं और सार भाव से सब एक ही हैं। इस कथा का सबसे विस्तृत रूप 'कर्ण पर्व' मे मिलता है[3]। ब्रह्मा का वरदान पाकर असुरपति ने सुवर्ण, रजत और लोहे के तीन नगरो का क्रम से द्यौ, आकाश और पृथ्वी मे निर्माण किया। इन

१. महाभारत (पी० सी० राय का सस्करण) अनु० ७५, ५ और आगे।

२. ऐतरेय ब्राह्मण . १, ४, ६।

३. महाभारत, कर्ण० . ३३।

दानवों के दमन के लिए स्कन्द ही उपयुक्त देवता थे। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्कन्द का विशेष वाहन मयूर है, जिसका प्राचीन काल से, अपनी पूँछ पर के सुनहले चिह्नों के कारण अथवा किसी और कारण, सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मयूर के सूर्य के साथ इस सम्बन्ध का एक उदाहरण सिन्धु-घाटी में 'चन्हुदड़ो' स्थान पर हाल के निकले भाण्डावशेषों पर लिखित अनेक चित्रों में मिलता है। वहाँ सूर्य के प्रतीकों के साथ अनेक वार मयूर भी दिखाया गया है[1], अत: मयूर का स्कन्द का वाहन होना इस बात का एक और प्रमाण है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्बन्धी देवता थे। परन्तु जब इस नवजात शिशु को देवताओं के सम्मुख लाया गया, तब उसको 'रुद्रपुत्र' कहा गया, क्योंकि अग्नि का एक नाम रुद्र भी था। यह है शिव को स्कन्द का पिता माना जाने का रहस्य। जब 'रुद्रपुत्र' के वास्तविक अर्थ को लोग भूल गये, तब शिव को ही स्कन्द का असली पिता माना जाने लगा। शिव के इस स्कन्दपितृत्व का समाधान करने के लिए ही स्कन्द के जन्म की कथा में कुछ फेर-बदल किया गया और उसे कुछ बढ़ाया भी गया। इस परिवर्तित कथा का पहला रूप स्वयं महाभारत में ही मिलता है। उसके वन-पर्व में एक अन्य स्थल पर स्कन्द-जन्म की कथा फिर कही गई है[2], और इसमें बताया गया है कि शिव और पार्वती ने क्रम से अग्नि तथा स्वाहा का रूप धारण किया था, अत: स्कन्द वास्तव में इन्हीं दोनों की सन्तान थे। कथा की इससे अगली अवस्था तब आई, जब इसको शिव और पार्वती के विवाह का उत्तर भाग बना दिया गया। अपने इस रूप में भी यह कथा महाभारत में मिलती है[3]। देवताओं ने जब शिव और पार्वती की रतिकेलि का वृत्तान्त सुना, तब वह भय से काँप उठे। उन्होंने शिव के पास जाकर प्रार्थना की कि वह पार्वती से कोई सन्तान उत्पन्न न करें, क्योंकि ऐसे तेजस्वी माता-पिता की सन्तान का तेज कोई सह्य नहीं कर सकेगा, और अपने तेज से वह समस्त विश्व को ध्वस्त कर देगी। शिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, परन्तु पार्वती असामयिक विघ्न उत्पन्न कर देनेवाले देवताओं पर अति कुपित हो गईं और उन्होंने देवताओं को शाप दिया कि उनके कभी कोई सन्तान नहीं होगी। शिव ने अपना वीर्य ऊपर खेंच लिया और तभी से वह 'ऊर्ध्वरेत:' कहलाते हैं। परन्तु उनके वीर्य का जो अंश क्षुब्ध हो गया था, वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और तत्क्षण ही उसने प्रचण्ड ज्वाला का रूप धारण कर लिया। इसी कथा में आगे चलकर कहा गया है कि इस वीर्य को अग्नि ने, जो पार्वती के शाप के समय देवताओं के साथ उपस्थित नहीं थे, धारण कर लिया। जब देवता अपनी सेनाओं के लिए एक सेनापति की खोज करने लगे, तब ब्रह्मा ने उन्हें यह परामर्श दिया कि वह अग्नि से कहें कि वह शिव के इस वीर्य को गंगा के गर्भ में डाल दे और इस प्रकार इन दोनों की जो सन्तान होगी, वह दानवों पर विजय पायगी। अग्नि और गंगा दोनों इस बात के लिए सहमत हो गये, परन्तु गंगा के गर्भ में इस वीर्य ने जब

१ मैके०—चन्हुदड़ो मेमायर्स आफ आर्ट्स, इंडिया सेक्शन, १९३७।

२ महाभारत, वन० २२८।

३ ,, शल्य० ३२, अनु० ७४,८२ और आगे।

विकास होता गया। यहाँ तक कि इसने वह रूप धारण किया, जिसे हम प्राचीन धर्मावलम्बियों पर शैव धर्म की अन्तिम विजय का देवकथारूप कह सकते हैं। इस विजय के बाद शैव धर्म की स्थिति दृढ हो गई, और शिव सर्वमान्य हो गये। यह सब रामायण-महाभारत काल से बहुत पहले ही हो गया होगा; क्योंकि इन ग्रन्थों में शैव-मत ब्राह्मण धर्म के एक मुख्य अंग के रूप में दिखाई देता है, और दक्षयज्ञ की कथा का अपने पूर्ण विकसित रूप मे उल्लेख किया गया है। महाभारत में इसके दो रूप हैं—एक प्राचीन और दूसरा अपरकालीन। प्राचीन रूप के अनुसार[1] दक्ष ने यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें शिव को छोड़ कर शेष सब देवताओं को यज्ञ-भाग दिया गया। शिव को इस प्रकार जान-बूझकर यज्ञ भाग से वंचित रखा गया था। यह रामायण के उस स्थल से स्पष्ट हो जाता है, जहाँ कहा गया है कि शिव के अपना भाग माँगने पर भी देवताओं ने उन्हे यज्ञ-भाग नहीं दिया। महाभारत में देवताओं द्वारा शिव की इस उपेक्षा का इस प्रकार समाधान किया गया है कि देवताओं ने भगवान् शिव को पूरी तरह से पहचाना नहीं था, और इसी कारण उन्हें यज्ञ-भाग नहीं मिला। परन्तु इस अपमान से कुपित हो शिव ने अपना धनुष उठाया और उस स्थान पर आ गये, जहाँ यज्ञ हो रहा था। जब शिव ने इस प्रकार क्रुद्ध होकर प्रयाण किया, तब समस्त विश्व मे प्रलय-सा मच गया। जब वह यज्ञ-स्थल के समीप पहुँचे तब यज्ञ हिरन का रूप धारण कर भाग निकला, और अग्नि देवता भी उसके साथ ही चले गये। अन्य सब देवता, जो उस समय वहाँ एकत्र थे, भय के कारण निश्चेष्ट हो गये। अपने क्रोध में शिव ने सविता की भुजाएँ तोड़ दीं, भग की आँखें निकाल लीं, और अपने धनुष से पूषा के दाँत तोड़ दिये। इसपर देवताओं ने भी भाग निकलने का प्रयत्न किया, परन्तु शिव ने उन्हें वहीं रोक लिया। इस प्रकार जब देवताओं का अभिमान पूरी तरह चूर हो गया, तब उन्होंने शिव के पराक्रम को पहचाना और उनको तुष्ट किया तथा यज्ञ का उचित भाग उनको दिया। इस प्रकार महान संघर्ष में विजय पाकर शैव-धर्म ने सर्वमान्यता प्राप्त की। कथा का दूसरा रूप इस तथ्य पर और भी अधिक प्रकाश डालता है[2]। इसमें ऋषि दधीचि नये शैवधर्म के समर्थक हैं। दक्ष-यज्ञ में जब शिव को नहीं बुलाया गया तब वह क्रुद्ध होकर इसका कारण पूछते हैं। इसका उत्तर दक्ष देते हैं कि वह एकादश रुद्रों को छोड़ कर, जो यज्ञ में उपस्थित थे, अन्य किसी रुद्र अथवा शिव को नहीं जानते। इससे साफ पता चलता है कि शिव को ब्राह्मण कर्मकाण्ड का देवता नहीं माना जाता था और जो इस कर्मकाण्ड के दृढ अनुयायी थे, वे शिव को मान्यता नहीं देते थे। अन्य छोटी-छोटी बातों में भी यह कथा पहली कथा से कुछ भिन्न है। उदाहरणार्थ इस कथा में उमा शिव से अनुरोध करती हैं कि वे देवताओं से अपना यज्ञ-भाग माँगें, और वे देवताओं को इस अपमान का दण्ड दें। शिव स्वय नहीं जाते, परन्तु अपने मुख से एक विकराल जीव को उत्पन्न करते हैं, जो 'वीरभद्र' कहलाता है, और इस

---

१. महाभारत, सौप्तिक : १८।

२. महाभारत (कलकत्ता संस्करण) अनु० : १५०।

पुरों का ध्वंस केवल वही कर सकता था जो इन तीनों को एक ही बाण से भेद दे। इन नगरों में एक सरोवर बहता था, जिसके जल से युद्ध में मारे गये योद्धा फिर जी उठते थे। इस प्रकार सुसज्जित हो असुरों ने पृथ्वी पर और स्वर्ग में तबाही मचा दी, और बार-बार देवताओं को पराजित किया। इन्द्र भी इन पुरों पर अपने आक्रमण में असफल रहे। तब इस घोर संकट के समय वह और अन्य सब देवता ब्रह्मा के पास गये, जिन्होंने उनको भगवान् शिव से साहाय्य याचना करने का आदेश दिया। देवताओं ने तप करके शिव को प्रसन्न किया। तब ब्रह्मा ने उनसे असुरों का नाश करने की प्रार्थना की। शिव ने देवताओं की आधी शक्ति की सहायता से इस कार्य को पूरा करने का वचन दिया, परन्तु इसके साथ शर्त यह रखी कि उनको समस्त पशुओं अर्थात् समस्त प्राणियों का स्वामी माना जाय। विश्वकर्मा ने शिव के लिए एक दिव्य रथ का निर्माण किया—जिसका शरीर पृथ्वी थी, सूर्य-चन्द्र जिसके चक्के थे, चारों वेद जिसके अश्व थे इत्यादि। जिस समय शिव रथारूढ हुए, उस समय उनको साक्षात् काल कहा गया है। इसी कारण लक्षण रूप से कालरात्रि अर्थात् प्रलयकाल की निशा को शिव के धनुष की प्रत्यंचा कहा गया है। स्वयं ब्रह्मा इस रथ के सारथि बने और विष्णु उनका बाण। तब शिव ने उन पुरों की ओर प्रयाण किया और अपने अमोघ बाण से उनको वेधकर उनका ध्वंस किया। इस महान् कार्य के फलस्वरूप 'त्रिपुरघ्न' और इसीके पर्यायवाची शब्द शिव की उपाधियाँ बन गये। यही कथा द्रोण और अनुशासन पर्वों में भी कही गई है[1]।

सागर-मन्थन और गंगावतरण की कथाएँ भी महाभारत में मिलती हैं[2] और इनका रूप वही है जो रामायण में है।

शैव धर्म के इतिहास की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कथा जो महाभारत में मिलती है, वह है—दक्ष-यज्ञ की कथा। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अवलोकन करते समय हमने देखा था कि ब्राह्मण कर्मकाण्ड के अनुयायियों में रुद्र की उपासना के प्रति एक विरोध-सा उत्पन्न हो गया था, क्योंकि वह इस उपासना में बाह्य अंशों के समावेश के पक्ष में नहीं थे। बाद में जब शैव धर्म का विकास हुआ, तब भी दीर्घ काल तक उनके प्रति यह विरोध-भावना बनी रही, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भवतः काफी संघर्ष के बाद ही, शैव धर्म, शिव के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण, और परिस्थितियों की सहायता से, प्राचीन कर्मकाण्ड के समर्थकों की इस विरोध-भावना पर विजय पाने में और वेदोत्तर-कालीन धर्म में शिव को एक प्रमुख स्थान दिलाने में सफल हुआ था। देव-कथाओं में इस विरोध-भावना का संकेत इस प्रकार किया गया है कि रुद्र को देवताओं की संगति से अलग रखा गया है। इसके उदाहरण भी हम पहले अध्यायों में देख चुके हैं। उनमें से एक उदाहरण यह था कि जब देवताओं ने यज्ञ भाग आपस में बाँटा, तब रुद्र के लिए कोई भाग नहीं छोड़ा। अपर-कालीन दक्ष-यज्ञ की कथा का बीज हम इस वैदिक कथा में पाते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस कथा का

---

१ महाभारत, द्रोण० २०२, अनु० १६०।

२ ,, आदि० १७, १८, और आगे। वन० ८५, ८६। अनु० ११३, १५ और आगे।

रामायण-महाभारत काल मे शैव-धर्म के लाक-प्रचलित रूप की एक और बात अभी शेष है। वह है—उनकी पत्नी की उपासना का विकास। महाभारत में इसपर कुछ प्रकाश पडता है। सिन्धुघाटी के बाद सूत्रग्रन्था में हमें पहली वार इस देवी की उपासना का उल्लेख मिला था। उसके स्वरूप और उसकी उपासना विधि के विषय में भी हमें वहाँ कुछ-कुछ पता चला था। रामायण में इस देवी का स्वतन्त्र उपासना का कोई उल्लेख नही है, परन्तु महाभारत में कई वार इसका उल्लेख हुआ है। देवी की स्तुति में दो पूरे स्तोत्र कहे गये हैं, जिनसे उसके स्वरूप और उसकी उपासना का हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है[1]। विष्णु और शिव के समान ही इस देवी की भी जव आराधना होती थी, तव इसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था, और एक स्थल पर उसे विश्व की परम सम्राज्ञी कहा गया है। साधारणतया उसको शिव के क्रूर रूप में उनकी सहधर्मिणी माना जाता था। वह कृष्ण-वर्णा अथवा कृष्ण तथा वभ्रु रग की है, यद्यपि एक वार उसका वर्ण 'श्वेत' भी कहा गया है। सर्प उसके वस्त्र हैं, वह वहुमुखी और वहुभुजी है और विभिन्न अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित है। युद्ध से पहले विजय-प्राप्ति के लिए उसका आह्वान किया जाता है और उसको 'जया' और 'विजया' कहा गया है। इस रूप मे वह वैवीलोन की देवी 'इश्तर' और असीरिया की देवी से भी वहुत मिलती-जुलती है, क्योकि उसको भी एक रूप में युद्ध की देवी माना जाता था[2]। इस देवी की उपासना को शिव की उपासना के ढग पर ढालने का प्रयत्न किया गया था, जिसके फलस्वरूप देवी को भी अपने भक्तों की रक्षिका और उनके शत्रुओं की सहार करनेवाली माना जाता था। इस सम्वन्ध में उसका सवसे प्रसिद्ध कृत्य 'महिषासुर' का वध है। राक्षस 'कैटभ' का वध भी इसी देवी ने किया था। लोक-विश्वास के अनुसार इसी देवी ने उस कन्या के रूप में अवतार लिया था, जिसे वसुदेव अपनी और देवकी की वास्तविक सन्तान कृष्ण के वदले गोकुल से ले आये थे।

इन सवसे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-महाभारत काल तक देवी की उपासना भी वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म का एक अग वन गई थी। शिव के साहचर्य के कारण ही इस काल तक इस देवी को भी मान्यता मिल गई थी और महाभारत में हम देखते हैं कि युधिष्ठिर और अर्जुन—दोनों देवी की आराधना करते हैं तथा अर्जुन को तो स्वय कृष्ण ने देवी की आराधना करने के लिए कहा था। इसके अतिरिक्त इस समय तक देवी के उपासकों ने अपनी उपासना के लिए प्राचीन श्रुतियों में ही प्रमाण ढूँढ़ने के प्रयत्न करने शुरू कर दिये थे, और इन प्रारम्भिक प्रयत्नो के कुछ सकेत हमें महाभारत मे ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ देवी की स्तुति मे जो स्तोत्र कहे गये हैं, उनमें से एक में इस देवी का सरस्वती से, वेद माता सावित्री से, स्वय श्रुति से और वेदान्त से तादात्म्य किया गया है। इसका सम्भवतः अभिप्राय यह था कि इन सवमें इसी देवी का माहात्म्य गान किया गया है। एक अन्य स्थल पर[3], शिव की सहचरी के रूप में, उसको स्पष्ट रूप से शिव की शक्ति कहा गया

---

१. महाभारत : (कलकत्ता सस्करण)—विराट० ६, भीष्म० २३।

२ जैस्ट्रो . सिविलाइजेशन आफ वेबीलोनिया एण्ड ऐसीरिया, पृ० २३४।

३. महाभारत : अनु० २२, १४६।

वीरभद्र को शिव दक्ष-यज्ञ भंग करने का काम सौंपते हैं। उमा स्वयं महाकाली का रूप धरती हैं और वीरभद्र के साथ जाती हैं।

शैव-धर्म के प्रति प्रारम्भ में जो विरोध-भावना थी, उसका संकेत महाभारत में केवल दक्षयज्ञ की कथा से ही नहीं मिलता। ग्रन्थ-भर में इधर-उधर फैले हुए अन्य कई उल्लेख ऐसे हैं, जो दक्ष-यज्ञ की इस कथा को देखते हुए अर्थ-पूर्ण हो जाते हैं। उदाहरणार्थ उपमन्यु की कथा में शिव पहले इन्द्र का रूप धर कर प्रकट होते हैं और उपमन्यु को उसकी शिवोपासना से विरक्त करना चाहते हैं[1]। यह संदर्भ काफी बाद का और स्पष्ट ही किसी शिव-भक्त का रचा हुआ है, क्योंकि इसमें शिव की उपासना के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं, उनके महत्त्व को जितना हो सके, कम करने का प्रयास किया गया है। परन्तु यह सहज में ही देखा जा सकता है कि शिवोपासना की यह आलोचना एक समय शिव-भक्तों के लिए एक वास्तविक और प्रबल चुनौती थी। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिवोपासना के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं, वे सब उन्हीं आपत्तिजनक अंशों को लेकर किये गये हैं, जिनका शैवधर्म के अन्दर समावेश हो गया था। इससे उस कथन की पुष्टि होती है कि शैवधर्म के प्रति विरोध-भावना का आधार ही उसके ये आपत्तिजनक लक्षण थे, जिन्हें हम पहले के एक अध्याय में कह चुके हैं। अनुशासन पर्व में ही एक अन्य स्थल पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है[2]। पार्वती की समझ में यह नहीं आता कि भगवान शिव जैसे महान् देवता श्मशान भूमि में क्यों घूमते हैं, और उन्होंने कुछ उलहने के स्वर में शिव से इसका कारण भी पूछा। इस संदर्भ में शिव के इस रूप का समाधान करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास यहाँ तक पहुँचता है कि श्मशान भूमि को ही एक पुण्य स्थान मान लिया गया है। इसी पर्व में एक दूसरे स्थल पर त्रिपुरदाह की सारी कथा कही गई है, और यहाँ फिर यह कहा गया है कि जब त्रिपुरदाह के उपरान्त शिव देवताओं के समक्ष पार्वती की गोद में एक शिशु के रूप में आये, तब देवताओं ने उन्हें पहचाना नहीं[3]। स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्र शिव से ईर्ष्या करते थे और वे इस शिशु पर उस समय अपना वज्र फेंकने को तैयार हो गये, परन्तु उसी क्षण उनकी भुजा पर 'सन्निपात' गिरा और उनकी पूर्ण पराजय हुई। इस कथा में इन्द्र के इस प्रकार आचरण करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। परन्तु दक्ष-यज्ञ की कथा के प्रसंग में हमने जो कुछ ऊपर देखा है, उसका ध्यान रखते हुए, इस घटना में हमें प्राचीन और नवीन धर्मों के बीच जो संघर्ष हुआ था, उसकी एक झलक मिलती है। रामायण-महाभारत के समय तक यह नया धर्म पूर्ण रूप में स्थापित हो चुका था, और पुराने धर्म की जड़ें उखड़ चुकी थीं। शिव और उनकी उपासना के प्रति जो प्राचीन विरोध भावना थी, वह तबतक मिट चुकी थी, परन्तु उसकी स्मृति देवकथाओं में अभी तक शेष थी।

---

1 महाभारत, अनु० २२, ९२ और आगे।

2. ,, अनु० ११४, १० और आगे।

3 ,, अनु० १६०, ३२-३३।

रामायण-महाभारत काल में शैव-धर्म के लोक-प्रचलित रूप की एक और बात अभी शेष है। वह है—उनकी पत्नी की उपासना का विकास। महाभारत में इसपर कुछ प्रकाश पड़ता है। सिन्धुघाटी के बाद सूत्रग्रन्थों में हमें पहली बार इस देवी की उपासना का उल्लेख मिला था। उसके स्वरूप और उसकी उपासना विधि के विषय में भी हमें वहाँ कुछ-कुछ पता चला था। रामायण में इस देवी का स्वतन्त्र उपासना का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु महाभारत में कई वार इसका उल्लेख हुआ है। देवी की स्तुति में दो पूरे स्तोत्र कहे गये हैं, जिनसे उसके स्वरूप और उसकी उपासना का हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है[1]। विष्णु और शिव के समान ही इस देवी की भी जब आराधना होती थी, तब इसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था, और एक स्थल पर उसे विश्व की परम सम्राज्ञी कहा गया है। साधारणतया उसको शिव के क्रूर रूप में उनकी सहधर्मिणी माना जाता था। वह कृष्ण-वर्णा अथवा कृष्ण तथा बभ्रु रंग की है, यद्यपि एक वार उसका वर्ण 'श्वेत' भी कहा गया है। सर्प उसके वस्त्र हैं, वह बहुमुखी और बहुभुजी है और विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है। युद्ध से पहले विजय-प्राप्ति के लिए उसका आह्वान किया जाता है और उसको 'जया' और 'विजया' कहा गया है। इस रूप में वह बेबीलोन की देवी 'इश्तर' और असीरिया की देवी से भी बहुत मिलती-जुलती है, क्योंकि उसको भी एक रूप में युद्ध की देवी माना जाता था[2]। इस देवी की उपासना को शिव की उपासना के ढंग पर ढालने का प्रयत्न किया गया था, जिसके फलस्वरूप देवी को भी अपने भक्तों की रक्षिका और उनके शत्रुओं की संहार करनेवाली माना जाता था। इस सम्बन्ध में उसका सबसे प्रसिद्ध कृत्य 'महिषासुर' का वध है। राक्षस 'कैटभ' का वध भी इसी देवी ने किया था। लोक-विश्वास के अनुसार इसी देवी ने उस कन्या के रूप में अवतार लिया था, जिसे वसुदेव अपनी और देवकी की वास्तविक सन्तान कृष्ण के बदले गोकुल से ले आये थे।

इन सबसे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-महाभारत काल तक देवी की उपासना भी वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म का एक अंग बन गई थी। शिव के साहचर्य के कारण ही इस काल तक इस देवी को भी मान्यता मिल गई थी और महाभारत में हम देखते हैं कि युधिष्ठिर और अर्जुन—दोनों देवी की आराधना करते हैं तथा अर्जुन को तो स्वयं कृष्ण ने देवी की आराधना करने के लिए कहा था। इसके अतिरिक्त इस समय तक देवी के उपासकों ने अपनी उपासना के लिए प्राचीन श्रुतियों में ही प्रमाण ढूँढने के प्रयत्न करने शुरू कर दिये थे, और इन प्रारम्भिक प्रयत्नों के कुछ संकेत हमें महाभारत में ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ देवी की स्तुति में जो स्तोत्र कहे गये हैं, उनमें से एक में इस देवी का सरस्वती से, वेद माता सावित्री से, स्वयं श्रुति से और वेदान्त से तादात्म्य किया गया है। इसका सम्भवतः अभिप्राय यह था कि इन सबमें इसी देवी का माहात्म्य गान किया गया है। एक अन्य स्थल पर[3], शिव की सहचरी के रूप में, उसको स्पष्ट रूप से शिव की शक्ति कहा गया

१. महाभारत : (कलकत्ता संस्करण)—विराट० ६, भीष्म० २३।
२. जैस्ट्रो . सिविलाइजेशन आफ बेबीलोनिया एण्ड ऐसीरिया, पृ० २३४।
३. महाभारत . अनु० २२, १४६।

है। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक उसको शिव की वह शक्ति अथवा माया माना जाने लगा था, जिसका उपनिषदों मे उल्लेख किया गया है। यही से शाक्तमत का प्रारम्भ होता है।

जिन दो स्तोत्रो की ऊपर चर्चा की गई है, उनमें देवी के कुछ और गुणों तथा लक्षणों का भी वर्णन किया गया है, जिनपर ध्यान देना आवश्यक है। यद्यपि एक ओर देवी को शिव की पत्नी और स्कन्द की जननी माना गया है, परन्तु दूसरी ओर उसको कुमारी कहा गया है जिसने सतत कौमार्य का व्रत ले रखा था। उसका आवास विन्ध्य पर्वत है और मद्य, मांस तथा पशु-बलि—विशेष कर भैंसे का रक्त—उसे अतिप्रिय हैं। उसकी आकृति अति कुरूप है और जिन दानवों का वह वध करती है, उन्हें अपने वृक मुख से खा जाती है। ये लक्षण जहाँ तक हमें ज्ञात है, न तो वैदिक अम्बिका में हैं, न सिन्धु-घाटी की स्त्री देवता मे पाये जाते हैं। परन्तु आजतक भी विन्ध्याचल के आस-पास की आदिवासी जातियाँ ऐसी स्थानीय स्त्री देवताओं की उपासना करती हैं, जिनका स्वरूप और जिनके गुण सर्वथा वही है—जैसे इस देवी के[1]। अतः यहाँ हम उस प्रक्रिया का प्रारम्भ देखते हैं, जो रुद्र की सहचरी की उपासना के विकास के साथ-साथ चलती रही और जिसके द्वारा अन्त में इस देवी ने देश-भर की समस्त स्थानीय स्त्री देवताओं को आत्मसात् कर लिया, और वे सब इस देवी की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानी जाने लगीं।

इन दो स्तोत्रों के अतिरिक्त महाभारत में कुछ अन्य स्थलों पर भी इस देवी का उल्लेख किया गया है। सौप्तिक पर्व मे प्रलय निशा की प्रतीक 'कालरात्रि' के रूप में उसका वर्णन किया गया है। वह कृष्णवर्णा है, उसका मुख रक्त वर्ण है और आँखें लाल हैं, वह रक्तपुष्पों की माला पहनी है और उसके शरीर पर रक्त वर्ण का लेप है—केवल एक रक्तवस्त्र उसका आवरण है। संक्षेप में उसकी वेश-भूषा उसके स्वरूप के अनुकूल ही है। उसकी आकृति प्रौढा नारी की-सी है और वह एक हाथ मे पाश लिये हुई है।

शान्ति पर्व मे एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्वयं उमा ने महाकाली का रूप धारण किया था, और दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करने वह 'वीर-भद्र' के साथ गई थीं[2]। यही बात अनुशासन पर्व में भी कही गई है जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक इस देवी को पूर्ण रूप से शिव की सहचरी माना जाने लगा था, यद्यपि शिव के समान ही, उसकी भी कुछ लोग उसके आदि क्रूर रूप में उपासना करते थे। परन्तु जहाँ शिव के क्रूर रूप की उपासना उनके कुछ इने-गिने ही भक्त करते थे, और इस पर भी इन लोगों का कुछ समय बाद एक गुप्त सम्प्रदाय-सा बन गया तथा इनके आचार-विचार भी समाज-विरोधी हो गये, वहाँ दुर्गा अथवा काली के रूप में देवी की उपासना बराबर बढ़ती और फैलती ही गई। इसने शीघ्र ही एक स्वतंत्र मत का रूप धारण कर लिया, जो अपने अनुयायियों की संख्या

---

1 महाभारत (कलकत्ता संस्करण) सौप्तिक० ८।

2 ,, (,,) शान्ति० २८४।

की दृष्टि से शैव और वैष्णव मत से कम नही था। उसका क्रूर रूप बराबर बना रहा, और पशुओं एव रक्त की बलि आज तक उसकी उपासना का एक आवश्यक अग बना हुआ है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले एक बात और देखनी शेष रह जाती है। वह यह है कि न तो 'रामायण' में और न 'महाभारत' में ही गणेश का कहीं विस्तृत वर्णन किया गया है। उनका इतना उल्लेख तो अवश्य हुआ है कि महाभारत की रचना के समय जो कुछ महर्षि व्यास बोलते जाते थे, उसे गणेश जी लिखते जाते थे। परन्तु इसके अतिरिक्त उनके विषय में और कुछ नहीं कहा गया है। वह इस समय तक एक स्वतंत्र देवता बन गये थे, यह तो सूत्र ग्रन्थो से ही स्पष्ट हो जाता है, परन्तु रामायण-महाभारत के समय तक वह एक प्रमुख देवता नहीं थे। फिर भी यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि महाभारत में एक-दो बार शिव को गणपति कहा गया है, और उनके अनुचर 'गण' कहलाते हैं। एक बार उनको 'गणेश्वर' की भी उपाधि दी गई है, जो गणेश का ही पर्यायवाची शब्द है और जिसका प्रयोग सूत्रग्रन्थो में 'विनायक' के लिए किया गया है। यह शिव और गणेश के मूल तादात्म्य का एक और प्रमाण है।

इस प्रकार रामायण-महाभारत मे हम देखते हैं कि शैव मत सार रूप से वे ही लक्षण ग्रहण करता जा रहा था, जो हमें पौराणिक युग में दिखाई देते हैं। उपनिषद्-काल के धार्मिक परिवर्तन और विकास के फलस्वरूप, वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म मे, शिव एक प्रमुख देवता बन गये और अपने उपासको द्वारा सर्वश्रेष्ठ देवता माने जाने लगे। उनकी उपासना के दो रूप थे - एक दार्शनिक और दूसरा लोकप्रचलित। उनकी उपासना के प्रति जो विरोध-भावना प्राचीन काल मे थी, वह अबतक सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, यद्यपि उसकी स्मृति देवकथाओं में अभी तक विद्यमान थी। शिवोपासना के जिन आपत्तिजनक रूपों को लेकर इस विरोधभावना का जन्म हुआ था, उनका भी अभी तक अस्तित्व था ही और कुछ लोग उन्हीं रूपों में शिव की उपासना भी करते थे। भक्तिवाद का भी अब पूर्णरूप से प्रचार हो गया था और यह विष्णु तथा शिव—इन्ही दो देवताओं में केन्द्रित था। उनकी उपासना का साधारण ढग प्रार्थना और उनकी प्रशसा में स्तुति-गान करना था। यह प्रार्थना अथवा स्तुतिगान आम तौर पर मन्दिरो में किया जाता था, जहाँ शिव की मूर्त्तियाँ होती थीं। उनकी लिंग मूर्त्तियाँ भी अब उनकी मानवाकार मूर्त्तियो के समान ही प्रचुर सख्या में बनती थीं, परन्तु उनका जननेंद्रिय-उपासना से अब कोई सम्बन्ध नहीं था, यद्यपि यह ज्ञान लोगो को अवश्य था कि इन मूर्त्तियो का आकार जननेन्द्रिय-सम्बन्धी है। शिव का अब अपनी सहचरी से भी स्पष्ट सम्बन्ध था, जो उमा अथवा पार्वती कहलाती थी। शिवोपासना का सबसे अधिक लोक-प्रचलित रूप वह था, जिसमें दोनों की साथ उपासना होती थी। इस रूप में दोनो का आदि स्वरूप बहुत बदल गया था और भक्तिवाद के प्रभाव से वह अति सौम्य हो गया था। उनको अब दयाशील, कल्याणकारी और कृपालु देवता माना जाता था, जो सदा मानवजाति के हित मे लगे रहते थे, यद्यपि मर्यादा

उल्लघन करनेवाले को वह दण्ड भी देते थे। योगाभ्यास और तपस्या का मान अब बहुत बढ़ गया था, और इन्हीं के द्वारा शिव मे सच्ची और अचल भक्ति रख कर उन्हें प्रसन्न किया जा सकता था। अनेक भक्तो ने इस प्रकार उनसे वरदान पाये थे। इन भक्तो में 'उपमन्यु' सबसे प्रमुख हैं और उसको एक आदर्श भक्त माना गया है। शिव की सहचरी की देवी के रूप मे स्वतत्र उपासना का भी विकास हो रहा था और उसको कुछ मान्यता भी दी जाने लगी थी, यद्यपि इस रूप में देवी का प्राचीन क्रूर स्वरूप ही बना रहा तथा कुछ स्थानीय स्त्री देवताओ को आत्मसात् कर लेने के कारण उसका विकास भी हो रहा था। देवी के कुछ भक्त प्राचीन वैदिक श्रुतियो से उसका उपासना को प्रामाणिकता देने का और उनका एक दार्शनिक आधार बनाने की चेष्टा भी कर रहे थे। इन प्रयासो से शाक्त धर्म का जन्म हुआ।

शैव धर्म के विकास का हमारा निरीक्षण अब ईसा सवत् के प्रारम्भ से कुछ पहले तक पहुँच जाता है। अब इसको हम इस काल की कुछ अन्य उपलब्ध सामग्री का अवलोकन करके समाप्त करेंगे। जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उससे रामायण और महाभारत के प्रमाणो की पुष्टि होती है। इस सामग्री में से सबसे पहले लघु उपनिषद् ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना लगभग रामायण-महाभारत के अपरकालीन भागो के समय में ही हुई थी। इन उपनिषदो मे बहुत-सी सामग्री है, जिससे रामायण-महाभारत के आधार पर जो निष्कर्ष हमने निकाले हैं, उनकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ 'कैवल्य उपनिषद्'[1] मे शिव की दार्शनिक 'पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है, जिसका न आदि है, न मध्य, न अन्त, जो एक है, चित् है तथा आनन्द है, जो साक्षी है और जिनके स्वरूप को पहचान कर ऋषियो ने सद्-ज्ञान प्राप्त किया है। यहीं 'सदाशिव' उपाधि का भी पहली बार प्रयोग किया गया है और बाद मे इसी उपाधि से शिव के दार्शनिक स्वरूप का भी निर्देश किया जाने लगा। अपने लोक-प्रचलित स्वरूप मे शिव को परमेश्वर, त्रिनेत्र, नीलकठ तथा उमापति कहा गया है। इन सब लक्षणो को हम रामायण-महाभारत मे देख चुके हैं[2]। 'शतरुद्रिय सूक्त' मे शिव का स्तवन किया गया है, इसी कारण इस सूक्त का जाप करने से मनुष्य की ऐसी परिशुद्धि हो जाती है जैसे अग्नि से धातु की, और वह कैवल्य की अवस्था को पहुँच जाता है[3]। 'जाबाल उपनिषद्' मे कहा गया है कि शिव ने 'तारकासुर' को ब्रह्मज्ञान दिया था[4]। 'शतरुद्रिय सूक्त' के माहात्म्य का यहा भी वर्णन किया गया है और उसको अमरत्व-प्राप्ति का साधन माना है। 'नारायण उपनिषद्' मे, जो 'तैत्तिरीय आरण्यक' का अन्तिम अध्याय है, विभिन्न देवताओ का 'तत्पुरुष' मे तादात्म्य किया गया है और यहाँ हमे वह श्लोक मिलता है, जिसकी हमने पहले

---

१ कैवल्य उपनिषद ७, १८।

२ ,, ७।

३ ,, ९।

४ जाबाल उपनिषद ३।

एक अध्याय मे भी चर्चा की है और जिसमे 'वक्रतुण्ड' और 'दन्ति' का उल्लेख है[1]। इसी प्रसग में स्कन्द और गरुड़ का भी उल्लेख किया गया है, जिससे इस उपनिषद् का अपरकालीन होना सिद्ध होता है। इसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थल पर दुर्गा के नाम से देवी का आह्वान रामायण-महाभारत के ढग पर ही किया गया है[2]। अन्त में 'अथर्वशिरस उपनिषद्' है, जिसमें केवल शिव की महिमा का गान है। शिव की विश्वदेवतात्मक ब्रह्म के रूप में कल्पना की गई है और विभिन्न देवताओ से उनका तादात्म्य किया गया है, जिनमें विनायक और उमा भी हैं[3]। इस उपनिषद् मे शिव का जो स्वरूप दिखाई देता है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि शिव का दार्शनिक स्वरूप अव 'साख्य' के 'पुरुष' की अपेक्षा 'वेदान्त' के 'ब्रह्म' के अधिक निकट आता जा रहा था।

इन लघु उपनिपदो के वाद हमें 'पतजलि' का महाभाष्य मिलता है, जो ईसा से दो शताब्दी पूर्व का है। पतजलि शुग पुष्यमित्र के समकालीन थे। महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का उल्लेख तो है ही[4], इसके साथ-साथ शिव और स्कन्द की मूर्तियो का भी वर्णन हैं, जो स्पष्ट ही पूजा के लिए वनाई जाती थी[5]। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि मौर्य सम्राट् इस मूर्ति-निर्माण और मूतियो की उपासना को सरकारी आय का साधन वनाते थे[6]। इस प्रकार इस ग्रन्थ से 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' की पुष्टि होती है और यह भी सिद्ध होता है कि पतजलि के समय तक मूर्तिपूजा एक वड़ी प्राचीन प्रथा हो गई थी। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर पतजलि ने 'शिव-भागवतो'[7] का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः शिवोपासको का एक सम्प्रदाय थे। एक अगले अध्याय में हम इनकी फिर चर्चा करेगे। पतजलि ने न तो देवी का या न गणेश का ही कोई उल्लेख किया है।

इसी समय के कुछ सिक्के भी हमें मिलते हैं, जिनसे शिव और उनकी उपासना के विषय में हमें कुछ प्रासगिक वातें पता चलती हैं। इनमें से सवसे प्राचीन कुछ चाँदी और ताम्वे के ठप्पेदार सिक्के हैं, जो लगभग तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के हैं। उनपर अनेक चिह्न अकित हैं, जिनमे वृषभ कई वार पाया जाता है[8]। यह कहना कठिन है कि इस वृषभ का शिव से कोई सम्वन्ध था या नहीं। यह वृषभ चिह्न, दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हिन्द-यूनानी राजाओं के कुछ सिक्कों पर भी मिलता है[9]। इन राजाओं ने भारतीय सस्कृति को

---

१. नारायण उपनिषद् ५, ८।
२. ,, ,, १६।
३. अथर्वशिरस् उपनिषद्।
४. महाभाष्य ,, सूत्र १,४९, ३, ९९, १,६३, ४, ७७ के नीचे।
५. ,, ,, सूत्र ३, ९९ के नीचे।
६. ,, ,, : सूत्र ३, ९९ के नीचे।
७. ,, ,, : सूत्र २, ७६ के नीचे।
८. Catalogue of Indian Coins. Br. Museum : Introd. p. 18, Pl. I, Nos. 20-23.
९. Coins of Alexander's successors in the East. Cunningham, Pl. VIII, Nos. 7-12 PC. IX, No. 4.

ग्रहण कर लिया था—जैसा कि इनके सिक्का के लेखों से स्पष्ट है, जो संस्कृत भाषा में थे। हो सकता है कि कुछ ने शैव मत भी ग्रहण कर लिया हो। तीसरी से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक के कुछ चाँदी के सिक्कों पर एक देवता का चित्र अंकित है। अपरकालीन उज्जयिनी के सिक्को पर फिर वैसा ही चित्र दिखाई देता है, और वहाँ निश्चित रूप से वह कार्तिकेय का ही चित्र है[१]। अत यहाँ भी यह संभव है कि यह कार्तिकेय का ही चित्र हो और उस समय तक उसकी उपासना भी की जाने लगी हो। इससे महाभाष्य के उस उल्लेख की पुष्टि होती है, जहाँ स्कन्द की मूर्तियों की चर्चा की गई है। उसी समय का एक सिक्का और है जिसके जारी करनेवाले राजा का पता नहीं, परन्तु जिसपर पहली बार 'शिवलिंग' का एक चित्र अंकित किया गया है[२]। वह एक पीठिका पर रखा हुआ है, लगभग उसी ढंग से जैसे अपर काल में लिंग-मूर्तियाँ रखी जाती थीं। अत वह उपासना के लिए ही बनाया गया होगा। इससे गृह्यसूत्रों और महाभारत के प्रमाणो की बड़े विशद ढंग से पुष्टि हो जाती है। अन्त मे राजा गोंडोफारेज के सिक्कों पर हमें प्रथम बार स्वयं शिव का चित्र अंकित मिलता है[३]। अपरकालीन सिक्को में तो यह चित्र अति साधारण हो गया था। इस चित्र मे शिव द्विबाहु, खडे हुए और अपने दक्षिण हाथ में त्रिशूल लिये हुए दिखाये गये हैं। यही चित्र बाद में सब सिक्को के चित्रो के लिए एक नमूना बन गया, ऐसा मालूम होता है। इन सब सिक्कों में वह सदा इसी प्रकार खड़े हुए, द्विबाहु अथवा चतुर्बाहु और अपने हाथो में विभिन्न वस्तुएँ लिये दिखाये गये हैं।

इन सब अभिलेखो से पता चलता है कि इस काल में उत्तर भारत में शैव धर्म के उसी स्वरूप का प्रचार था जो रामायण-महाभारत मे हमने देखा है और कभी-कभी इसको राजाश्रय भी मिल जाता था। इस शैव धर्म का प्रचार केवल उत्तर भारत में ही नहीं था, दक्षिण मे 'गुट्डीमल्लम्' नामक स्थान पर एक लिंग-मूर्ति मिली है, जिसका समय दूसरी शताब्दी ईसापूर्व निर्धारित किया गया है[४]। कई दृष्टियों से यह एक बडी महत्त्वपूर्ण खोज है। यह केवल इसी बात का प्रमाण नहीं है कि इस समय तक शैव धर्म का और उसके अन्तर्गत लिंगोपासना का प्रचार दक्षिण भारत तक पहुँच गया था, परन्तु इस लिंग-मूर्ति का आकार जननेन्द्रिय से इतना मिलता-जुलता है कि इस धारणा मे किसी संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि प्रारम्भ मे ये लिंग-मूर्तियाँ जननेन्द्रिय का प्रतीक ही थीं। इसी मूर्ति पर शिव की मानवाकार मूर्ति भी खुदी हुई है, अत यह लिंग-मूर्तियो की उस श्रेणी का प्रथम उदाहरण है जिसे 'मुखलिंग' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'भीता' नामक स्थान पर पहली शताब्दी ईसा पूर्व की एक और लिंग-मूर्ति मिली है[५]। यह उतनी यथार्थपूर्ण,

१ Catalogue of Indian Coins Br Museum (Ancient India) Class I, Group 3 variety 'f' and 'g' Pl XII

२ ,, ,, ,, Introd p 75 Pc II, 2 etc

३ ,, ,, ,, ,, ,,

४. गोपीनाथ राव हिन्दू आइकानोग्राफी, भाग २, पृ० ६३-६६।

५ ,, ,, ,, ,, ,, ,,।

तो नहीं है; परन्तु इसपर पंचमुख शिव की मानवाकार मूर्ति खुदी हुई है और शिव का पाँचवाँ मुख मूर्ति के शिरोभाग पर है। एक तीसरी लिंग-मूर्ति मध्य ट्रावनकोर में 'चेमी हलई' नामक स्थान पर मिली है। इसका आकार लगभग रूढिगत है और इसको अपरकालीन लिंग-मूर्तियों का आदि रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार ईसा-सवत् के प्रारम्भ तक शैवधर्म का प्रचार समस्त भारत में हो गया था, और उसका स्वरूप सारतः वही था, जो रामायण-महाभारत काल मे था। आगामी शताब्दियों में शैव धर्म के इन्ही रूपो और लक्षणों का अधिक विकास होता गया और अन्त में शैव धर्म का वह स्वरुप बना जो हम पुराणों मे पाते हैं तथा जिसको शैव धर्म का प्रामाणिक स्वरूप कह सकते हैं। अतः अगले अध्याय में हम इसी विकास का और फिर पौराणिक शैव धर्म का अध्ययन करेंगे।

ग्रहण कर लिया था—जैसा कि इनके सिक्कों के लेखों से स्पष्ट है, जो संस्कृत भाषा में थे। हो सकता है कि कुछ ने शैव मत भी ग्रहण कर लिया हो। तीसरी से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक के कुछ चाँदी के सिक्कों पर एक देवता का चित्र अंकित है। अपरकालीन उज्जयिनी के सिक्कों पर फिर वैसा ही चित्र दिखाई देता है, और वहाँ निश्चित रूप से वह कार्तिकेय का ही चित्र है[१]। अतः यहाँ भी यह संभव है कि यह कार्तिकेय का ही चित्र हो और उस समय तक उसकी उपासना भी की जाने लगी हो। इससे महाभाष्य के उस उल्लेख की पुष्टि होती है, जहाँ स्कन्द की मूर्तियों की चर्चा की गई है। उसी समय का एक सिक्का और है जिसके जारी करनेवाले राजा का पता नहीं, परन्तु जिसपर पहली बार 'शिवलिंग' का एक चित्र अंकित किया गया है[२]। वह एक पीठिका पर रखा हुआ है, लगभग उसी ढंग से जैसे अपर काल में लिंग-मूर्तियाँ रखी जाती थीं। अतः वह उपासना के लिए ही बनाया गया होगा। इससे गृह्यसूत्रों और महाभारत के प्रमाणों की बड़े विशद् ढंग से पुष्टि हो जाती है। अन्त में राजा गोंडोफारेज के सिक्कों पर हमें प्रथम बार स्वयं शिव का चित्र अंकित मिलता है[३]। अपरकालीन सिक्कों में तो यह चित्र अति साधारण हो गया था। इस चित्र में शिव द्विबाहु, खड़े हुए और अपने दक्षिण हाथ में त्रिशूल लिये हुए दिखाये गये हैं। यही चित्र बाद में सब सिक्कों के चित्रों के लिए एक नमूना बन गया, ऐसा मालूम होता है। इन सब सिक्कों में वह सदा इसी प्रकार खड़े हुए, द्विबाहु अथवा चतुर्बाहु और अपने हाथों में विभिन्न वस्तुएँ लिये दिखाये गये हैं।

इन सब अभिलेखों से पता चलता है कि इस काल में उत्तर भारत में शैव धर्म के उसी स्वरूप का प्रचार था जो रामायण-महाभारत में हमने देखा है और कभी-कभी इसको राजाश्रय भी मिल जाता था। इस शैव धर्म का प्रचार केवल उत्तर भारत में ही नहीं था, दक्षिण में 'गुट्डीमल्लम्' नामक स्थान पर एक लिंग-मूर्ति मिली है, जिसका समय दूसरी शताब्दी ईसापूर्व निर्धारित किया गया है[४]। कई दृष्टियों से यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज है। यह केवल इसी बात का प्रमाण नहीं है कि इस समय तक शैव धर्म का और उसके अन्तर्गत लिंगोपासना का प्रचार दक्षिण भारत तक पहुँच गया था, परन्तु इस लिंग-मूर्ति का आकार जननेन्द्रिय से इतना मिलता-जुलता है कि इस धारणा में किसी संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि प्रारम्भ में ये लिंग-मूर्तियाँ जननेन्द्रिय का प्रतीक ही थीं। इसी मूर्ति पर शिव की मानवाकार मूर्ति भी खुदी हुई है, अतः यह लिंग-मूर्तियों की उस श्रेणी का प्रथम उदाहरण है जिसे 'मुखलिंग' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'भीता' नामक स्थान पर पहली शताब्दी ईसा पूर्व की एक और लिंग-मूर्ति मिली है[५]। यह उतनी यथार्थपूर्ण,

---

१ Catalogue of Indian Coins Br Museum (Ancient India) Class I, Group 3 variety 'f' and 'g' Pl XII

२ ,, ,, ,, Introd. p 75 Pc II, 2 etc

३ ,, ,, ,, ,, ,,

४ गोपीनाथ राव हिन्दू आइकानोग्राफी, भाग २, पृ० ६३-६६।

५ ,, ,, ,, ,, , ,,।

तो नहीं है, परन्तु इसपर पचमुख शिव की मानवाकार मूर्ति खुदी हुई है और शिव का पाँचवाँ मुख मूर्ति के शिरोभाग पर है। एक तीसरी लिंग-मूर्ति मध्य ट्रावनकोर में 'चेमी हलई' नामक स्थान पर मिली है। इसका आकार लगभग रूढिगत है और इसको अपरकालीन लिंग-मूर्तियो का आदि रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार ईसा-सवत् के प्रारम्भ तक शैवधर्म का प्रचार समस्त भारत मे हो गया था, और उसका स्वरूप सारतः वही था, जो रामायण-महाभारत काल मे था। आगामी शताब्दियों में शैव धर्म के इन्ही रूपो और लक्षणो का अधिक विकास होता गया और अन्त में शैव धर्म का वह स्वरुप वना जो हम पुराणो में पाते हैं तथा जिसको शैव धर्म का प्रामाणिक स्वरुप कह सकते हैं। अतः अगले अध्याय में हम इसी विकास का और फिर पौराणिक शैव धर्म का अध्ययन करेंगे।

पञ्चम अध्याय

ईसा-सवत् की प्रारम्भिक कुछ शताब्दियाँ भारतीय धर्म के इतिहास का निर्माण-युग हैं। इस युग मे उपनिषद् काल के बाद जिन विभिन्न मतो का प्रादुर्भाव हुआ था, उनका विकास हुआ और उन्होने अपना निश्चित रूप धारण किया। दुर्भाग्य से इस युग के निश्चित धर्मसम्बन्धी अभिलेख, विशेषतः ऐसे अभिलेख जिनका शैवधर्म से सीधा सम्बन्ध हो, अब नहीं मिलते। इस कारण हमे इस युग के धार्मिक इतिहास के लिए उन प्रासगिक उप-सूचनाओ का सहारा लेना पडता है, जो इस समय के अन्य लौकिक अभिलेखो से मिलती हैं। ये अभिलेख साहित्यिक भी हैं और पुरातत्त्व-सम्बन्धी भी। यद्यपि इन अभिलेखो की सख्या अधिक नहीं है, फिर भी इस युग में विभिन्न मतों के विकास का एक साधारण ज्ञान कराने के लिए वे पर्याप्त हैं। अत. पहले हम इन्हीं का अध्ययन करेंगे और यह देखेंगे कि ईसा की इन प्रारम्भिक शताब्दियो में शैवधर्म के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में इनमे कहाँ तक सहायता मिलती है।

साहित्यिक अभिलेखों मे सबसे पहले 'अश्वघोष' की कृतियाँ हैं। 'अश्वघोष' एक बौद्धमतावलम्बी कवि और विद्वान् थे, जो ईसा के प्रथम शती में हुए और राजा कनिष्क के समकालीन थे। उन्होने अपने 'बुद्धिचरित' नामक काव्य में भगवान् शिव का कई बार उल्लेख किया है और इन उल्लेखो से हमें पता चलता है कि उस समय शिव का स्वरूप सारभाव से वैसा ही था, जैसा रामायण-महाभारत में। उदाहरणार्थ एक श्लोक मे 'वृषध्वज' नाम से उनका उल्लेख किया गया है[1], और एक अन्य स्थल पर[2] उनको 'भव' कहा गया है, तथा स्कन्द को (जिसे यहाँ 'षण्मुख' कहा गया है) उनका पुत्र माना गया है। एक तीसरे श्लोक मे देवी कहकर पार्वती का उल्लेख किया गया है और उनको स्कन्द की माता माना गया है[3]। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वय स्कन्द को यहा 'अग्निसूनु' कहा गया है। 'अश्वघोष' की दूसरी कृति 'सौन्दरानन्द' मे शिव अथवा उनकी उपासना के सम्बन्ध मे कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। एक श्लोक मे 'साम्बिक' शब्द अवश्य आया है, जिससे स्कन्द अथवा गणेश अभिप्रेत हो सकते हैं[4]। परन्तु इस श्लोक का पाठ निश्चित नहीं है। अश्वघोष की जो अन्य कृतियाँ बताई जाती है, उनमें शिव अथवा शैव-धर्म के विषय मे कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी का शायद 'शूद्रक' कवि रचित 'मृच्छकटिक' नामक रूपक भी है। इसके उपोद्घात को छोड़कर, जो बाद का है, इस ग्रन्थ मे शिव

---

१ बुद्ध-चरित १०, ३।
२. ,, १, ९३।
३ ,, १, ८८।
४ सौन्दरानन्द १०, ९।

और शैवधर्म-सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं। एक स्थल पर शिव के विभिन्न नाम—शिव, ईशान, शकर और शंभु दिये गये हैं[१]। एक अन्य स्थल पर शिव द्वारा दक्ष-यज्ञ-विध्वस की ओर सकेत किया गया है[२]। महादेवी के रूप में पार्वती का भी एक बार उल्लेख हुआ है और इनके द्वारा शुभ-निशुभ के वध की कथा की ओर भी सकेत किया गया है[३]। यहाँ तक तो शिव और पार्वती का स्वरूप बिलकुल वैसा ही है, जैसा रामायण-महाभारत में। परन्तु कुछ अन्य स्थलों पर इस स्वरूप में हम कुछ विकास पाते हैं और इसको शैवधर्म के पौराणिक स्वरूप की ओर बढते हुए देखते हैं। उदाहरणार्थ छठे अक के एक श्लोक में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति के साररूपेण ऐक्य की ओर स्पष्ट सकेत किया गया है[४]। इस ऐक्य की केवल एक धुँधली-सी झलक ही 'महाभारत' के सबसे अपरकालीन भागों में मिलती है, परन्तु पुराणों में इसको स्पष्ट रूप से माना गया है। इसके अतिरिक्त तीसरे अक में स्कन्द को चोरों का सरक्षक देवता माना गया है[५]। यह कहना कठिन है कि स्कन्द ने यह रूप कब धारण किया? परन्तु, यहाँ यह याद करना शायद रुचिकर होगा कि वैदिक 'शतरुद्रिय' स्तोत्र में स्वय रुद्र को चोरो का सरक्षक देवता माना गया है। एक अन्य स्थल पर शिव द्वारा क्रौंच-वध का उल्लेख किया गया है, जो एक नई कथा है। अन्त में एक स्थल पर मातृकाओं का भी उल्लेख हुआ है, जिनकी जनसाधारण द्वारा चतुष्पथों पर पूजा की जाती थी[६]। इन स्त्री देवताओं की उपासना बाद में स्कन्द की उपासना का एक अग बन गई। इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने का हमें आगे चलकर अवसर मिलेगा।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हमें तीन और ग्रन्थ मिलते हैं, जिनकी रचना भी सम्भवतः ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में हुई थी। ये ग्रन्थ हैं—'मनुस्मृति', 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र'। मनुस्मृति में कई बार देवताओं की मूर्तियों का और उनकी उपासना का उल्लेख किया गया है[७], और कुछ ऐसे लोगों की चर्चा भी की गई है जो देवमूर्तियों को पूजार्थ लिये चलते थे। उनकी जीविका का यही साधन था[८]। अनेक देवताओं का नाम लेकर भी उल्लेख किया गया है, जिनमें विष्णु भी हैं। परन्तु न तो शिव का, न उनकी सहधर्मिणी का कहीं उल्लेख हुआ है। हाँ, रुद्रों (एकादश रुद्रों) का एक बार उल्लेख हुआ है[९]। परन्तु एक स्थल पर शिव पर चढ़ाये नैवेद्य (भोज्य-वस्तु) को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इस समय शिव की

---

१. मृच्छकटिक १, ४१।
२. ,, १०, ४५।
३. ,, ६, २७।
४. ,, ६, २७।
५. ,, ३, ५ के आगे का गद्य भाग।
६. ,, २, २५ ,, ,, ,,
७. मनुस्मृति : अध्याय ६, ३६, १३०, १५३।
८. ,, : ,, ३, १५२, १८०।
९ ,, ,, ३, २८४।

अर्चना इन वस्तुओं से की जाती थी। इनके ग्रहण करने के निषेध के पीछे सम्भवतः शिव के प्रति प्राचीन विरोध-भावना की स्मृति है।

'भारतीय नाट्य-शास्त्र' मे शिव का पूर्ण रूप से सत्कार और सम्मान किया गया है। प्रारम्भ में ही ब्रह्मा के साथ ही उनका भी आह्वान किया गया है और उनको 'परमेश्वर' कहा गया है[1]। अन्य स्थलों पर उनको 'त्रिनेत्र', 'वृषाक', 'नीलकंठ' आदि उपाधियाँ दी गई हैं और उनके गणों की चर्चा भी की गई है[2]। इसी ग्रन्थ में शिव का 'नटराज' रूप प्रमुख है। वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और 'कैशिकी वृत्ति' सदा उनकी सेवा मे रहती है[3]। उन्होंने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया[4]। इस समय तक सम्भवतः उनको महान् योगाचार्य भी माना जाने लगा था और ग्रन्थ मे कहा गया है कि उन्होंने ही भरत-पुत्रों को 'सिद्धि' सिखाई[5]। अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का उल्लेख भी किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से 'भरत' ने 'त्रिपुरदाह' नाम का एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था[6]।

'काम सूत्र' मे शिव का, केवल एक बार आदि के मंगल श्लोक में, उल्लेख किया गया है[7]। इसमें कहा गया है कि भगवान् शिव के अनुचर नन्दी ने ब्रह्मा द्वारा रचित एक बृहदाकार विश्वकोष के कामशास्त्र-सम्बन्धी भाग की व्याख्या की थी।

ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों के हमें अनेक सिक्के भी मिलते हैं, जिनसे इस काल के भारत के राजनीतिक इतिहास की खोज में हमे अमूल्य सहायता मिली है। हमारे मतलब के लिए भी उनका वैसा ही मूल्य है जैसा कि उन प्राचीन सिक्कों का था, जिनकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। इन सिक्कों से भी हमें तत्कालीन शैव-धर्म-सम्बन्धी अनेक प्रासंगिक उपसूचनाएँ मिलती हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी के प्राचीन कुशान राजाओं के सिक्के हैं। 'वेम कैडफासिस' के दो सोने के सिक्कों के पिछले भाग पर शिव का चित्र अंकित है[8]। दोनों मे शिव को खड़े हुए दिखाया गया है और उनके दक्षिण हाथ में त्रिशूल। पहले सिक्के में शिव का वाहन वृषभ उनके पास ही खड़ा हुआ दिखाया गया है। दूसरे सिक्के मे त्रिशूल के अतिरिक्त भगवान एक कमण्डल और व्याघ्रचर्म भी हाथ मे लिये हुए हैं। दोनों मे शिव द्विबाहु हैं। रामायण-महाभारत मे शिव के जिस स्वरूप की

[1] नाट्य-शास्त्र १, १।
[2] ,, १, ४५, २४, ५, १०।
[3] ,, १, ६५।
[4] ,, ४, १७ और आगे।
[5] ,, १, ६०।
[6] ,, ४, ५-१०।
[7] कामसूत्र मंगल श्लोक।
[8] Lahore Museum Catalogue of Coins (white head) Plate XVII, nos 31, 33
Calcutta ,, ,, ,, (Smith) P 68, nos. 1-12

कल्पना की गई थी, यह चित्र उसी का प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त इन सिक्कों पर जो लेख हैं, उनसे भी पता चलता है कि यह राजा शैवमतावलम्वी था, क्योंकि इनमें उसको 'महीश्वर' की उपाधि दी गई है [१]। इसी राजा के ताँबे के सिक्कों पर भी सोने के सिक्कों के सदृश ही शिव का चित्र अंकित है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके सिर के चारों ओर प्रकाशमण्डल विद्यमान है [२]। इन सिक्कों के बाद हमें 'कनिष्क' के सिक्के मिलते हैं। इसके एक सोने के और अनेक ताँबे के सिक्कों की पीठ पर भगवान् शिव का चतुर्भुज चित्र अंकित है। यहाँ भी शिर के चारों ओर प्रकाश-मण्डल है, और चार हाथो में, त्रिशूल, डमरू, कमण्डल और पाश हैं [३]। इस चित्र के साथ जो लेख है, वह यूनानी लिपि में है जिसे 'ohpo' पढ़ा जाता है और जिसका संस्कृत रूप 'ईश' होता है। कनिष्क के कुछ अन्य सिक्कों पर शिव के पास ही एक हिरन खड़ा हुआ दिखाया गया है [४]। इसका संकेत सम्भवतः शिव के 'पशुपति' रूप की ओर है और हमें सिन्धु घाटी की उन मुद्राओं की याद दिलाता है, जिनके अधोभाग में पुरुष देवता की पीठिका के नीचे दो हिरन दिखाये गये हैं। कनिष्क के ही कुछ और सिक्कों पर द्विभुज शिव का चित्र भी है, जिनमें भगवान् एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में कमण्डल उठाये हुए हैं [५]।

कनिष्क का उत्तराधिकारी हुविष्क था, जिसका समय ईसा की पहली शती के अन्त में और दूसरी के शुरू में पड़ता है। इसके सिक्कों पर भी हमें इसी प्रकार के द्विभुज और चतुर्भुज शिव के चित्र मिलते हैं [६]। यूनानी लिपि में उनपर भी वही लेख है। कुछ सिक्कों में हिरन फिर दिखाई देता है और शिव अपने हाथ उसके सींगों पर रखे हुए हैं [७]। एक सिक्के पर शिव शशांक-भूषित है [८]। इस चित्र को चन्द्रदेवता का चित्र माना जाता है, परन्तु इसपर जो लेख खुदा हुआ है, वह सम्भवतः वही है जो ऊपर के सिक्कों पर।

---

१ Lahore Museum Catelogue of Coins (white head) Plate XVII, nos. 31, 33
Calcutta ,, ,, (Smith) P 68, nos 1-12

२ Lahore ,, ,, (white head) Plate XVII, no 36

३. ,, ,, ,, (,,) Plate XVII no 65, Pl XVIII, nos 106-108
Calcutta ,, ,, (Smith) P 74 nos. 64-77.

४. ,, ,, ,, (,,) P. 70 nos 9-10

५ Lahore ,, ,, (white head) Pl. XVIII, nos 110-114.

६. ,, ,, ,, (white head) Pl XIX, nos. 150-52, 153-156.

७. Calcutta ,, ,, (Smith) P 78, nos 16-17.

८. ,, ,, ,, (,,) P. 80, no 31

ग्यत. सम्भावना इस बात की अधिक है कि यह चित्र भगवान् शिव का ही है और यह उनका 'चन्द्रमौलि' रूप है। 'हुविष्क' का एक दूसरा सिक्का एक समस्या है[१]। इसपर चित्र तो लगभग वैसा ही है जैसा अन्य सिक्कों पर, परन्तु यहाँ शिव धनुर्धारी हैं और उनका मुख दाईं ओर मुड़ा हुआ है। सम्भवत. यह शिव के 'पिनाकी' रूप का चित्रण है, परन्तु इस सिक्के पर एक अस्पष्ट लेख भी है। डॉ० स्मिथ ने इस लेख को अनुमान करके 'गणेश' पढ़ा था। यदि यह पाठ निश्चित रूप से प्रामाणिक सिद्ध हो जाय, तो यह चित्र शिव और गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य का एक असदिग्ध प्रमाण हो जायगा। परन्तु जबतक लेख का पाठ निश्चित रूप से निर्धारित न किया जाय, इस विषय में कुछ और नहीं कहा जा सकता।

हुविष्क का एक और सिक्का भी महत्त्व का है, क्योंकि इसमे पहली बार शिव की बहुमुख आकृति का चित्रण किया गया है[२]। चित्र मे शिव खड़े हुए हैं, उनका एक मुख सामने की ओर है और अन्य दो मुखों की पार्श्वाकृति दायें और बायें चित्रित है। इसको शिव के 'त्रिमूर्ति' रूप का चित्रण माना गया है। परन्तु यह चित्र शिव के चतुर्मुख रूप का चित्रण भी हो सकता है, जिसका उल्लेख महाभारत मे अप्सरा तिलोत्तमा के प्रसग में किया गया है। चौथा मुख चूँकि पीछे की ओर है, इसलिए वह अदृश्य है।

अपरकालीन कुशान राजाओं के सिक्को मे जो दूसरी और तीसरी शती के हैं, इनमे हम पहले हुविष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के सिक्कों को ले सकते हैं। इनपर द्विभुज शिव का चित्र अकित है और उसके सब वैसे ही लक्षण हैं, जैसे पुराने सिक्को पर[३]। एक सिक्के पर फिर शिव का बहुमुख चित्र दिखाई देता है[४], जो हुविष्क के सिक्के के चित्र के समान ही है। वासुदेव के अन्य सिक्को पर सिंहासनारूढ एक स्त्री देवता के चित्र भी पाये जाते हैं, जो अपने हाथों मे केशबन्ध और साँघी लिए हुई है[५]। यह किस स्त्री देवता के चित्र हैं, इसका निर्णय अभी नहीं किया जा सकता।

वासुदेव के बाद 'कनेस्को' के सिक्के हैं, जो दूसरी शताब्दी के अन्त मे राज करता था। हुविष्क के सिक्को-जैसा उसके सिक्को पर भी द्विबाहु शिव का चित्र अकित है[६]। इसी राजा के कुछ अन्य सिक्को पर यूनानी लिपि मे 'ap△oxpq' यह लेख मिलता

---

१ Calcutta Museum Catalogue of Coins (Smith) P. 80, no 46

२ ,, ,, ,, (,,) P 78 no 15

३. ,, ,, ,, (,,) P 84 f nos 1-34

,, Lahore ,, ,, (white head) Pl XIX nos 209-226

४ ,, ,, ,, (,,) Pl XX, no 11

५ ,, ,, ,, (,,) Pl XIX, nos 227-230.

६ ,, ,, ,, (,,) Pl XIX, nos 231-235.

है[१]। इसका संस्कृत रूपान्तर 'अर्धाद्' किया जा सकता है, परन्तु इस शब्द का अर्थ पूर्ण स्पष्ट नहीं होता।

इसके उपरान्त ईसा की तीसरी शती मे कुशान राजा सासानी वसु के सिक्के मिलते हैं। उनके सिक्को पर भी स्त्री देवता के चित्र अंकित हैं, और यूनानी लिपि का लेख कुछ अधिक पूर्ण 'ap△oxpq' है[२]। वसु के उत्तराधिकारी वासुदेव के सिक्को पर फिर द्विवाहु शिव का चित्र अकित है, और लेख भी वही परिचित 'ohpo' है[३]। अन्त में 'होरमोज्द' द्वितीय और वराहन के सिक्को पर शिव का वृषभ सहित चित्र अकित है।

इस प्रकार इन सिक्को से पता चलता है कि ईसा का पहली तीन शताब्दियो में शैवधर्म सारे उत्तर भारत में फैला हुआ था। शिव के जो चित्र इन सिक्कों पर अकित हैं, उनसे ज्ञात होता है कि शिव के स्वरूप में रामायण-महाभारत से लेकर तवतक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

अव हम ईसा की चौथी शती में आते हैं, जव उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य की नींव पडी। इस समय के साहित्यिक अभिलेख और शिलालेख हमे प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, और उनसे तत्कालीन शैवधर्म का हमें अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समुद्रगुप्त-कालीन प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर हरिषेण की प्रशस्ति में गगावतरण की कथा का उल्लेख किया गया है[४]। शिव को यहाँ पशुपति कहा गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की उदयगिरि गुफा के शिलालेख में, उस गुफा का एक शैव-भक्त द्वारा संन्यासियो (सम्भवतः शैव) के विश्राम के लिए समर्पित किये जाने की चर्चा है[५]। इसी शिला-लेख में यह भी कहा गया है कि गुफा के समर्पण समारोह के अवसर पर स्वय चन्द्रगुप्त समर्पण-कर्त्ता के साथ गये थे। इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त शैवों को अपना सरक्षण प्रदान करते थे, यद्यपि वह स्वय शायद वैष्णव थे; क्योकि 'गढवा'-शिलालेख में उनको 'परम भागवत' कहा गया है[६]। साँची शिलालेख में इसी सम्राट् को शिलालेख के लिखनेवाले 'अमरकदेव' का सरक्षक कहा गया है, जो सम्भवतः वौद्ध था। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त स्वय वैष्णव थे, फिर भी वह अन्य मतो का भी सरक्षण करते थे। धार्मिक सहिष्णुता और उदार दृष्टिकोण की यह प्रथा आगे चलकर एक सामान्य प्रथा हो गई और अधिकाश भारतीय नरेशो ने अपनी धार्मिक नीति मे इसीका अनुसरण किया। चन्द्रगुप्त ईसा की चौथी शती के उत्तर भाग मे राज करते थे। उनके वाद पाँचवीं शती के आरम्भ

---

१. Calcutta Museum Catalouge of Coins (Smith) · P 88, nos 5-8
२ Lahore ,, ,, ,, (white head) Pl. XIX, no 236.
३. ,, ,, ,, ,, ,, Pl XIX, nos. 238-239.
४. C. I I. · Pl I, p 1.
५ ,, ,, : Pl. II, b p 21.
६ ,, ,, Pl. IV, b. p 36.

सम्भव है कि इनका उन कृत्तिकाओं के साथ तादात्म्य कर दिया गया हो, जिनको स्कन्द-जन्म की कथा मे नवजात स्कन्द को पाने और उसे पालने का श्रेय दिया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन कृत्तिकाओं की सख्या छ थी, परन्तु ये मातृकाएँ सात हैं। इसलिए इनके तादात्म्य के लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। परन्तु, मातृकाओं का स्कन्द के साथ साहचर्य चाहे जैसे भी हुआ हो, यह साहचर्य स्थायी हो गया और बाद मे स्कन्द की उपासना का एक प्रमुख अग बन गया।

स्कन्दगुप्त के समय के बाद हमे छठी शताब्दी में 'मडासोर'-स्तम्भ पर 'यशोधर्मा' का लेख मिलता है। इसके आदि में जो मगल श्लोक है, उसमें शिव की स्तुति की गई है। यहाँ भयावह और शक्तिशाली देवता के रूप में शिव की कल्पना की गई है, जिसके प्रचण्ड सिंहनाद से दानवो के दिल दहल जाते हैं। मडासोर स्थान पर ही इसी राजा का एक शिलालेख भी मिलता है। इसमें शिव के सौम्य रूप का ध्यान किया गया है और उनको 'शम्भु' कहा गया है। उनको देवाधिदेव माना गया है। उन्हीं के आदेश से ब्रह्मा विश्व के सृजन, पालन और सहार का क्रम चलाते हैं और इसी कारण परमपिता का पद पाते हैं।

इस समय के अन्य अभिलेखों से कोई और महत्त्व की बात पता नहीं लगती। अत. अब हम पुराणों का अवलोकन प्रारम्भ करते हैं।

उपनिषदों के समय से भारतीय धार्मिक विश्वासों और आचार-विचार में जो एक नई धारा चली थी तथा जिसके प्रमुख अग ध्यान और भक्ति थे, उसका पूर्ण विकास पुराणों के समय मे हुआ। जिस रूप मे पुराण-ग्रन्थ आजकल हमें मिलते हैं, वे बहुविषयक हैं। उनमे विषय, विचार और शैली की ही विविधता नहीं है, अपितु समय की भी विविधता है। उनका रचना-काल एक काफी लम्बे अरसे के वितान पर फैला हुआ है। पुराण-साहित्य स्वत काफी प्राचीन है और अथर्ववेद तक मे पुराण एव इतिहास का उल्लेख किया गया है। यह माना जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल मे और रामायण-महाभारत के युग मे तथा उसके बाद भी बराबर पुराणों की रचना होती रही है, जिनमे ऐतिहासिक विषयों अथवा यों कहना चाहिए कि राजवश-सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरणों का सग्रह रहता था। आजकल जो पुराण-ग्रन्थ उपलब्ध है, वे अधिकाश पूर्वकालीन पुराण-ग्रन्थों के ही नवनिर्मित सस्करण हैं, परन्तु उनमे बहुत-सी नई बातों का भी समावेश कर दिया गया है, जिनका सम्बन्ध समकालीन धार्मिक व्यवस्था और देवकथाओं से है। तथ्य तो यह है कि इन ग्रन्थों मे इस नई सामग्री की मात्रा इतनी अधिक है कि इसके कारण पुराणों का प्राचीन ऐतिहासिक रूप का तो प्राय. लोप ही हो गया है। अधिकाश पाठकों के लिए वह शुद्ध रूप से धार्मिक आदेश ग्रन्थ हैं। जो लोग किसी कारण वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त करने मे असमर्थ हैं, उनके लिए तो यह पुराण ग्रन्थ ही श्रुतिसमान माने जाते हैं। अत भारतीय धर्म के किसी भी अध्येता के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। एक-आध ग्रन्थ को छोड़कर लगभग समस्त बड़े पुराणों—जो आजकल उपलब्ध हैं—की रचना ईसा की चौथी से छठी शती तक हो गई थी। अत इन ग्रन्थों मे धार्मिक विश्वासों और आचार-

विचारों का जो चित्र हमें दिखाई देता है, वह इसी समय का है। उससे यह पता लगता है कि रामायण-महाभारत काल से लेकर तबतक इनमें कितना विकास हुआ था।

पुराणों में हमे वेदोत्तर-कालीन शैव धर्म का पूर्ण विकसित रूप दिखाई देता है। रामायण-महाभारत में जो कुछ निहित था, वह अब व्यक्त हो गया है और जिसका वहाँ संकेत मात्र था, उसका अत्र अधिक विस्तृत विवरण दिया गया है। रामायण-महाभारत के समान ही पुराणो में भी शैव धर्म के दो स्पष्ट रूप हैं—दार्शनिक और लोक-प्रचलित। रामायण-महाभारत की तरह ही यहाँ भी इन दोनो का अलग-अलग अध्ययन हमारे लिए अधिक सुविधाजनक होगा।

शैव धर्म के दार्शनिक रूप की सबसे प्रमुख बात शिव का पद है। उनको अब स्पष्ट रूप से परम पुरुष अथवा परब्रह्म माना जाता है, और किसी देवता को नहीं। केवल वही एक स्रष्टा हैं, विश्व के आदि कारण हैं, और उन्हीं की महिमा का चारों वेदों में गान किया गया है[1]। वह दार्शनिकों के ब्रह्म हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं[2]। वह अव्यक्त भी हैं और जीवात्मा के रूप मे व्यक्त भी हैं[3]। वह एक आदि पुरुष हैं, आत्मतत्त्व हैं, परमसत्य हैं और उपनिषदों तथा वेदान्त मे उनकी ही महिमा का गान किया गया है[4]। स्मृति, पुराण और आगम भी उन्हीं की महिमा गाते हैं[5]। जो बुद्धिमान और मोक्षकामी हैं, वे सब-कुछ छोडकर इन्हीं का ध्यान करते हैं[6]। वह सर्वज्ञ हैं, सर्वस्थित हैं, चराचर के स्वामी हैं और सब प्राणियो में आत्मरूप से बसते हैं[7]। वह एक स्वयभू हैं, जो विश्व का सृजन, पालन और संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं[8]। वह विश्व में व्याप्त हैं और साररूप से एक होते हुए भी अपने-आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त करते हैं[9]।

शिव के स्वरूप के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक शैवधर्म निश्चित रूप से एकेश्वरवादी हो गया था, अर्थात् वह केवल एक ही देवता की उपासना का प्रचार करता था। अन्य देवताओ को देवकथाओं में भले ही मान्यता दी जाती हो, उपासना में उनके लिए कोई स्थान नहीं था। अब शैव-धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म का भी इसी ढग पर विकास हो रहा था। पुराणों में वैष्णवों ने विष्णु को भी बिलकुल

१ सौर० ७, ३०, ३८, १, ३८, ६०, लिंग० २१, १६, अग्नि० ८८, ७, ब्रह्म० १, २६, मत्स्य० १३२, २७, १५४, २६०-२७०, वायु० ५४, १०० इत्यादि।
२ लिंग० भाग २, २१, ४६, वायु० ५५, ३ गरुड० १६, ६-७ इत्यादि।
३. वायु० : २४, ७१, ५४, ७४, अग्नि० ७४, ८२ इत्यादि।
४. सौर० : २६, ३१, ब्रह्म० १२३, १६६ इत्यादि।
५. सौर० : ३८, ६१-६२, ब्रह्म० ३६, ३६ इत्यादि।
६. सौर० : २, ८३, ब्रह्म० ११०, १०० इत्यादि।
७. वायु० : ३०, २८३-८४ इत्यादि।
८. वायु० : ६६, १०८, लिंग० भाग १, १, १ इत्यादि।
९. सौर० : २, २ इत्यादि।

वही पद दिया है जो शैवों ने शिव को दिया था। इस स्थिति और रामायण-महाभारत काल की धार्मिक स्थिति में केवल इतना ही अन्तर है कि अब विष्णु और शिव के उपासक अपने-अपने धर्म में, अपने आराध्यदेव के सिवा और किसी देवता को मान्यता देना या कम से-कम उसे सर्वश्रेष्ठ मानना, अपने एकेश्वरवादी सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं समझते थे। ऐसी अवस्था में पहुँच जाने पर अब उनके लिए केवल दो ही मार्ग थे। एक मार्ग था (जो स्वभावतः उन्हें पहले सूझा होगा) कि प्रत्येक दल केवल अपने आराध्यदेव को ही एक ईश्वर माने और अपने धर्म को ही सच्चा धर्म समझे। दूसरा मार्ग, जो अधिक सत्य और अधिक बुद्धिमत्ता का भी था, वह इस तथ्य को पहचानना था कि इन दोनों देवताओं के उपासक वास्तव में एक ही देवता की उपासना करते थे, और इनके अपने-अपने आराध्य-देव उसी एक ईश्वर के दो रूप थे अथवा उनके दो नाम थे। पुराणों से पता चलता है कि इन दोनों दलों में जो बुद्धिमान् और विचारशील थे, उन्होंने इस दूसरे मार्ग को ही अपनाया। विष्णु और शिव की एकता पर सभी बड़े पुराणों में प्राय जोर दिया गया है, चाहे वह पुराण शैव-पक्षी हो अथवा वैष्णव-पक्षी। उदाहरणार्थ वायु पुराण में, जो शैव पक्ष का है, शिव को स्पष्ट रूप से विष्णु से अभिन्न माना गया है[1] और अनेक स्थलों पर या तो उनको विष्णु के नाम दिये गये हैं (जैसे 'नारायण')[2], या उनको विष्णु की विशिष्ट उपाधियाँ दी गई हैं (जैसे 'लक्ष्मीपति')[3]। सौर पुराण भी शैव पक्ष का है और उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं है[4]। वैष्णवपक्ष के पुराणों में भी यही बात दीखती है। उदाहरणार्थ मत्स्य पुराण में शिव को 'विष्णुरूपिन्' कहा गया है और विष्णु को प्राय 'रुद्रमूर्ति' कहा जाता है[5]। ब्रह्म पुराण में स्वय विष्णु शिव के साथ अपने ऐक्य की घोषणा करते हैं[6]। विष्णु पुराण में शिव और पार्वती को विष्णु और लक्ष्मी से अभिन्न माना गया है[7] इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर विष्णु को 'पिनाकधृक्' कहा गया है, जो शिव की विशिष्ट उपाधि है[8]। एक दूसरी जगह उल्लेख है कि दोनों एक ही हैं[9]। 'वराह पुराण' में शिव और विष्णु का एक-सा रूप है[10] और कहा गया है कि त्रेता युग में विष्णु ने शिव का रूप धारण किया था[11]। एक अन्य

१ वायु० २५, २१ और आगे।
२ ,, ५४, ७७।
३ ,, २४, १११।
४ सौर० २४ ६८।
५ मत्स्य० १५४, ७, २४६, ३८, २५०, ३०।
६ ब्रह्म० २०६, ४७।
७ विष्णु० ८, २१।
८ ,, ६, ६८।
९ ,, ३३, ४७ ४८।
१० वराह० ६, ७।
११ ,, १०, १६।

स्थल पर मिलता है कि परमपुरुष को विष्णु भी कहा जाता है और शिव भी[1], तथा दार्शनिकों के अव्यक्त को उमा या श्री[2]। दूसरी ओर शिव को परमपुरुष माना गया है और विष्णु से उनका तादात्म्य किया गया है[3]। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी है। इन दो देवताओं के इस तादात्म्य के कारण और इसलिए भी कि शैव और वैष्णव मत दोनों नये ब्राह्मण धर्म के दो अंग थे और उनके मुख्य लक्षण एक-से ही थे। ये दोनो स्वतन्त्र धर्म न रह कर, एक ही धर्म के दो सम्प्रदाय हो गये। इन दोनो देवताओं के तादात्म्य के फलस्वरूप जनसाधारण में भी सब धर्मों का आदर करने और उनके श्रेष्ठांश ग्रहण करने की भावना का जन्म हुआ, जो उस समय से देश के धार्मिक जीवन का एक प्रमुख लक्षण बन जाती है। सामान्य भाव से जनसाधारण विष्णु और शिव की उपासना में कोई भारी अन्तर नहीं करते थे और नृपतिगण साधारणतया दोनो मतों को अपना संरक्षण प्रदान करते थे। अन्त में विष्णु और शिव के इस तादात्म्य को समझ जाने के फलस्वरूप ही, हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी एक की मूर्ति सामने रखकर दूसरे देवता की उपासना की जाती थी[4]।

इस एकेश्वरवादी विचारधारा की स्वभावतः विष्णु और शिव की अभिन्नता स्थापित करके ही इति नही हुई, न हो सकती थी। यदि एकेश्वरवाद को सार्थक होना था तो त्रिमूर्ति के तीसरे देवता ब्रह्मा को इसी ऐक्य के अन्तर्गत करना आवश्यक था। दूसरे शब्दो में इस त्रिमूर्ति को एकमूर्ति बनाना था। इस प्रक्रिया का भी प्रारम्भ तो महाभारत काल मे ही हा गया था, जहाँ हमने देखा है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु को शिव के पार्श्वों में से निकलते हुए कहा गया है, जिससे यह पता चलता है कि ये दोनो शिव के अन्दर ही समाविष्ट माने जाते थे। ऐसी धारणा उस समय भी अवश्य रही होगी। इसी से त्रिमूर्ति की कल्पना का जन्म हुआ, जिसमें अन्य दो देवताओं को शिव की अभिव्यक्ति माना जाने लगा। पुराणों के समय तक त्रिमूर्ति के पीछे इस एकता की भावना पूर्णरूप से विकसित और मान्य हो चुकी थी। इसका सकेत पहले तो इस बात से मिलता है कि बहुधा तीनो देवताओं के लक्षण एक ही देवता को दे दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ जैसा हम अभी ऊपर देख आये हैं, शिव को विश्व का स्रष्टा, पालक और संहर्ता तीनो माना गया है जबकि प्रारम्भ में ये ब्रह्मा, विष्णु और शिव के कार्य थे[5]। अन्य स्थलों पर विष्णु का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। दूसरे कुछ स्थलों पर इन तीनों देवताओ की अभिन्नता पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है कि केवल अज्ञानवश ही लोग ब्रह्मा, विष्णु और शिव में भेद करते हैं। वास्तव में वह एक ही परमात्मा है जो इन तीनों रूपों में व्यक्त हो, लोगों को भ्रम में डालता है और जिसकी एकता वेदों, धर्मशास्त्र और

१. वराह० . २५, ४।
२. ,, : २५, ४।
३. ,, : २५, १६।
४ इस प्रथा के उल्लेख कुछ बाद के पुराणों में मिलते हैं, जैसे—गरुड़० ७, ५०।
५. इसके अन्य उदाहरणों के लिए देखिए—ब्रह्म० १२९, ८।

अन्य पुण्य ग्रन्थों मे मानी गई है[1]। 'सौर पुराण' में शिव को एक देवता माना गया है जो ब्रह्मा और विष्णु के रूप मे व्यक्त होते हैं[2]। वराह पुराण के एक सदर्भ मे भी इसी विचार को लेकर कहा गया है कि शिव के शरीर में ब्रह्मा और हृदय में विष्णु का वास है[3]।

शैव धर्म के दार्शनिक रूप के अन्य लक्षण जो हमने रामायण-महाभारत में देखे थे, वे पुराणों मे भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, आत्म-सयम और तपश्चर्या करनेवालो के ध्यान का विषय होने के नाते, शिव का योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनको स्वय 'महायोगी'[4] और योग-विद्या का प्रमुख आचार्य[5] माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस समय तक शिव की उपासना के सम्बन्ध मे योगाभ्यास की एक विशेष विधि का भी विकास हो गया था, जिसे 'माहेश्वर योग' कहा जाता था। इसका वर्णन सौर[6] और वायु[7] पुराणों में किया गया है। इसी रूप मे शिव को 'यती'[8] आत्मसयमी, 'ब्रह्मचारी'[9] और 'ऊर्ध्वरेता'[10] भी कहा गया है। इसी कारण वह योगाभ्यासियो के लिए एक आदर्श भी हैं। साख्य के साथ उनके प्राचीन सम्बन्ध की स्मृति भी पुराणो मे है। उदाहरणार्थ, जैसा कि महाभारत में है, यहाँ भी उनको साख्य, साख्यात्मा[11] और साख्य का उद्भव[12] कहा गया है। वह साख्य के पुरुष हैं जिन्हें जान कर लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं[13]। परन्तु यह उल्लेख केवल एक प्राचीन कल्पना की स्मृति मात्र है, क्योंकि इस समय तक शिव का साख्य दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। वह दर्शन तो शैव-धर्म से अलग बिलकुल एक भिन्न मार्ग पर चल रहा था और इस समय तक लगभग अनीश्वरवादी हो गया था। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस स्थल पर साख्यवादियो को पुरुष रूप मे शिव का ध्यान करते हुए कहा गया है, वहाँ उन लोगो को 'मौलिक साख्य' कहा गया है, अर्थात् यहाँ सकेत उन प्राचीन साख्यवादियों की ओर है जो परमपुरुष की एकता और प्रकृति की अनेकता को मानते थे, न कि आधुनिक साख्यवादियों की ओर, जिन्होने प्रकृति की एकता और पुरुषो की अनेकता के सिद्धान्त को अपनाया था।

पुराणो मे शैवधर्म के दार्शनिक रूप के एक और लक्षण का भी विकास दिखाई देता

१ वायु० ६६, १०६-१६ इत्यादि।
२ सौर० २, ४, २३, ५३।
३ वराह० ७१, २७।
४ वायु० २४, १५६ इत्यादि।
५. मार्क० भाग १, ३, २०, ६, ४ इत्यादि।
६ सौर० अध्याय १२।
७ वायु० अध्याय १०।
८ मत्स्य० ४७, १३८, वायु० २७, १६६।
९. ,, ४७, १३८, १३२, ३६, वायु० २४, १६२।
१० ,, ४७, १४६, वायु० १०, ६४, २४, १३४, ब्रह्माण्ड० ८, ८८।
११ ब्रह्म० ४०, ३७, वायु० ५८, ७८, इत्यादि।
१२. वायु० २४, ६१।
१३ ,, २४, १६३।

है जो बाद में बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया। वह था—शिव के साहचर्य मे उनकी पत्नी के दार्शनिक रूप का विकास। उपनिषदो मे हमने एक परम पुरुष और उसकी प्रकृति अथवा माया का परिचय पाया था जिसके द्वारा वह सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता है। इन्हीं उपनिषदों में हमने इस पुरुष का शिव के साथ तादात्म्य होते भी देखा था। अतः जब देवी के उपासको ने अपनी उपासना के लिए दार्शनिक आधार की खोज प्रारम्भ की, तब स्वभावत. उन्होने इस देवी का इस औपनिषदिक प्रकृति अथवा माया से तादात्म्य कर दिया और इस प्रकार शिव तथा शक्ति की सहोपासना के दार्शनिक आधार की नींव डाली, जिसकी पूर्ण भित्ति शैव सिद्धान्त में जाकर खड़ी हुई। देवी को इस प्रकार शिव की शक्ति मानने की स्थिति लगभग सब पुराणों में पाई जाती है। उदाहरणार्थ—'सोर पुराण' मे उनको शिव की 'ज्ञानमयी शक्ति' कहा गया है[1], जिसके साथ और जिसके द्वारा वे सृष्टि को रचते हैं तथा अन्त में उसका सहार करते हैं। यह शक्ति शिव के इस कार्य में विभिन्न अवसरो में विभिन्न रूप धारण करती है[2]। एक अन्य स्थल पर उसको 'परा' अथवा 'परमशक्ति' कहा गया है, जो सर्वत्र व्याप्त है और जो 'मायिन्' महेश्वर की 'माया' है[3]। शिव की शक्ति अथवा माया के रूप मे वह वास्तव मे शिव से भिन्न नहीं है। इन दोनो के साररूपेण इस अभेद को भी स्पष्ट कर दिया गया है[4]। जो अज्ञानी हैं, वे ही इनमें भेद करते हैं, न कि जो सत्य को जानते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा अग्नि और उसकी ज्वलन शक्ति का[5]। एक स्थल पर स्वय पार्वती ने अपने-आपको शिव से अभिन्न बताया है[6] और यह भी कहा है कि उन दोनों की एकता वेदान्त के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। वेदान्त का उल्लेख यहाँ फिर महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि इससे पता चलता है कि देवी की उपासना का विकास भी एकेश्वरवादी वेदान्त-सिद्धान्तो के अनुकूल ही हो रहा था।

अपने लोक-प्रचलित रूप मे शैवधर्म सारभाव से अब भी वैसा ही था जैसा कि रामायण-महाभारत काल में। केवल उसका एक अधिक विस्तृत चित्र हमें दिखाई देता है और अनेक बातें जो उस समय बीजरूप में ही थीं, अब विकसित और स्पष्ट हो जाती हैं। शिव और पार्वती की सहोपासना ही अब भी शैवधर्म के लोक-प्रचलित रूप का सबसे प्रमुख अग है। शिव का स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि रामायण-महाभारत काल मे था, अन्तर केवल इतना ही है कि शैवधर्म के अधिक स्पष्ट रूप से एकेश्वरवादी हो जाने के फलस्वरूप अब शिव की सर्वश्रेष्ठता और उनके 'एकोह न द्वितीय.' भाव पर अधिक जोर दिया जाता है। उनको एकेश्वर, सर्वप्रभु माना जाता है और उन्हें 'महेश्वर', 'महादेव' और 'देवदेव' कहा जाता है[7]। मामूल के मुताबिक उनकी एक कृपालु और कल्याणकारी देवता के रूप मे

१ सौर० · २, १६।
२ ,, · २, १८, ५५, ८, १४।
३. ,, · २, १४, १६।
४. ,, · २, १७।
५. ,, २, १८-१९।
६. ,, : ५५, ७।
७. मत्स्य० . १३६, ५, सौर० ७, १७, ३८, १, ३८, १४।

कल्पना की जाती है, जिनकी दया से भक्तजन मोक्ष को प्राप्त होते हैं। भक्त की भक्ति पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने और उनसे वरदान पाने का यही एक मात्र उपाय है[१]। कोई कितना भी बाह्य आडम्बर करे, अध्ययन करे अथवा तर्क करे, भक्ति के बिना यह सब व्यर्थ है। भक्ति के महत्त्व को यहाँ तक बढाया है कि एक स्थल पर तो स्पष्ट कह दिया गया है कि भगवान् के सूक्ष्म रूप को तो केवल भक्त ही देख सकता है। देवता और साधारण मानव तो केवल उनके स्थूल रूप के ही दर्शन कर पाते हैं[२]। इसी रूप मे शिव को सदाचार का देवता भी माना गया है, जो प्राणिमात्र के कृत्यों को देखते रहते हैं और देवताओं अथवा मानवो में जो कोई भी मर्यादा का उल्लघन करता है अथवा कोई पाप करता है, उसी को दण्ड देते हैं। शिव का यह रूप बडा प्राचीन है और 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे हमने इसकी पहली झलक देखी थी। रामायण-महाभारत में यह कुछ स्पष्ट नहीं है, परन्तु पुराणो में इस रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है और 'सोम' तथा 'तारा' की कथा इसी के उदाहरणस्वरूप दी गई है। ऐतरेय ब्राह्मणवाली प्रजापति के पाप की कथा के समान यहाँ भी, जो सोम के अतिक्रमण से कुपित हो, उसको यथोचित दण्ड देने वाले शिव ही हैं। अन्य देवताओं मे यह सामर्थ्य नहीं है[३]।

शिव के साहचर्य मे पार्वती के गुण भी वैसे ही हो जाते हैं। रामायण-महाभारत के समान यहां भी, उनकी एक सोम्य और दयाशील स्त्री देवता के रूप में कल्पना की गई है, जिनका सारा विश्व सत्कार करता है और जिनके अनुग्रह के लिए प्रार्थना करता है[४]। एक नई बात जो उनके स्वरूप मे हमें पुराणों मे दिखाई देती है—जो सम्भवत. शिव के सहचरी का रूप और महादेवी रूप के परस्पर प्रभाव का फल था—वह है, उनके स्वरूप का सोम्यीकरण। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ तो हम रामायण-महाभारत मे ही देख चुके हैं, जब शिव की सहचरी के रूप मे उनको 'देवी', 'महादेव' और 'देवकन्या' कहा गया है। पुराणो मे इसी प्रक्रिया का और अधिक विकास दृष्टिगोचर होता है। जैसे शिव परमपिता थे, वैसे ही यह अब महामाता मानी जाती हैं, और अनेक स्तुतियो मे उनके इस रूप का गान हुआ है[५]। उनमे उनको जगत् का नियत्री, सर्वशक्तियो की जननी, विश्वमाता और ससार की कल्याण-कारिणी आदि कह कर उनकी आराधना की गई है। उनको आदि प्रकृति और वेदान्त का उद्गम माना गया है। परन्तु कहीं भी उनके शिव के घनिष्ठ साहचर्य को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया गया है और सदेव ही उनको 'शिवप्रिया' मानकर ही स्मरण किया जाता है।

पार्वती को शिव की शक्ति माने जाने के फलस्वरूप शिव और पार्वती का जो तादात्म्य हुआ, इस विचार की अभिव्यक्ति जनसाधारण मे एक नई कल्पना द्वारा हुई। यह शिव

---

१ मत्स्य० १८३, ५१, सौर० २, १४, इत्यादि।
२ सौर० २४, ४३-४४।
३ मत्स्य० अध्याय २३, अग्नि० अध्याय २७४, यही कथा कुछ परिवर्तित रूप में 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में भी मिलती है—भाग ३, अध्याय ५८।
४. अग्नि० ६६, १००-१०६, सौर० २५, १३-२३ इत्यादि।
५. सौर० २५, १३-२३, मत्स्य० १३, १८ इत्यादि।

के 'अर्धनारीश्वर' रूप की कल्पना थी, जो शिव और पार्वती के वास्तविक अभेद का प्रतीक बन गया। इस रूप मे शिव को पुरुष और स्त्री दोनो माना जाता था और उनका रूप आधा पुरुष और आधा स्त्री का था। पुराणो में शिव के इस रूप की अनेक बार चर्चा होती है, विशेषकर शिव और पार्वती—दोनो की सहोपासना के प्रसग में। उदाहरणार्थ 'मत्स्य पुराण' मे जब शिव की पार्वती के साथ उपासना की गई है तब शिव को यही उपाधि दी गई [१]। इसी पुराण में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा के वरदान से पार्वती शिव के साथ स्थायी रूप से सयुक्त हो गई थी [२]। 'वायु पुराण' मे शिव को पुरुष और स्त्री रूपधारी कहा गया है [३]। शिव का यह रूप बड़ा लोकप्रिय हो गया और प्राय• चित्रों और मूर्तियों मे इसी को मूर्तरूप दिया जाता था।

शिव और पार्वती की उपासना विधि का भी पुराणो में विस्तृत वर्णन किया है और साररूपेण यह वैसी ही थी जैसी रामायण-महाभारत काल में। शिव और पार्वती से प्रार्थनाएँ की जाती थीं, जिनमें उनके प्रति पूर्ण भक्ति प्रकट की जाती थी और उनकी कृपा तथा उनके अनुग्रह के लिए विनती की जाती थी। उनकी प्रशसा मे बड़े-बडे स्तोत्रो का पाठ किया जाता था [४]। शिव और पार्वती की सार्वजनिक उपासना साधारणतया मन्दिरों मे ही होती थी, जिनमे इनकी मूर्तियो की स्थापना की जाती थी। पुराणों मे जिन शिवमूर्तियो की चर्चा की गई है, वे तीन प्रकार की हैं। एक तो साधारण मानवाकार प्रतिमाएँ, जो साधारण रूप से पत्थर अथवा धातु की बनी होती थी, और इनमें शिव की आकृति सुन्दर, उनके वस्त्र श्वेत और भुजाएँ दो अथवा चार होती थीं। नव चन्द्र आदि भी कभी कभी इन मूर्तियों में दिखाये जाते थे। कुछ अन्य मानवाकार मूर्तियो मे शिव का क्रूर रूप भी चित्रित होता था। 'मत्स्य पुराण' में इन मूर्तियो के निर्माण के लिए विस्तृत आदेश दिये गये हैं [५]। परन्तु इन मानवाकार मूर्तियो से भगवान शिव की लिंगाकार मूर्तियों की सख्या कहीं अधिक थी और इन लिंग-मूर्तियो की सब पुराणों में खूब चर्चा की गई है [६]। वास्तव में यह लिंग अब भगवान् शिव का एक पुनीत प्रतीक बन गया था और इसको बड़ी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। पुराणो मे कहा गया है कि समस्त देवतागण, यहाँ तक कि ब्रह्मा और विष्णु भी, इस लिंग की उपासना करते हैं [७] तथा 'लिंग पुराण' तो इसीके महिमागान के लिए रचा ही गया है।

परन्तु पुराणों मे शिव की लिंग-मूर्ति का जिस प्रकार वर्णन किया गया है, और

---

१. मत्स्य० : ६०, २२।
२. ,, : १५७, १२।
३. वायु० . २४, १४१।
४. ऐसे स्तोत्र प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं।
५. मत्स्य० : २६१, २३ इत्यादि।
६. मत्स्य० : १८३, ६, १८५, ५७, १९३, १०, सौर० ४, ३, अग्नि० ५३, १।
७. सौर० : ४१, ६; लिंग० ७३, ७, ७४, २-५।

उस समय की लिंगमूर्तियों को देखते हुए यह सिद्ध होता है कि पुराण काल तक लिंग-मूर्तियो का आकार नितांत रुढिगत हो गया था, और उनको देखकर किसी को यह विचार आ ही नहीं सकता था कि 'लिंग-मूर्तियाँ' प्रारम्भ में जननेन्द्रिय का चिह्न होती थीं। उनकी उपासना में भी जननेन्द्रिय उपासना-सम्बन्धी कोई लक्षण नाम मात्र का भी नहीं है। यह उपासना विलकुल वैसे ही की जाती थी, जैसी शिव की मानवाकार मूर्तियो की। पुराणों मे ऐसे अनेक मन्दिरो का उल्लेख है, जिनमें लिंग-मूर्तियो की स्थापना की गई थी और इन उल्लेखो से पता चलता है कि उस समय तक लिंग-मूर्तियो की उपासना समस्त भारतवर्ष मे होती थी। इनमे से कुछ मन्दिर ऐसे स्थानों पर थे, जहाँ शिव-सम्बन्धी कोई घटना घटी है, ऐसा माना जाता था। ऐसे मन्दिर वड़े प्रसिद्ध हो गये थे और दूर दूर से लोग वहाँ तीर्थ-यात्रा को आते थे। इन स्थानो की एक सूची सौर पुराण में दी हुई है और वहाँ शिव की आराधना करने में क्या पुण्य मिलता है, उसका विस्तृत वर्णन भी दिया गया है [1]। अग्निपुराण में लिंग-मूर्तियो के निर्माण और प्रतिष्ठापन के लिए विस्तृत आदेश दिये गये हैं [2] और अनेक प्रकार की लिंग मूर्तियो का उल्लेख भी किया गया है [3]। कुछ तो छोटी-छोटी होती थी, जिनको आसानी से इधर-उधर ले जाया सकता था और जिनकी उपासना प्राय घरो मे होती थी। मन्दिरो मे बृहदाकार अचल मूर्तियो का प्रतिष्ठापन किया जाता था। यह दोनो ही प्रकार की मूर्तियाँ किंचित् शक्त्राकार और खूब गोलाई लिए होती थी। वे पकी मिट्टी, कच्ची मिट्टी, लकडी, पत्थर, स्फटिक, लोहे, ताँबे, पीतल, चाँदी, सोने अथवा रत्नो की वनाई जाती थी [4]। लिंग-पुराण में भी इन विभिन्न प्रकारो की लिंग-मूर्तियो का वर्णन किया गया है [5] लिंग-मूर्तियो के निर्माण के सम्बन्ध में 'मुखलिंगो' की भी चर्चा की गई है। इन मूर्तियो में लिंग पर शिव की पूरी या आंशिक आकृति खुदी रहती थी [6]। इस प्रकार के अनेक लिंग मन्दिरो में विद्यमान थे।

भगवान् शिव की मानवाकार और लिंगाकार मूर्तियो के अतिरिक्त उनके अर्धनारीश्वर रूप की मूर्तियाँ भी वनाई जाती थीं, यद्यपि इनकी सख्या इतनी अधिक नहीं थी। इन मूर्तियो के निमाण के आदेश 'मत्स्य पुराण' मे दिये गये हैं [7]। इन मूर्तियो का दायाँ पक्ष जो पुरुषाकार होता था, उसमे भगवान् शिव के जटाजूट, वासुकि सर्प, हाथ में कमण्डल अथवा नर-कपाल और त्रिशूल चित्रित रहते थे। वस्त्र या तो 'कृत्ति' अथवा पीत वसन होता था। मूर्ति के स्त्री-भाग की भूषा होती थी—सिर पर मुकुट, भुजा और कण्ठ में उपयुक्त आभूषण तथा सामान्य स्त्रियोपयोगी वस्त्र। इन मूर्तियो के सामने शिव-पार्वती की सहोपासना की जाती थी।

---

१ सौर० ४ और ८।
२ अग्नि० ५३, १ और आगे।
३ ,, ५४, ८ और आगे।
४ ,, ५४, १ और आगे।
५ लिंग० अध्याय ७४।
६ अग्नि० ५४, ४१-४८।
७ मत्स्य० अध्याय २६०।

इन तीन प्रकारो की मूर्तियों के अतिरिक्त 'मत्स्य पुराण' में एक वार शिव और विष्णु की सयुक्त मूर्ति का भी उल्लेख किया गया है, जिससे इन दोनों देवताओ का तादात्म्य सिद्ध होता है[२]। इस प्रकार की मूर्तियाँ अपर काल में भारत से बाहर उन देशो में वहुतायत से पाई जाती हैं, जिनपर भारतीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। परन्तु स्वय भारतवर्ष में इनकी सख्या वहुत कम ही रही और इसका कारण सम्भवतः यह था कि यहाँ शैव और वैष्णव दोनो मतों में जो साम्प्रदायिकता की भावना कुछ समय वाद उत्पन्न हो गई, वह शिव और विष्णु की सयुक्तोपासना के विकास के अनुकूल नहीं थी।

शिव के 'त्रिमूर्ति' स्वरूप को लेकर जो प्रतिमाएँ वनाई जाती थीं, उनके सम्वन्ध में पुराणो में कुछ नहीं कहा गया, परन्तु ऐसी मूर्तियाँ सम्भवत. इस समय भी वनती रही होगी, क्योंकि अपर काल में हमें इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं।

पार्वती की प्रतिमाओं के निर्माण के सम्वन्ध में भी पुराणो में आदेश दिये गये हैं, और भगवान् शिव की मूर्तियों के समान इन मूर्तियों की उपासना भी उसी प्रकार होती थी।

सामान्यतः शिव और पार्वती की उपासना प्रतिदिन की जाती थी और 'अग्नि' तथा अन्य पुराणो में इसके सम्वन्ध में आदेश भी दिये गये हैं[३]। परन्तु वर्ष में कुछ दिन, शिव की उपासना के, विशेष दिन माने जाते थे, जव यह उपासना विशेष विधियो द्वारा सपन्न होती थी। उदाहरणार्थ 'मत्स्य पुराण' में[४] 'कृष्णाष्टमी' के दिन गो, भूमि, सुवर्ण और वस्त्रो का ब्राह्मणो को दान करने का विधान किया गया है और इसके उपरान्त सायकाल को भगवान् शिव की पूजा होती थी। इस पूजा में अनेक उपहार भगवान् को चढ़ाये जाते थे, और छः पुण्य वृक्षो के पत्रों की अपेक्षा होती थी। पूजा के उपरान्त ब्राह्मणों को कुछ और दान भी दिया जाता था। इस दिन भगवान् शिव की विधिवत् उपासना करने से वड़ा पुण्य मिलता था, देवता तक ऐसे भक्त का आदर करते थे और वह रुद्र लोक मे जाकर परमानन्द को प्राप्त होता था। प्रत्येक मास में शिव की विभिन्न नाम से उपासना की जाती थी। एक और तिथि थी, जव शिव की विशेष उपासना की जाती थी, वह थी—'अनग त्रयोदशी'। इस दिन भगवान् शिव ने 'काम' को भस्म किया था और पुराण में इस दिन की उपासना विधि का वर्णन दिया गया है[५]। कृष्णाष्टमी की पूजा के समान इस पूजा में भी विभिन्न महीनों की त्रयोदशी पर शिव की विभिन्न नामो से उपासना होती थी। परन्तु यह नाम कृष्णाष्टमी की पूजा से भिन्न है। 'अनग त्रयोदशी' की पूजा अपेक्षाकृत सरल थी। इस दिन केवल प्रार्थना की जाती थी और शिव-मूर्ति की पुष्प, फल और धूपादि से अर्चना की जाती थी। इस पूजा की एक विशेष वात यह थी कि इसमे शिव को 'नैवेद्य' दिये जाते थे।

१. मत्स्य० अध्याय २६०।
२. ,, : २६०, २१ और आगे।
३. अग्नि० : अध्याय ७४।
४. मत्स्य० . अध्याय ५६।
५. सौर० : अध्याय १६।

परन्तु शिवोपासना का सबसे बडा दिन था—'शिव-चतुर्दशी'। इस दिन जो पूजा होती थी, उसका विस्तृत वर्णन 'मत्स्य पुराण' में दिया गया है[1]। इस दिन पूर्ण उपवास रखा जाता था और इससे पहले दिन भी केवल एक बार ही भोजन किया जाता था। प्रातः-काल शिव की उमा के साथ कमल, पुष्पमालाओं, धूप, चन्दनलेप आदि से पूजा की जाती थी। एक वृषभ, सुवर्ण घट, श्वेत वस्त्र, पचरत्न, विविध प्रकार के भोजन, वस्त्र आदि ब्राह्मणो को दान दिये जाते थे और शिव से उनके अनुग्रह के लिए प्रार्थना की जाती थी। अन्त में कुछ योग्य शैव भक्तों को आमन्त्रित किया जाता था और उनका विधिवत् सत्कार किया जाता था। यह इस दिन की पूजा का सामान्य ढग था, परन्तु जब यह तिथि कुछ विशेष महीनों मे पडती थी, तब कुछ अन्य सस्कार भी किये जाते थे और उनमें विशेष उपहार चढाये जाते थे। इस दिन भगवान् शिव की विधिवत् उपासना करने का पुण्य वास्तव में बहुत अधिक होता था। यह सहस्र अश्वमेध यज्ञों के सचित पुण्य के बराबर होता था और भक्त को ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्त कर सकता था। इस पूजा के पुण्य से भक्त 'गणाधिप' के पद को पा सकता था और असख्य युगो का स्वर्ग भोगकर अन्त मे शिव के सामीप्य को प्राप्त होता था।

उपर्युक्त सारे सस्कार घरेलू हैं, जो व्यक्तिगत रूप से घरो मे सम्पन्न किये जाते थे। पुराणो मे प्रधानतया इन्हीं घरेलू सस्कारो का विस्तृत वर्णन किया गया है। मन्दिरो मे भगवान् शिव की सार्वजनिक उपासना के विषय में उनसे हमें बहुत कुछ पता नही चलता। जिस प्रकार की सामुदायिक उपासना का विकास ईसाई और इस्लाम धर्मों मे हुआ, उसका वेदोत्तर कालीन ब्राह्मण धर्म मे कुछ अधिक महत्त्व नहीं था। इस प्रकार की उपासना सदा ही औपचारिक रही और किसी के लिए उसमे सम्मिलित होना अनिवार्य नही था, यद्यपि इससे पुण्य अवश्य मिलता था और मन्दिरों मे भगवान् के दर्शनार्थ जाना भी धर्म-कार्य माना जाता था।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शिव की सहधर्मिणी की उपासना भी उन्हीं के साथ की जाती थी। परन्तु इसके अतिरिक्त एक विशेष विधि भी थी जिसमे वह दोनो साथ-साथ पूजे जाते थे और वह थी—'उमामहेश्वर व्रत' की विधि। इसका विवरण सौर पुराण मे दिया गया है[2]। यह व्रत पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी अथवा अष्टमी को किया जा सकता था। दोनों देवताओं की प्रार्थना और उपहारो के साथ-साथ पूजा होती थी और इसके उपरान्त कुछ सच्चे शिव-भक्तो को भोज दिया जाता था। जो व्यक्ति इस व्रत को श्रद्धापूर्वक करता था, वह 'शिव-लोक' को पाता था और फिर सदा आनन्द मे रहता था। 'मत्स्य पुराण' मे एक और सस्कार की चर्चा की गई है, जिसमे भी शिव और पार्वती की एक साथ ही पूजा होती थी[3]। यहाँ पार्वती को 'भवानी' कहा गया है। यह सस्कार भी लगभग वैसा ही था जैसा 'उमामहेश्वर व्रत' और यह वसन्त ऋतु मे शुक्ल पक्ष की तृतीया को सम्पन्न होता था।

---

१ मत्स्य० अध्याय ९५।

२. सौर० अध्याय ४३, और लिंग० अध्याय ८४।

३. मत्स्य० अध्याय ६०।

इसी दिन सती का भगवान् शिव से विवाह हुआ था। यह संस्कार वास्तव में सती के सम्मान के लिए ही था और शिव की उपासना उनके साथ, उनके पति होने के नाते की जाती थी। पूजा में फल, धूप, दीप और नैवेद्य चढ़ाये जाते थे[१]। पार्वती की प्रतिमा को, जिसका यहाँ स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है, दूध और सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था और तदनन्तर देवी का अभिवादन किया जाता था।

रामायण-महाभारत मे शिव के जो दो अन्य रूप हमने देखे थे, उनका भी पुराणो में वर्णन किया गया है। यहाँ जो कुछ वताया गया है, उससे हमे केवल इन रूपो के विकास का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही इनकी उत्पत्ति और इतिहास को और अधिक अच्छी तरह समझने में भी सहायता मिलती है। इनमें से पहला तो शिव का 'कपाली' रूप है। इस रूप का अधिकाश पुराणों में रामायण-महाभारत की अपेक्षा अधिक विस्तृत वर्णन है। इस रूप मे शिव की आकृति भयावह है। उनको 'कराल', 'रुद्र' और 'क्रूर' कहा गया है, उनकी जिह्वा और दंष्ट्र वाहर निकले हुए हैं और वे सव प्रकार से 'भीषण' हैं[२]। वह सर्वथा वस्त्रविहीन हैं और इसी से उनको 'दिगम्बर' की उपाधि मिली है[३]। उनके समस्त शरीर पर भभूत मली हुई है और इस कारण उनको 'वायु पुराण' में 'भस्मनाथ' भी कहा गया है[४]। ऐसी आकृति और ऐसी वेश-भूषा में वह हाथ में कपाल का कमण्डल लिये विचरते हैं[५]। उनके गले मे नरमुण्ड की माला है[६]। यह नरमुण्ड-माला एक नई चीज है और इससे उनके 'कपालित्व' को और अधिक व्यक्त किया गया है। श्मशान उनकी प्रिय विहारभूमि है[७]। यहीं से वह अपने कपाल और भस्म लेते हैं और यहीं वह भूत, पिशाच आदि अपने अनुचरो के साथ विहार करते हैं। इन अनुचरो की आकृति भी ठीक शिव-जैसी ही है[८]। एक-दो स्थलो पर स्वय शिव को 'निशाचर' कहा गया है[९]। इस रूप में शिव को वहुधा 'कपालेश्वर' भी कहा जाता है।

शिव के इस रूप की उपासना जन-साधारण मे सामान्य रूप से प्रचलित नहीं थी। यह वात ऊपर शिव के इस रूप की उपासना की विधि का जो हमने वर्णन दिया है, उसीसे नितान्त स्पष्ट हो जाती है। जैसा हमने पिछले अध्याय मे कहा था, जनता का एक वर्ग विशेष प्रारम्भ से ही शिव की इस कापालिक रूप मे उपासना करता था और वाद में भी करता रहा। यह वर्गविशेष अव एक निश्चित सम्प्रदाय वन गया था, जिसको 'कापालिक' कहते थे। यह लोग रमता साधु होते थे, जिनका दावा था कि तथाकथित योगाभ्यास और

१. मत्स्य० : ६०, १४-४४।
२. ,, ४७, १२७ और आगे, अग्नि० ३२४, १६।
३. ,, . १५५, २३, ब्रह्माण्ड० भाग १, २७, १०, सौर० ४१, ६६।
४. वायु० : ११२, ५३।
५. ब्रह्म० ३७, ७; वायु० २४ १२६, ५४, ७०, ५५, १४, मत्स्य० ४७, १३७।
६. वायु० : २४, १४०, वराह० २५, २४, सौर० ५३, ५, ब्रह्म० ३७, ७।
७. ,, : २४, १४०, वराह० २५, २४, अग्नि० ३२२, २; ब्रह्म० ३७, १३, ३८, ३६।
८. मत्स्य० ८, ५, ब्रह्म० ३८, ३७।
९. सौर० ४१, ५३; वायु० १०, ४६।

र्या से उन्हें मानवोत्तर शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं। इन्होंने अपनी वेश-भूषा भी ऐसी बना ी कि उसके असाधारणपन से ही लोगों पर प्रभाव पड़ता था। पुराणों के समय तक इन ालिकों' ने रुद्र के प्राचीन उग्र रूप का विकास करके उसको 'कपालिन्' का विचित्र और वह रूप दे दिया था। इन लोगों ने अपना वेश भी अपने उपास्यदेव जैसा ही बना था और प्राय दिगम्बर अवस्था में कपाल-कमण्डलु हाथ में लिये और शरीर पर भस्म ये विचरते थे। जहाँ कहीं भी ये जाते श्मशान-भूमि में ही निवास करते। इन लोगों उपासना को व्यवस्थित रूप से कोई मान्यता नहीं दी जाती थी और साधारण रूप से इसकी ा भी की जाती थी, परन्तु इसको दवाने के लिए भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया था। पुराण में कापालिकों की विधर्मियों में गणना की गई है। परन्तु जैसा कि हमने महा-त में देखा था, जैसे-जैसे समय वीतता गया, शिव की कपालिन् रूप में उपासना करनेवाले भी कुछ-कुछ इसकी मान्यता देने लगे—अर्थात् वे शिव के अन्य रूपों नके 'कपालिन्' रूप को भी गिनने लगे तथा इस कारण इस रूप पर आधारित की अनेक उपाधियों का, उनकी अन्य उपाधियों के साथ, सर्वत्र उल्लेख होने लगा। णों में यह बात महाभारत की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट है। परन्तु शिव के 'कपालिन्' को मान्यता देने से ही, एक प्रकार से कापालिक सम्प्रदाय को भी मान्यता मिल ई, और सम्भवत इसी कारण उसको दवाने के लिए कोई निश्चित कदम नहीं या गया। यह सम्प्रदाय अभी हाल ही तक विद्यमान था। तथापि जनसाधारण और से इसके प्रति विरोध वढ़ता ही गया और इसीके फलस्वरूप इसके अनुयायियों मख्या घटती गई। इसके साथ-साथ कापालिकों ने भी अपने विचारों और आचार एक तर्क-सगत व्याख्या करने का और अपने मत को सम्मानित वनाने का प्रयत्न ा। पुराणों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'ब्रह्माण्ड पुराण' में पेयों के एक प्रश्न के उत्तर में स्वय भगवान् शिव अपने कपालिन् रूप के विभिन्न ़णों की व्याख्या करते हैं[1]। वह अपने शरीर पर भभूत इसलिए मलते हैं कि वह ऐसा पदार्थ है जो अग्नि द्वारा पूर्णतया भस्म किया जा चुका है और अग्नि के सर्व शोधक होने के कारण यह भी परिशुद्ध है। अत भभूत के परम पूत होने के कारण जो उसे ने शरीर पर लगाता है, उसके समस्त पाप कट जाते हैं। जो व्यक्ति भभूत से 'स्नान' करता नह विशुद्धात्मा, जितक्रोध और जितेन्द्रिय होकर भगवान् शिव के धाम को प्राप्त होता

नग्न रहने के सम्बन्ध में भगवान् शिव ने कहा है कि सब प्राणी नगे ही पैदा होते अत नग्नता में स्वत कोई दोष नहीं है। इससे तो मनुष्य के आत्म-सयम की जाँच ी है और इसीसे व्यक्ति विशेष का आत्म-सयम प्रतिविम्बित भी होता है। जिनमें आत्म-ाम नहीं है, वे ही वास्तव में नग्न हैं, चाहे वे कितने भी वस्त्र धारण क्यों न करें। आत्मसयमी हैं, उनको वाह्य आवरणों से क्या वास्ता[2] इसी प्रकार श्मशान-भूमि विचरने से भी व्यक्ति अपनी प्राकृतिक भावनाओं पर कितना नियत्रण रख सकता है,

[1] मोर० ३८, ५८।

[2] ब्रह्मा० भाग १, २७, १०५ और आगे।

इसकी जाँच होती है। जो इस प्रकार नियन्त्रण रख सकते हैं और दक्षिण-पथ के अनुसार श्मशान भूमि में निवास करते हैं। वे अपनी इच्छाशक्ति की उत्कृष्टता का प्रमाण देते हैं और इसी कारण उनको अमरत्व और 'ईशत्व' प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। इस प्रकार कापालिक सम्प्रदाय ने अपने मत की तार्किक पुष्टि करने की और अपने घृणित कृत्यों पर धार्मिक पवित्रता का आवरण डालने की चेष्टा की है। उनकी युक्तियाँ ऊपर से कुछ तर्कसंगत जान भी पड़ती हैं, और यह सम्भव है कि कुछ लोग उनसे कायल भी हो गये हों। कापालिकों ने यहीं तक संतोष नहीं किया। उन्होंने अपनी जीवन-चर्या को एक 'व्रत' बताना भी प्रारम्भ कर दिया। कोई भी व्यक्ति किसी घोर पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए यह व्रत धारण कर सकता था। इसका एक उदाहरण हमें भगवान् शिव द्वारा ब्रह्मा का सिर काट लेने की कथा में मिलता है, जहाँ स्वयं शिव ने यह 'व्रत' किया था[1]। ब्रह्म-हत्या का पाप मिटाने के लिए भगवान् शिव ने कापालिक का रूप धारण किया, अर्थात् दिगम्बर हो, शरीर में भस्म लगाये, उन्होंने सब प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और उसके पश्चात् ब्रह्मा का कपाल, जो उनके हाथ से संलग्न हो गया था, छूट कर गिर गया। इस प्रकार शिव ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हुए। परन्तु अपने मत को मान्यता दिलवाने की कापालिकों की यह चेष्टा कुछ अधिक सफल नहीं हुई। इसका जादू-टोने के साथ इतना गहरा सम्बन्ध था और इसका समाज-विरोधी रूप इतना स्पष्ट था कि यह कभी भी सर्व-मान्य नहीं हो सकता था। कापालिकों का सदा ही एक छोटा-सा सम्प्रदाय रहा, जिससे जनसाधारण सामान्यतः कतराते थे।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना अपेक्षाकृत कम ही लोग करते थे, एक विलास-प्रिय देवता का रूप था। रामायण-महाभारत में हमने देखा था कि इस रूप में शिव का किरातों के साथ सम्बन्ध था और इसी जाति के किसी आदि देवता को आत्मसात् करने के फलस्वरूप शिव के इस रूप की उत्पत्ति हुई थी। पुराणों में शिव के इस रूप के सम्बन्ध में हमें और भी बहुत-कुछ ज्ञात होता है। ब्रह्माण्ड पुराण[2] में एक कथा इस प्रकार है कि एक बार भगवान् शिव वन में ऋषियों के आश्रम में गये। इस अवसर पर उनकी वेशभूषा पूर्णरूप से एक विलासप्रिय देवता की-सी थी। उनका शरीर भौंडा और सर्वथा आवरण-हीन था और उनके केश बिखरे हुए थे। वन में पहुँचते ही वे बड़े उच्छृङ्खल ढंग से आमोद-प्रमोद करने लगे। कभी अट्टहास करते थे, कभी स्वप्निल ढंग से गाते थे, कभी कामातुर पुरुष के समान नृत्य करते थे और कभी जोर-जोर से रोने लगते थे। आश्रम की महिलाएँ शिव के इस आमोद-प्रमोद पर पूर्णरूपेण मुग्ध हो गईं और बड़े चाव से उस विलास-लीला में सम्मिलित हो गईं। यह दृश्य देख कर आश्रम के ऋषि अत्यन्त क्षुब्ध हुए तथा शिव को बुरा-भला कह और उनको दण्ड देकर वे ब्रह्मा के पास गये। वहाँ ब्रह्मा ने बताया कि जिसने आपकी स्त्रियों को आचारभ्रष्ट किया है, वह मतवाला पुरुष और कोई नहीं, साक्षात् भगवान् शिव हैं। अन्त में कथा वहीं, ऋषियों द्वारा शिव की स्तुति करने

१. वराह० . ९७, ५ और आगे।
२ ब्रह्मा० : भाग १, अध्याय २७।

और शिव का उनको वरदान देने के साथ, समाप्त होती है। परन्तु इस कथा से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि शिव का यह विलास-प्रिय देव-रूप सर्वथा बाह्यप्रभाव-जन्य था। 'सौर' और 'लिंग' पुराणों में इसी कथा के अपेक्षाकृत नवीन संस्करण मिलते हैं, जिनमें शिव के इस रूप को कुछ कम आपत्तिजनक बनाने की चेष्टा की गई है[1]। परन्तु इनमें भी इस रूप के प्रधान लक्षण तो मिलते ही हैं। 'अग्नि पुराण' में भी यह प्रसंग आया है कि शिव विष्णु के स्त्रीरूप पर मुग्ध हो गये थे, और उस माया के लिए उन्होंने पार्वती को भी छोड़ दिया था। अन्त में विष्णु ने ही इनका मोह दूर किया था[2]। 'मत्स्य पुराण' में जब पार्वती शिव पर उनके कामुक होने का आक्षेप करती है, तब सम्भवत इस लाछन का आधार इसी घटना की स्मृति है[3]। शिव के 'कपालिन्' रूप के समान शिव के इस रूप का भी उनकी साधारण उपासना से कोई सम्बन्ध नहीं था और यदि यह शिव के प्राचीन स्वरूप के किसी लक्षण की स्मृति मात्र होता तो यह कब का लुप्त हो गया होता। परन्तु पुराणों के समय तक भी शिव के इस रूप का बना रहना इस बात का परिचायक है कि इस समय तक भी शिव के इस रूप की उपासना कुछ लोग करते ही होंगे। यह भी एक रोचक बात है कि ऊपर जिन उद्धरणों का उल्लेख किया गया है, उन सबमें शिव का उत्तर दिशा से सम्बन्ध है।

जिस वन में शिव ने ऋषिपत्नियों को मुग्ध किया था, वह देवदारु वृक्षों का वन था और ये वृक्ष हिमालय की उपत्यकाओं में मिलते हैं। विष्णु ने भी हिमालय प्रदेश में ही शिव को अपनी माया से मोहित किया था। इससे रामायण-महाभारत के प्रमाणों का समर्थन होता है और पिछले अध्याय के हमारे इस कथन की पुष्टि होती है कि जिस देवता को आत्मसात् करके शिव ने यह रूप पाया था, उसकी उपासना इसी उत्तर प्रदेश में होती थी। इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण हमें 'नीलमत' पुराण में मिलता है। यह एक कश्मीरी ग्रन्थ है और इसमें कहा गया है कि कश्मीर में कृष्ण चतुर्दशी के दिन जब शिव की विशेष पूजा होती थी, शैव उपासक खूब आमोद-प्रमोद करते थे, और नाचने-गाने तथा गणिकाओं की संगति में रात-भर बिता देते थे[4]। देश के अन्य भागों में इस दिन जो भगवान् शिव की पूजा होती थी, यह उसके बिलकुल विपरीत है। सम्भवत यह उस समय की स्मृति है जब इस प्रकार का आमोद-प्रमोद उस देवता की उपासना का एक प्रमुख अंग था, जिसका अब शिव के साथ तादात्म्य हो गया था। कश्मीर से बाहर कहीं भी शिव की इस प्रकार से उपासना नहीं की जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि यह उपासना उसी प्रदेश तक सीमित रही, जहाँ प्रारम्भ में इसका प्रचार था और इस प्रदेश में भी धीरे-धीरे इस प्रथा का लोप हो गया। यह कश्मीर में शैव धर्म के आगे के इतिहास में स्पष्ट हो जाता है।

---

१ सौर० अध्याय ६६, लिंग० भाग १, अध्याय २६।

२ अग्नि० ३, १८।

३ मत्स्य० १५५, ३१।

४. नील० श्लोक ५५६।

पुराणों में भगवान् शिव के एक और रूप को देखना शेष रह गया है। वैदिक रुद्र का उग्र रूप, शिव के सौम्य रूप के विकास के कारण पीछे तो पड गया, परन्तु कभी भी सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। वेदोत्तर काल में जब 'त्रिमूर्ति' की कल्पना की गई, तब शिव को विश्व का संहारक बनाया गया। बाद मे जब शिव को परम देवाधिदेव का पद दिया गया, तब उनको विश्व का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता माना जाने लगा। परन्तु जब उनकी संहर्ता के रूप में कल्पना की जाती थी, तब उनका वही प्राचीन उग्र रूप सामने आता था, यद्यपि अब इस रूप को बहुत हद तक मंगलमय बनाने की चेष्टा की जाती थी। रामायण-महाभारत काल मे यह बात अधिक स्पष्ट नहीं थी, परन्तु पुराणों मे तो इसको बहुत खोलकर कहा गया है। अपने उग्र रूप मे शिव को एक क्रूर और भयावह महानाशकारी देवता माना गया है, जिसका कोई सामना नहीं कर सकता। इस रूप मे उनको 'चण्ड', 'भैरव', 'महाकाल' इत्यादि उपाधियाँ दी गई हैं[1]। उनका रंग काला है, वे त्रिशूलधारी हैं और कभी-कभी उनके हाथ मे एक 'टंक' भी रहता है। वह रुद्राक्ष की माला पहने रहते हैं और ललाट पर नव चन्द्र सुशोभित रहता है[2]। 'मत्स्य पुराण' मे इस रूप मे शिव को रक्त वर्ण (वैदिक रुद्र का भी यही वर्ण है), 'क्षपण', 'भीम' और साक्षात् 'मृत्यु' कहा गया है[3]। 'वायु पुराण' मे उनका काल के साथ तादात्म्य किया गया है, और तीन 'कापाल' उनकी उपासना करते हैं[4]। इस रूप में उनके अनुचर रक्ष, दानव, दैत्य, गन्धर्व और यक्ष हैं[5]। यहाँ यक्षों का उल्लेख और भगवान् शिव को 'यक्षपति' कहना महत्त्व रखता है, क्योंकि 'मत्स्य पुराण' मे यक्षों को स्वभावतः निर्दय, मृत-मांस-भक्षी अभोज्य-भक्षक और मारणशील जीव माना गया है[6]। अतः यहाँ उनके साथ शिव का साहचर्य, वैदिक रुद्र के इस प्रकार के जीवों के साथ साहचर्य की याद दिलाता है। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि इन अनुचरों अथवा गणों की सृष्टि स्वयं शिव ने ही की थी, और वे शिव के समान रूप थे[7]। इससे शिव का यह रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। इसी रूप मे शिव का एकादश रुद्रों के साथ भी सम्बन्ध है, जिनका पुराणों में प्रायः उल्लेख किया गया है। इनको शिव से ही उत्पन्न माना जाता है, अतः यह उनसे भिन्न नहीं हैं। परन्तु उनका जो स्वरूप है, उससे वैदिक रुद्र के उग्र रूप का ही स्मरण हो आता है। अपने इस उग्र रूप मे, विश्व-संहर्ता होने के साथ भगवान् शिव की कल्पना देवताओं और मानवों के शत्रुओं के संहारक के रूप में भी की गई है, और इस सम्बन्ध में उनका सबसे अधिक प्रख्यात कृत्य 'अन्धक' का वध है[8]। जैसे-जैसे समय बीतता गया, शिव के इस उग्र रूप

१. मत्स्य० : २५२, १० ; ब्रह्म० ४३, ६६, अग्नि० ७६, ५ इत्यादि।
२. अग्नि० ७६,७ और आगे।
३. मत्स्य० . ४७,१२८ और आगे।
४. वायु० . ३१, ३२ और आगे।
५. वायु० : २४, १०७।
६. मत्स्य० . १८०, ९-१०।
७. ब्रह्मा० · भाग १, ९, २३ और आगे।
८. मत्स्य० : अध्याय १७९, लिंग० भाग १, अध्याय ९३ इत्यादि।

के भी अनेक प्रकार हो गये, जिनका प्रस्तर-मूर्तियों में बहुधा चित्रण किया जाता था।

हम यह पहले भी कह चुके हैं कि शिव और उनकी उपासना के प्रति रूढ़िवादियों में जो विरोध-भावना उत्पन्न हो गई थी, उसका मूल कारण शिव द्वारा अन्य आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् कर लेना और उनके लक्षण स्वयं धारण कर लेना ही था। पुराण ग्रन्थों में भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो इस विरोध-भावना की स्मृति पर आधारित हैं। कुछ स्थलों पर ऐसा भी अवश्य प्रतीत होता है कि शिव की जो निन्दा की गई है और उनपर जो आक्षेप किये गये हैं, उनके पीछे इस प्राचीन विरोध-भावना की स्मृति नहीं, अपितु तत्कालीन साम्प्रदायिक द्वेष-भावना है। सबसे पहले तो पुराणों में वह संदर्भ हैं, जिनमें शिव की स्पष्ट रूप से निन्दा की गई है। उदाहरणार्थ मत्स्य पुराण[1] में स्वयं पार्वती शिव को उलाहना देती हैं कि वह महाधूर्त हैं, उन्होंने सर्पों से 'अनेक जिह्वल' (द्वयर्थक बात करनी) सीखा है, अपने ललाट के चन्द्रमा से हृदय का कालापन लिया है, भस्म से स्नेहाभाव पाया है, अपने वृषभ से दुर्बुद्धि पाई है, श्मशानवास से उनमें निर्भीकत्व आ गया है और नग्न रहने से उन्होंने मनुज-सुलभ लज्जा को खो दिया है। कपाल धारण करने से वह निर्घृण हो गये हैं और दया तो उनमें रह ही नहीं गई है। आगे चलकर पार्वती ने उनको साफ साफ 'स्त्री-लम्पट' कहा है, जिसपर कड़ी दृष्टि रखने की आवश्यकता है। ब्रह्माण्ड पुराण में[2] ऋषि पत्नियों की कथा में ऋषिगण बड़े कटु शब्दों में शिव की भर्त्सना करते हैं और उन्हें एक मत्त पुरुष मानते हैं। अन्त में ब्रह्म पुराण में[3] पार्वती की माता 'मैना' बड़े ही अपमान-सूचक शब्दों में शिव का उपहास करती है। उनकी दृष्टि में शिव एक निरे भिखारी हैं, जिसके पास अपनी नग्नता ढाँपने के लिए एक वस्त्र भी नहीं है, उनका साहचर्य हर किसी के लिए लज्जाजनक है, विशेष रूप से पार्वती के लिए, जिसने उन्हें अपना पति चुना था। और, इन सारे लाछनों को भगवान् शिव सर्वथा उचित मानकर स्वीकार कर लेते हैं। इन तीनों उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव की निन्दा का आधार उनके स्वरूप के वही आपत्तिजनक लक्षण थे, जो उन्होंने अन्य आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् करने पर धारण किये। अन्य स्थलों पर भी प्रारम्भ में शिव और उनकी उपासना को मान्यता प्रदान करने के विषय में एक अनिच्छा की भावना के और शिव को एक विजातीय देवता समझने के कई संकेत हमें पुराण ग्रन्थों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'लिंग' की उत्पत्ति की कथा में, जिसके विभिन्न रूप अनेक पुराणों में मिलते हैं, ब्रह्मा शिव की श्रेष्ठता को स्वीकार करने से साफ इनकार कर देते हैं। और अन्त में स्वयं विष्णु शिव के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी महत्ता का ज्ञान कराते हैं। शिव के प्रति ब्रह्मा की इस विरोध भावना के कारण भी वेही हैं, जो ऊपर बताये जा चुके हैं। इस प्रसंग में 'वायु पुराण'[4] में कथानक इस प्रकार है कि ब्रह्मा ने जब शिव को

---

१ मत्स्य० १५५, ६ और आगे।

२ ब्रह्मा० भाग १, २७, १७ और आगे।

३ ब्रह्म० ७४, २६-२७।

४ वायु० २४, ३५ और आगे।

तव उनका मुख गुफा के समान था, दोनो ओर वडे-वडे दंष्ट्र वाहर को निकले हुए नके केश अस्तव्यस्त थे, मुखाकृति विगडी हुई थी और सामान्यतया वे वड़े भयावह थे। स्वभावतः ऐसे जीव का अभिवादन करने से ब्रह्मा ने इनकार कर दिया, और तव विष्णु ने उनको शिव की श्रेष्ठता का ज्ञान कराया, तव जाकर कहीं उन्होंने उनका सत्कार किया। इस कथा के कुछ अन्य सस्करणों में कहा गया है कि ब्रह्मा और विष्णु ही ने शिव की महत्ता को तवतक स्वीकार नहीं किया जव-तक उन्होंने शिव लिंग के, जो सामने प्रकट हो गया था, वृहदाकार को नापने मे अपने-आपको असमर्थ न पाया। राह की कथा में वह प्रसग—जहाँ त्रिपुरध्वस के उपरान्त शिव पार्वती की गोद मे शिशु के । प्रकट होते हैं और इन्द्र उनपर वज्र-प्रहार करने का प्रयत्न करते हैं और जिसका उल्लेख भारत में हो चुका है—पुराणों में भी आता है, यद्यपि कथा दूसरी है। यहाँ[1] पार्वती वयवर' के अवसर पर शिव पचशिखधारी शिशु के रूप में प्रकट होते हैं तथा पार्वती तुरन्त पहचान लेती हैं, और उनको ही अपना पति चुनती हैं। इस समय अपने अज्ञान न्द्र ईर्ष्यावश कुपित हो उठते हैं और शिशु पर प्रहार करने के लिए अपना वज्र उठाते हैं, ; उसी समय उनकी भुजा स्तम्भित हो जाती है तथा उनका अभिमान पूर्णरूपेण चूर्ण जाता है। इस कथा में भी शिव को मान्यता प्रदान करने के प्रति अनिच्छा प्रकट ी है। 'नीलमत पुराण' मे कहा गया है कि जव ब्रह्मा ने शिव का अभिवादन किया तव इन्द्र का अचम्भा हुआ और उन्होंने पूछा कि आखिर ब्रह्मा से वड़ा और कौन देवता हो सकता है[2]? परन्तु पहले ही रामायण-महाभारत में हम देख आये हैं कि शिव के प्रति इस विरोध-भावना का सवसे वडा प्रमाण हमें दक्ष-यज्ञ की कथा में मिलता है। पुराणों में इसके जो रूप मिलते हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमे से सवसे प्राचीन रूप 'वराह पुराण' में है[3]। यहाँ यह कथा इस प्रकार है कि जव सृष्टि के आदि मे ब्रह्मा ने शिव से विविध प्राणियों का सृजन करने को कहा, तव शिव ने इस कार्य के लिए अपने-आपको असमर्थ पाया और सम्भवतः यह क्षमता प्राप्त करने के हेतु, जलमग्न हो, उन्होंने तप प्रारम्भ कर दिया। उनकी अनुपस्थिति मे ब्रह्मा ने सात प्रजापतियों के साधन से सृष्टि का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन प्रजापतियों में से प्रथम दक्ष थे। कालान्तर में दक्ष ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया, जिसमे सव देवता आये। ठीक उसी समय शिव जल में से निकले और यह देखकर कि उनके विना ही सृष्टि का कार्य सम्पन्न हो चुका है, क्रोध से भर गये। क्रोध के आवेश में उन्होने यज्ञ को ध्वस करने का सकल्प किया। उस समय कहा जाता है कि उनके कानों से अग्नि की लपटें निकलीं, जो 'वेताल', 'पिशाच' आदि वन गईं। इनको साथ ले वह यज्ञ-स्थल पर पहुँचे। उनका आगमन होते ही ऋत्विज अपने मन्त्र भूल गये और उन्होंने शिव को राक्षस समझा, जो उनके कार्य में विघ्न डालने के लिए वहाँ आ गया था। दक्ष के परामर्श से

१. ब्रह्म० : अध्याय ३६ इत्यादि।
२. नील० : श्लोक १०८२ और आगे।
३. वराह० : अध्याय २१।

देवताओं ने शिव से युद्ध किया, परन्तु वे बुरी तरह हार गये। 'भग' की तो आँखें गईं, और 'पूषन' का जबड़ा टूटा। विष्णु ने एक बार फिर देवताओं को युद्ध के लिए इकट्ठा किया, परन्तु उसी समय ब्रह्मा ने बीच-बचाव किया। अन्त में शिव को उचित यज्ञ भाग दे और उन्हें विष्णु का समकक्ष मानकर देवतागण लौट गये। दक्षयज्ञ-कथा का यह विशुद्ध रूप प्रतीत होता है जिसका आधार ब्राह्मण ग्रन्थों की वह देवकथा है जहाँ देवताओं ने शिव को यज्ञ-भाग नहीं दिया था। इस कथा से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में शिव का एक विजातीय देवता समझा जाता था, जो आर्य-देवमण्डल में जबरदस्ती घुस आया था। इस कथा का उत्तर भाग और भी महत्त्वपूर्ण है[1]। इसमें कहा गया है कि सती—जिसने शिव को उनके जलमग्न होने से पूर्व पति रूप में वरण किया था और जिसे बाद में ब्रह्मा ने दक्ष को पुत्री के रूप में दे दिया था—इस बात से अत्यन्त दुःखित और क्रुद्ध हुई कि उसके पति ने अकारण ही उसके पिता के यज्ञ का ध्वंस कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसने अपने पति का परित्याग कर दिया और अग्नि में कूदकर अपना प्राणान्त भी कर दिया। पुराण ग्रन्थों में इस कथा के जो अन्य रूप हैं, उनसे यह कथा ठीक विपरीत है, क्योंकि उनमें यह कहा गया है कि सती को दुःख इस बात का हुआ था कि उनके पिता शिवद्रोही थे और उन्होंने शिव की निन्दा में अपशब्द कहे थे। फिर भी कथा में थोड़ा-बहुत साम्प्रदायिक रंग मान लेने पर भी इससे यह तो बिलकुल स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रारम्भ में शिव का तिरस्कार किया जाता था और इस तिरस्कार का कारण स्वयं उनका स्वरूप था, न कि दोषारोपकों का कोई संकुचित और तर्कविहीन छिद्रान्वेषण। बाद में इस कथा में शिव के पक्ष में अनेक परिवर्तन कर दिये गये, और दक्ष को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रकट किया गया जिसने अपने अभिमानवश शिव का उचित सत्कार नहीं किया तथा इसी कारण सर्वथा दण्ड का भागी बना। इन परिष्कृत रूपों में इस कथा का मूलाशय स्पष्ट है। दक्ष का शिव को मान्यता प्रदान न करना और उन्हें यज्ञ में भाग देने से इनकार करना, इस बात का द्योतक है कि प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी अपने धर्म में एक ऐसे देवता को स्थान देने के लिए तैयार नहीं थे, जिसके स्वरूप और जिसकी उपासना को वह अच्छा नहीं समझते थे। 'वायु पुराण' से हमें पता चलता है कि दीर्घकाल तक शैव-धर्म को मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी, क्योंकि उसमें कहा गया है कि देवताओं में यह एक अति प्राचीन प्रथा थी कि यज्ञ में शिव को कोई भाग नहीं दिया जाता था[2]। इस कथा के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरीक्षण हम आगे चलकर करेंगे।

परन्तु शिव के प्रति यह प्राचीन विरोध-भावना बहुत समय पहले ही लुप्त हो चुकी थी, और जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, रामायण महाभारत के समय तक शिव सर्वमान्य देवता हो गये थे। पुराण ग्रन्थों के समय तक शैव और वैष्णव यह दोनों मत ही ब्राह्मण धर्म के प्रमुख अंग हो गये थे। शैव मत का यह पदोत्कर्ष भक्तिवाद के उत्थान और उसके शैवमत का आधार बन जाने के कारण हुआ था। इससे शैवमत के

१ वा॰पु॰ अध्याय ३०।
२ वायु॰ ३०, ११२-१३।

वे लक्षण सामने आये जो भक्तिवाद के अनुकूल थे, और अन्य लक्षण जो इस भक्तिवाद के अनुकूल नहीं थे, पीछे पड़ गये। यद्यपि शैवों के कुछ वर्ग इनको भी मान्यता देते रहे, तथापि सर्वसाधारण में उनके प्रति अधिकाधिक अरुचि होती गई और धीरे-धीरे शिवोपासना में उनके लिए कोई स्थान नहीं रहा तथा जो लोग उनके अनुयायी बने भी रहे, वे विधर्मी माने जाने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे शैवमत में सुधार होने से ही, वह अन्त में सर्वमान्य हुआ। इसके संकेत हमें रामायण-महाभारत में ही दीखने लगते हैं और पुराणों में तो ये प्रचुरता से पाये जाते हैं। 'लिंग' के आकार का रूढ़ीकरण और उनकी उपासना की परिवर्तित विधि की हम चर्चा कर चुके हैं। शैवमत के प्राचीन आपत्तिजनक लक्षणों का कई प्रकार से समाधान किया गया। उदाहरणार्थ—ब्रह्माण्ड पुराण में शिव का कपालिन् स्वरूप, जिसे हम ऊपर देख भी चुके हैं। सौर पुराण में शैवों से अनुरोध किया गया है कि वे अपना एक आदर्श जीवन बनाये, जो वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म के नैतिक सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हो[1]। जो ऐसा नहीं करते थे, उनकी निन्दा की जाती थी[2]। सुधार की इस प्रक्रिया में हो सकता है कि वैष्णवमत के प्रभाव का भी कुछ हाथ रहा हो। प्रारम्भ से शिवभक्तों को यह अवश्य ज्ञात होगा कि यदि उनके आराध्यदेव और उनके मत को मान्यता प्राप्त करनी थी तो उन्होंने इन दोनों के स्वरूप को तत्कालीन सर्वमान्य सिद्धान्तों और नैतिक स्तर के अनुकूल करना पड़ेगा। चूँकि विष्णु विशुद्ध रूप से एक आर्य देवता थे, अत वैष्णवमत शैवों के सामने सदा एक उदाहरण के रूप में रहा और अपने मत को लोकप्रिय और सर्वमान्य बनाने के लिए, जिसका अनुकरण करना उनके लिए आवश्यक था। सौर पुराण में एक स्थल पर उस समय का भी उल्लेख किया गया है, जब शैवमत की ओर बहुत कम लोग आकृष्ट होते थे[3]। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए शैवों को अपने मत का उसी ढंग पर विकास करना पड़ा, जिस ढंग पर वैष्णव मत का विकास हो रहा था और उन बातों का परित्याग करना पड़ा जो इसके विरुद्ध जाती थीं। पुराणों के समय तक यह प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी और वैष्णव तथा शैवमतों के मूल सिद्धान्तों और प्रमुख आचारों में प्रायः कोई अन्तर नहीं रह गया था। यद्यपि इस प्रकार शैवमत के कुछ प्राचीन रूपों का ह्रास हो गया, तथापि उनपर आधारित शिव की अनेक उपाधियाँ बनी ही रहीं और अन्य उपाधियों के साथ उनका बराबर और सब स्थानों पर प्रयोग होता रहा।

शैव मत के साथ इसी समय में शिव की सहचरी देवी की स्वतन्त्र उपासना का भी विकास हो रहा था। रामायण-महाभारत का निरीक्षण करते हुए हमने देखा था कि आर्यों से पूर्वकालीन एक मातृदेवता का, रुद्र की सहचरी के रूप में, स्वीकार किये जाने पर इस देवी के दो मुख्य रूप हो गये थे। एक ओर तो वह भक्तिवाद की सौम्यरूपा शिवपत्नी थी, जिसकी उपासना भगवान् शिव के साथ ही होती थी, और दूसरी ओर वह एक भयावह

१. सौर० : ५०, ७१।
२ ,, ३८, ५४।
३. ,, . ३८, ६-१०।

और शक्तिशाली देवता थी, जो उसका आदि रूप था। परन्तु जैसा शिव के सम्बन्ध में हुआ, वैसे ही इस देवी के ये दोनों रूप भी पृथक्-पृथक् नहीं रहे और बहुधा जब उनके एक रूप की उपासना होती थी, तब उनके दूसरे रूप की ओर भी अनेक संकेत किये जाते थे। यह बात पुराणों में और भी स्पष्ट हो जाती है और इन दोनों रूपों के पूर्ण सम्मिश्रण की ओर संकेत करती है। उदाहरणार्थ जब उनका पार्वती के रूप में स्तवन होता है, तब प्रायः सदा ही उनके भीषण रूप की ओर भी संकेत किया जाता है, जिस रूप में वह दानवों का संहार करती हैं और महामाता कहलाती हैं[1]। 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराण के दुर्गा-काण्ड में देवी के इन दो रूपों का सम्मिश्रण अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसके विपरीत पुराणों से हमें यह भी पता चलता है कि देवी के इन दोनों रूपों के मौलिक भेद का भी कुछ-कुछ ज्ञान उस समय भी था, और जब इन दोनों रूपों की वास्तविक उत्पत्ति को लोग भूल गये तब इन रूपों का समाधान करने के लिए अनेक काल्पनिक और मनचाहे ढंग से व्याख्याएँ की गईं। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है[2] कि देवी प्रारम्भ में आधी श्वेत और आधी काली थीं। फिर उन्होंने अपनेको दो रूपों में विभक्त कर लिया—श्वेत और काले रूप में। आज हम देवी के इस श्वेत और कृष्ण रूप के पीछे वैदिक रुद्र की गोरांग सहचरी और सिन्धुघाटी की संभवतः कृष्णवर्णा मातृदेवता के बीच एक जातीय भेद देख सकते हैं। इन दोनों देवताओं का अन्त में तादात्म्य हो गया और यही देवी के द्विविध रूप का रहस्य है। परन्तु पुराणों के समय तक इस जातीय भेद की स्मृति लोगों में विद्यमान हो, इसकी अधिक सम्भावना नहीं जान पड़ती, क्योंकि उस समय तक शिव की सहचरी के मातृदेवता-रूप की विजातीयता को लोग बिल्कुल भूल गये थे। अतः देवी के इन दो वर्णों को अब उनके दो रूपों का प्रतीक माना जाता था और जब पार्वती के रूप में उनकी उपासना होती थी, तब उनका वर्ण श्वेत और जब उनके भयावह रूप की उपासना होती थी तब उनका वर्ण कृष्ण होता था। इसीसे मार्कण्डेय पुराण के उस संदर्भ का भी समाधान हो जाता है, जिसमें कहा गया है कि दानवों के विरुद्ध चढ़ाई करने से पहले, देवी ने अपने-आपको अम्बिका से पृथक् कर लिया और इसपर उनका रंग काला हो गया[3]।

देवी के सौम्य रूप में उनकी भगवान शिव की सहचरी के रूप में किस प्रकार उपासना होती थी, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दूसरे रूप में, शिव की सहचरी माने जाने के बावजूद, देवी की उपासना स्वतंत्र रूप से होती रही और होते-होते उसने एक अलग मत का रूप धारण कर लिया, जिसका अपना अलग साहित्य था और अपने अलग श्रुति-ग्रन्थ तक थे। इन्हीं श्रुति-ग्रन्थों के अपरकालीन संस्करण 'तंत्र' कहलाये। इस मत में देवी की शक्ति के रूप में कल्पना किये जाने के कारण इस मत का नाम 'शाक्त मत' पड़ा। पुराण ग्रन्थों में इस मत के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, और 'सौर पुराण' में तो 'कौलों' का नाम

---

१ मत्स्य० ११८, ११ और आगे, १७३, २२ और आगे। वराह० २८, २२ और आगे, ९६, ९९। सौर० ४२, ५ और आगे। अग्नि० ९८, १०० और आगे। वायु० ९, ८२-८६।

२ वायु० ९, ८२ और आगे।

३ मा० ८५, ४०-४१।

तक लेकर उल्लेख किया गया है, जो वाद में शाक्तों के एक उपसम्प्रदाय के रूप मे पाये जाते हैं[१]। प्राचीन मातृदेवता का शिव के सहचरी वन जाने से, शैव और शाक्त मतो मे एक निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया, जिसके कारण इन दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ा। अतः यहाँ शाक्त मत के विकास का सक्षेप से थोड़ा-सा उल्लेख करना और यह देखना कि इसका शैव मत पर क्या प्रभाव पडा, अप्रासगिक न होगा।

इस देवी के स्वरूप के विपय मे वहुत-कुछ तो हमें पुराणों से ही पता चल जाता है। उसकी सदा एक क्रूर और भयावह आकृतिवाली देवता के रूप में कल्पना की जाती है। उसके साधारण नाम 'चण्डिका', 'काली', 'दुर्गा' इत्यादि हैं। वह ज्वलन्तमुखी, तीक्ष्णदंष्ट्रा, करालाकृति हैं और एक या अनेक सिंहो पर आरूढ रहती हैं। उसके आठ अथवा वीस भुजाएँ हैं और उनमें वह विविध प्रकार के अस्त्र धारण करती हैं[२]। जिस समय उसकी उपासना होती है, उसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवता उसकी आराधना करते हैं[३]। उसके शक्ति स्वरूप का अव इतना विकास हो गया है कि उसको शिव की ही नहीं, अपितु सव देवताओं की शक्ति माना जाता है[४]। यह शाक्त मत के दार्शनिक पहलू के विकास का परिणाम था, जिसमे देवी को आद्या प्रकृति और पुरुप की माया माना जाता था और विष्णु, शिव तथा अन्य देवताओ का इस पुरुष के साथ तादात्म्य किया जाता था। परन्तु मातृदेवता के रूप मे इस देवी को सदा ही शिवपत्नी माना जाता था। इससे भी इस देवी की उपासना की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। जिन सदर्भों में उनको सव देवताओ की शक्ति माना गया है, वहाँ भी केवल शिव की शक्ति के रूप मे ही उनके मातृदेवता-स्वरूप का और उसकी उपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है।

पुराणों मे वर्णित देवी के इस रूप का प्रमुख कृत्य दानवो का सहार करना था। इन दानवों मे सवसे वड़ा महिषासुर था। महिपासुर-वध की कथा अनेक पुराणो मे दी गई है। इसके अतिरिक्त शुभ-निशुभ, कैटभ और वेत्रासुर का वध भी देवी ने किया था। वेत्रासुर का वध करते समय उन्होंने कात्यायनी का रूप धारण किया था[५]। इन सव वीर कार्यों में उनका क्रूर रूप ही प्रमुख है। चूँकि उनको पार्वती से भिन्न नहीं माना जाता था। अतः शिव-भक्त भी देवी की उपासना करते थे और यह उपासना प्रचलित उपासना विधि के अनुकूल ही थी। देवी की उपासना का विशेप दिवस 'उल्का नवमी' था, जो अव 'महानवमी' के नाम से प्रख्यात है। विश्वास किया जाता था कि इस दिन उन्होंने महिपासुर का वध किया था। इस पूजा का वर्णन 'सौर पुराण' मे किया गया है[६]। देवी को पुष्प, धूप, नैवेद्य, दूध, दही और फल भेंट किये जाते थे और भक्तजन श्रद्धा से उनका ध्यान करते थे

---

१ सौर० . ३८, ५४।
२. वराह० २८, २४, ९६, ४६, ५०। सौर० ४६, ६४। ब्रह्मवैवर्त० भाग २, ६४, १४।
३. ब्रह्मवै० ६४, ६, इत्यादि।
४. वराह० ९०, १७ और आगे। ब्रह्मवैवर्त० भाग २, ६४, ८, ४४ इत्यादि।
५ वराह० : अध्याय २८।
६ सौर० . ५०, २६, ४८।

और प्रार्थना करते थे। कन्याओं को भोजन कराया जाता था और उनको वस्त्र और आभूषणों के उपहार भी दिये जाते थे। इसी अवसर पर एक स्वस्थ गौ ब्राह्मण को दान की जाती थी। इस पूजा से जो पुण्य मिलता था, उसको भी बताया गया है। अन्त में कहा गया है कि जो देवी को इस प्रकार पूजते हैं, जो सच्चे शैव हैं, जो ब्राह्मणों और गौ का उचित आदर करते हैं, जो मांस और मद्य से विरक्त हैं और जो सदा जन-कल्याण में रत रहते हैं, उन्हीं से देवी प्रसन्न होती हैं। यह देवी की उपासना का ब्राह्मण धर्मानुकूल रूप है, जो शैवों में साधारणतया प्रचलित था। सम्भवतः वैष्णव भी इस देवी की कुछ-कुछ इसी प्रकार उपासना करते थे और देवी को विष्णु की शक्ति मानते थे। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में तो 'वैष्णवी' रूप में देवी की उपासना का उल्लेख भी हुआ है[1]।

देवी की उपासना के उपर्युक्त प्रकार के ठीक विपरीत इनकी उपासना का दूसरा प्रकार है, और इसके द्वारा इस देवी का प्रारम्भिक स्वरूप जो सारतः सर्वथा विजातीय था, जितना स्पष्ट रूप में व्यक्त होता है, उतना और किसी बात से नहीं। रामायण-महाभारत में हमने देखा था कि अपने क्रूर रूप में इस देवी के सम्बन्ध में यह धारणा बनी थी कि उसे रक्त और मांस की बलि प्रिय है। पुराणों में यह और भी स्पष्ट हो जाता है। जब उनकी माहेश्वरी के रूप में कल्पना की जाती थी, तब उनको पशुबलि दी जाती थी[2]। सम्भवतः उनको मद्य भी चढ़ाया जाता था, क्योंकि उन्हें मद्यप्रिय भी कहा गया है और महिषासुर से युद्ध करते समय मदिरा-पान करके वह ताजा दम होती थीं[3]। उनको बकरे, भेड़ और भैंसे का मांस विशेष प्रिय था। देवी के इस रूप की जो लोग उपासना करते थे, वे कभी भी वही नहीं हो सकते थे, जो उनके सौम्य रूप की उपासना करते थे। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि देवी की उपासना का दूसरा प्रकार वह है जो प्रारम्भ में इनके प्राचीन आर्येतर उपासकों में प्रचलित था। वे और उनके वंशज आर्य प्रभाव के अन्तर्गत आ जाने के बाद भी उसी पुराने ढंग से देवी की उपासना करते रहे। यही नहीं, जैसे जैसे यह देवी अन्य आदिवासी जातियों की स्त्री देवताओं को—जिनकी उपासना भी इसी प्रकार रक्त और मांस की बलियों द्वारा होती थी—आत्मसात् करती गई, वैसे-वैसे देवी के इस रूप और इस रूप का उपासना-विधि को और बल मिलता गया। इन आदिवासी जातियों की स्त्री-देवताओं के आत्मसात् किये जाने के कुछ चिह्न तो हमने रामायण-महाभारत में भी देखे थे। पुराणों में ऐसे ही अन्य संकेत मिलते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में स्पष्ट कहा गया है कि दुर्गा की उपासना अनेक ग्रामों में होती थी और इसी कारण उनको 'ग्रामदेवता' कहा जाता था। ठीक यही नाम उन स्थानीय स्त्री देवताओं का भी था, जिनकी उपासना आदिवासी जातियों में प्रचलित थी[4]। इसके अतिरिक्त पुराणों में अनेक निम्नकोटि के स्त्री-देवताओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनको 'मातृकाएँ' कहा गया है और जिनकी

---

१ ब्रह्मवैवर्त० भाग २, ६४, ८४।
२ ब्रह्मवैवर्त० भाग २, ६४, ८८ और आगे।
३ मार्कण्डेय० अध्याय ८३।
४. ब्रह्मवैवर्त० भाग १, ६, ८।

उत्पत्ति के विषय मे यह माना जाता है कि उनको भगवान् शिव ने दानवो के विरुद्ध सग्राम मे अपनी सहायता के लिए पैदा किया था [1]। वह क्रूर, रक्त पीनेवाली हैं, और उनका स्वरूप लगभग वैसा ही है जैसा आदिवासी जातियां द्वारा उपस्थित स्थानीय स्त्री-देवताओ का। इस रूप मे देवी का नाम 'विन्ध्यानिलय' है, जिससे यह फिर स्पष्ट व्यक्त होता है कि उन्होंने विन्ध्य प्रदेश मे पूजा जानेवाली किसी देवी को आत्मसात् कर लिया था। 'वराह पुराण' मे कहा गया है कि मातृकाएँ अथवा देवियाँ, स्वय महादेवी के अट्टहास से उत्पन्न हुई थी [2]। अन्त मे देवी द्वारा इन स्थानीय स्त्री-देवताओ के आत्मसात् किये जाने का सबसे असदिग्ध प्रमाण यह है कि आजतक, देश के विभिन्न भागो में, प्राय. सब स्थानीय स्त्री-देवताओ को दुर्गा अथवा महाकाली के विभिन्न रूप ही माना जाता है। इस प्रकार देवी के उपासको में अब उनके मूल उपासक ही नहीं, अपितु वे सब लोग भी शामिल हो गये, जो पहले उन स्थानीय स्त्री-देवताओ को पूजते थे, जिनका अस्तित्व अब इस महादेवी मे विलीन हो गया था। हो सकता है कि देवी के स्वरूप और उपासना के कुछ अश, जैसे कि रक्तपान में उनकी रुचि, और उनको भैंसे की वलि देना, इन स्थानीय देवताओ की उपासना विधि से लिये गये हो।

देवी के इस रूप का आर्येतर होना इस वात से भी प्रमाणित होता है कि उनको कभी-कभी नरवलि भी दी जाती थी। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में जब उनके प्रिय पशु-वलियों का उल्लेख किया गया है, तव उनमे नरवलि (जिसका यहाँ एक विशेष नाम 'मयति' दिया गया है) सबसे अधिक प्रिय बताई गई है [3]। नर-वलि के लिए उपयुक्त प्राणी छाँटने के सम्बन्ध मे भी विस्तृत आदेश दिये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय तक नर-वलि देने की प्रथा लुप्त नहीं हुई थी। वलि के लिए ऐसे युवा पुरुष की आवश्यकता थी, जो मातृ-पितृ-विहीन हो, जो रोगमुक्त हो, दीक्षित हो और सदाचारी हो। उसको उसके वन्धुओ से खरीद लिया जाता था, और यह भी आवश्यक था कि वह स्वय खुशी से वलि चढाये जाने के लिए राजी हो। जो कोई ऐसी वलि देवी को देता है, उससे देवी अत्यन्त प्रसन्न होती हैं और उसपर देवी का अनुग्रह होना निश्चित है। सचमुच ही यहाँ हम एक अत्यन्त क्रूर और भयावह देवता का साक्षात्कार करते हैं, जो रक्त और मास-वलियो में आनन्द लेती है और जिसका स्वरूप और स्वभाव तथा जिसकी उपासना सामान्य ब्राह्मण-धर्म के इतना प्रतिकूल है कि हम यह निष्कर्ष निकाले विना नहीं रह सकते कि इस देवता और उसकी उपासना की उत्पत्ति सर्वथा आर्येतर स्रोतो से हुई है। पुराण-ग्रन्थो से हमें यह भी पता चलता है कि यद्यपि इस उपासना का मूलोच्छेद नहीं किया गया, तथापि ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी इसकी घोर निन्दा करते थे। हमने ऊपर देखा है कि 'सौर' पुराण में 'कौलो' को विधर्मी माना गया है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' मे कहा गया है कि जब विष्णु ने शिव से देवी को अपनी सहचरी वनाने के लिए कहा, तव शिव ने इनकार कर दिया और वड़े कड़े शब्दों मे

१. मत्स्य० : १७९, ९ और आगे।
२. वराह० : अध्याय ९६।
३. ब्रह्मवै० : भाग २, ६४, ९२, १०० और आगे।

देवी की निन्दा की। उन्होंने बतलाया कि वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधक है, वह योग का द्वार बन्द करनेवाली है, वह मोक्ष की इच्छा की साक्षात् ध्वसरूपिणी है, वह महान् अज्ञान फैलाती है, इत्यादि[1]। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस रूप में देवी की उपासना को अत्यन्त गर्हित माना जाता था।

देवी के इस रूप की उपासना के विषय में पुराणों में जो कुछ कहा गया, वह वास्तव में तन्त्र साहित्य के पूरक के रूप में है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं पौराणिक युग में देवी की उपासना धीरे-धीरे एक पृथक् मत का रूप धारण कर रही थी। यह मत शाक्त मत कहलाता था और इसके अनुयायी शाक्त कहलाते थे। इस मत का उद्भव विजातीय होने के कारण और उसके साथ जो कतिपय प्रथाएं चल पड़ी थीं, उनके कारण भी, दीर्घकाल तक इस मत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई। शाक्तों ने अपने मत को मान्यता दिलाने का भरसक प्रयत्न किया। पहले तो उन्होंने आर्यों के श्रुति-ग्रन्थों से ही अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया और फिर उन्होंने अपने नये श्रुति ग्रन्थ तैयार किये। यह ग्रन्थ 'तंत्र' नाम से प्रसिद्ध हुए और शाक्तों के लिए उनकी वही प्रामाणिकता थी जो ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के लिए वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों की। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इन तंत्रों का नाम लेकर उल्लेख किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि उस समय उनकी रचना हो चुकी थी[2]। परन्तु जो तंत्र ग्रन्थ अब उपलब्ध हैं, वे अपेक्षाकृत अपरकालीन हैं, यद्यपि उनमें से अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नवीन संस्करण मात्र हैं, और उनमें बहुत-कुछ सामग्री संचित है। इनमें से जो सबसे प्रमुख ग्रन्थ हैं और जिनमें सबसे अधिक मात्रा में प्राचीन सामग्री भी मिलती हैं, उनसे हमें पौराणिक युग में और उसके तुरन्त बाद के समय में शाक्त मत का जो स्वरूप वर्णित मिलता है, उसका अच्छा ज्ञान हो जाता है। इन ग्रन्थों में स्वभावतः देवी को सर्व-श्रेष्ठ देवता माना गया है और उसी के इर्द गिर्द शाक्तों की समस्त उपासना केन्द्रित है। परन्तु शैव मत का प्रभाव भी यहाँ तक दृष्टिगोचर होता है कि देवी को सदा शिव की सहचरी माना गया है। देवी के स्वरूप में भी, जो प्रायः क्रूर ही रहता है, बहुत से अंश शिव के क्रूर रूप से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ 'काली तन्त्र' में देवी के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह शिव के कपालिन् रूप से बहुत कुछ मिलता है। उनका मुख कराल है, केश बिखरे हुए हैं, वह कपालों की माला से विभूषित है और हाथ में सद्य छिन्न नरमुण्ड लिये हुए हैं[3]। वह कृष्णवर्णा हैं दिगम्बरी हैं और श्मशान भूमि में विहार करती हैं। इस प्रकार वह प्रायः कपालिन् शिव का स्त्री रूप ही हैं। इसके अतिरिक्त वह विभिन्न रूपों में प्रकट होती हैं, जिनके अलग-अलग नाम हैं, जैसे—'तारा' 'महाविद्या', 'भवानी' इत्यादि। इनमें से प्रत्येक रूप के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण हैं, परन्तु सब समान रूप से क्रूर और भयावह हैं[4]। 'प्रपचसार तंत्र' में भी देवी का लगभग ऐसा ही

---

१ कूर्म० भाग १, ६, ६, और आगे।

२ ब्रह्मवै० भाग १, ६, १२।

३ काली० १, ३ और आगे।

४ ,, अध्याय ३।

वर्णन मिलता है[1]। वहाँ उनका नाम 'त्रिपुरा' है। इस नाम से फिर शिव के स्वरूप के प्रभाव का संकेत मिलता है। अन्य तंत्र ग्रंथों में देवी के स्वरूप को एक दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया गया है और यह प्रयत्न पुराणों के ढंग पर ही किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ देवी को शक्ति के रूप में, जो सृष्टि का सक्रिय तत्त्व है, उस पुरुष से ऊँचा स्थान दिया गया है, जो अपनी शक्ति के कार्यों का एक निष्क्रिय साक्षी मात्र है। इस दृष्टि से शाक्तमत वेदान्त की अपेक्षा सांख्य की स्थिति के अधिक निकट है। देवी का आदि स्वरूप कुछ तंत्र ग्रंथों मे वर्णित उनकी उपासना-विधि से प्रकट हो जाता है। यह विधि 'चक्रपूजा' कहलाती थी, जो अपने विविध रूपों में शाक्त उपासना की सामान्य विधि थी। अपने मूल रूप में अतिशय आनन्दोद्रेक और उच्छृंखल मत्त-विलास इस उपासना के प्रमुख अंग होते थे। इसका वर्णन 'कुलार्णव' तंत्र मे किया गया है[2]। कालान्तर मे भी इसका प्रचार शाक्त मत के वामपक्षीय अनुयायियों मे बना रहा, जो 'वामाचारी' अथवा 'वाममार्गी' कहलाते थे। इस उपासना मे मैथुन को जो महत्त्व दिया गया है, और पूजा के दौरान में उपासक जो मदमत्त होकर उच्छृंखल विलास में लीन हो जाते थे, इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह देवी प्रारम्भ मे एक उर्वरता-सम्बन्धी देवता थी। उसकी उपासना मे यह सारी क्रियाएँ किसी दुर्भावना से अभिभूत होकर नहीं की जाती थीं, अपितु सच्चे और पूर्ण विश्वास के अधीन की जाती थीं कि इन कृतियों से धरती और पशु-पक्षियों की उर्वरता बढ़ती है। अतः इन कृतियों का देवी की उपासना मे एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान था। तन्त्रों में देवी का जो स्वरूप वर्णन किया गया है, उससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि देवी बहुधा अपने पति के साथ संभोग में रत रहती हैं और इस संभोग से उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता होती है[3]। बिलकुल यही बात बेबीलोनिया की देवी 'इश्तर' के सम्बन्ध मे भी कही जाती थी। 'तंत्रराज तंत्र' उनका कामदेव के साथ साहचर्य भी इसी बात का द्योतक है[4]। परन्तु यह सब ब्राह्मण धर्म के सर्वथा प्रतिकूल था तथा देवी की इस उपासना की निन्दा और अमान्यता का यही कारण था। स्वयं तंत्र ग्रंथों मे इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि प्रारम्भ मे इस शाक्तमत को लोग बुरा समझते थे और इसे मान्यता नहीं देते थे। शाक्त अपने संस्कार लुक-छिप कर करते थे, जबकि वैदिक और पौराणिक संस्कार प्रत्यक्ष रूप से किये जाते थे[5]। इसका कारण यह हो सकता है कि शाक्तों को अपने पकड़े जाने और दण्डित होने का डर था। 'कुलार्णव तंत्र' में कहा गया है कि भगवान् शिव ने तन्त्र का रहस्य ब्रह्मा और विष्णु को नहीं बताया। इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इन देवताओं के उपासकों से शाक्त मत को कोई

---

१. प्रपंचसार० ६, ८।

२. कुलार्णव० ८, ७३ और आगे।

३. काली० १, ३ इत्यादि।

४. तंत्रराज० : ७, ११।

५. कुलार्णव० : २, ६, ३, ४-५। तंत्रराज० १, ६। कुलचूडामणि० १, १८-३१।

समर्थन नहीं मिला [1]। एक अन्य स्थल पर शाक्तों का जो उपहास होता था और उनपर जो सख्तियाँ की जाती थीं, उनका भी उल्लेख किया गया है [2]। बाद में अपने मत के लिए मान्यता प्राप्त करने के लिए, और उसको सम्मानित बनाने के लिए, सांख्य ने जिस पुरुष तथा प्रकृति के सिद्धान्त का विकास किया था, उसका शाक्तमत में समावेश किया गया और देवी को पुरुष की शक्ति माना जाने लगा। उपासना-विधि में भी कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया गया जिससे वह ब्राह्मण धर्म के अधिक अनुकूल हो जाय। यह स्थिति महानिर्वाण तन्त्र में पाई जाती है, जो स्पष्ट ही बाद के समय का है [3]। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जो मांस और मद्य-उपासना में काम आये, उसको विधिवत् परिशुद्ध किया जाय। उच्छृंखल व्यवहार और अतिशय मद्यपान का पूर्ण निषेध किया गया है। इन सुधारों के फलस्वरूप शाक्तमत में दक्षिण मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके अनुयायियों का आचरण सर्वथा वैसा ही लोक-सम्मानित होता था जैसा ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों का। उनकी उपासना-विधि भी परिष्कृत थी [4]। इनके संस्कार भी लुक-छुप कर नहीं, अपितु प्रत्यक्ष रूप से किये जाते थे, क्योंकि अब उनको गुप्त रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। महानिर्वाण तन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त तान्त्रिक उपासना प्रत्यक्ष रूप से की जानी चाहिए [5]।

पुराणों में गणेश भी एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी उपासना भी अब अपनी विकसित अवस्था में दिखाई देती है। सूत्र-ग्रन्थों में हमने देखा था कि इस देवता का आदि स्वरूप एक उपद्रवी 'विनायक' का था और सम्भवतः प्रारम्भ में वह रुद्र का एक रूप था। पुराणों में हमें गणेश के इस प्राचीन स्वरूप के और रुद्र तथा गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य के और संकेत मिलते हैं। 'मत्स्य पुराण' में ब्रह्मा ने गणेश को 'विनायकपति' कहा है [6]। 'वराह पुराण' में इनका उल्लेख एक उपद्रवी जीव के रूप में किया गया है, जिसकी सृष्टि केवल इस उद्देश्य से हुई थी कि वह सदाचारी मर्त्यों के कार्यों में विघ्न डाले। शिव ने गणेश को विनायकों का नेता बना दिया था और यह विनायक 'क्रूरदृशः' और 'प्रचण्डाः' कहे गये हैं [7]। 'अग्नि पुराण' में कहा गया है कि गणेश को ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने मानवों को अपने उद्देश्यपूर्ति से वंचित रखने के लिए और साधारण रूप से उनके कार्यों में विघ्न डालने के लिए उत्पन्न किया था [8]। विनायक ग्रस्त होने के दुष्परिणाम भी बताये गये हैं। सूत्रग्रन्थों में विनायकों का जो वर्णन किया

---

१ कुलार्णव० २, ४।
२ ,, २, ५१, ५२।
३. महानिर्वाण० ५, २०६ और आगे।
४. ,, ७, १५४ और आगे।
५. ,, ४, ७६।
६ मत्स्य० १५४, ५०५।
७ वराह० २३, २७-२९।
८ अग्नि० अध्याय २९१।

गया है, यह सब-कुछ उसी के समान है। 'ब्रह्म पुराण' के एक सदर्भ मे भी गणेश का यही स्वरूप दिया गया है, जहाँ उनका एक दुष्ट जीव माना गया है जो देवताओ के यज्ञ में विघ्न डालता है [१]। इस प्रकार गणेश का विनायक रूप तो निश्चित हो जाता है। अब 'वराह पुराण' मे कहा गया है कि इस 'विनायक' को शिव ने उत्पन्न किया जो साक्षात् रुद्र ही है [२]। अन्य पुराणों मे भी गणेश को बहुधा शिव की विशिष्ट उपाधियाँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ 'अग्नि पुराण' मे उनको 'त्रिपुरान्तक' कहा गया है, उनकी भुजाओ मे सर्प लिपटे हुए हैं और उनके ललाट पर चन्द्र विराजमान है [३]। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' मे गणेश को 'ईश' की उपाधि दी गई है और उनको सिद्धों और योगियो का आचार्य कहा गया है [४]। यह भी शिव का ही विशिष्ट कार्य है। इसके विपरीत शिव को भी प्राय. गणेश की विशिष्ट उपाधियाँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' मे शिव को 'गजेन्द्रकर्ण', 'लम्बोदर' और दंष्ट्रिन्' कहा गया है [५]। 'ब्रह्म पुराण' मे भी गणेश की कुछ उपाधियाँ शिव को दी गई हैं [६]। उपाधियों का यह आदान-प्रदान स्पष्ट रूप से इन दोनो देवताओ के प्रारम्भिक तादात्म्य को सूचित करता है। इसके अतिरिक्त पुराणो मे हमे एक और प्रमाण भी मिलता है जिससे शिव और गणेश का प्रारम्भिक तादात्म्य निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। यजुर्वेद मे हमने देखा था कि रुद्र का मूषक के साथ साहचर्य किया गया था और मूषक को उनका विशेष पशु माना जाता था। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में विधिवत् इस मूषक का शिव को समर्पण किया गया था। परन्तु वैदिक युग के बाद कहीं भी शिव के सम्बन्ध मे मूषक का उल्लेख नही किया जाता है। साथ ही इसके स्थान पर वृषभ को शिव का विशेष वाहन बताया गया है। पुराणो मे इस मूषक का गणेश के साथ उसी प्रकार उल्लेख होता है, जिस प्रकार वैदिक साहित्य में उसका रुद्र के साथ होता था [७]। इससे असदिग्ध रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वय वैदिक रुद्र को ही एक रूप मे विनायक माना जाता था, और इसी रूप मे उनको हस्तिमुख भी कल्पित किया जाता था तथा मूषक को उनका विशेष पशु माना जाता था। रुद्र का यही रूप आगे चलकर एक स्वतन्त्र देवता के रूप मे विकसित हुआ, जो पहले 'विनायक' और बाद मे 'गणेश' कहलाया। 'सौर पुराण' मे एक स्थल पर स्पष्ट कहा गया है कि गणेश वास्तव मे शिव ही हैं [८]। अन्त मे पुराण ग्रन्थो मे गणेश को शिव का पुत्र माना गया है। यह सम्बन्ध भी उनका प्रारम्भिक तादात्म्य के पक्ष मे ही जाता है, क्योकि देवकथाओ मे इस प्रकार के सम्बन्ध बड़ी सुगमता

१. ब्रह्मा० : ४०, १२६, ११४, ४ और आगे।
२ वराह० . २३, १४ और आगे (साक्षाद्रुद्र इवापर·)।
३ अग्नि० . ३४८, २६।
४ ब्रह्मवै० : भाग ३, १३, ४१ और आगे।
५. वायु० : २४, १४७, ३०, १८३।
६ ब्रह्म० : ४०, १५।
७. ,, : १११, १५ इत्यादि।
८. सौर० · ४३, ४८।

मे स्थापित हो जाते हैं। सूत्रग्रन्थो मे हमने देखा ही था कि 'भव' और 'शर्व' तक को, जो प्रारम्भ मे रुद्र के ही दो नाम थे, शिव का पुत्र माना जाने लगा था।

पुराणो मे शिव और गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य के सकेत तो अवश्य मिलते हैं, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि इस तादात्म्य का ज्ञान लोगो को उस समय भी था। पौराणिक युग तक गणेश ने पूर्ण रूप से एक स्वतत्र देवता का रूप धारण कर लिया था तथा उनको शिव और पार्वती का पुत्र माना जाता था। 'स्कन्द' के अनुसार ही शिव और गणेश के भी पिता-पुत्र सम्बन्ध का समाधान करने के लिए पौराणिक कथाकारो ने कथा-निर्माण के साधन को अपनाया था और इस प्रसग को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हो गई थीं। उपलब्ध पुराण ग्रन्थो मे बहुत सी कथाएँ पाई जाती हैं। 'मत्स्य पुराण' की कथा के अनुसार एक बार पार्वती ने जिस चूर्ण से अपने शरीर को मला था, उसका एक खिलौना बनाया, जिसका सिर हाथी के सिर-जैसा था। इस खिलौने को जब उन्होने गगा के जल में डुबोया, तब वह प्राणवान् हो गया और पार्वती तथा गगा दोनो ने उसे अपना पुत्र माना। बाद मे ब्रह्मा ने उसको विनायको का नेता बना दिया[1]। 'वराह पुराण' मे कथा इस प्रकार है कि जब पृथ्वी पर सब मानव पूर्ण सदाचारी हो गये और नरक खाली हो गया तथा यमराज को कोई काम करने को न रहा, तब देवताओं के अनुरोध पर भगवान् शिव ने गणेश को इसलिए उत्पन्न किया कि वह इन मानवो के कार्यों में विघ्न डाले[2]। शिव ने उसे अपना ही रूप दिया, परन्तु जब पार्वती उसे अतिशय स्नेह-भरी दृष्टि से देखने लगीं, तब शिव को ईर्ष्या हुई और उन्होंने इस नवजात देवता का शाप दे दिया कि वह हस्तिशिर का सिर, लम्बोदर और अन्य अगविकार वाला हो जाय। इसके विपरीत 'लिंग पुराण'[3] में कहा गया है कि जब देवताओ ने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि वह कोई ऐसा जीव उत्पन्न करें जो सब विघ्नो का नाश करनेवाला हो, तो शिव ने स्वय गणेश के रूप में जन्म लिया।

अन्य पुराणो मे जो कथाए दी गई हैं, वे कुछ भिन्न हैं और सभवतः कुछ बाद की भी हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' मे विष्णु शिव को वचन देते हैं कि उनके पार्वती से एक पुत्र होगा जो सब विघ्नो का नाश करनेवाला होगा[4]। तदनन्तर एक बूढे ब्राह्मण का रूप धर और शिव के आवास पर पहुँचकर विष्णु ने शिव तथा पार्वती के सहवास को भग किया। फिर स्वय एक शिशु का रूप धर पार्वती की शय्या पर लेट गये, जहाँ पार्वती ने उन्हें पाया और अपना पुत्र कहकर उनका सहर्ष स्वागत किया। आगे चलकर कथा मे कहा गया है कि जब पार्वती के निरन्तर अनुरोध पर शनि ने गणेश की ओर देखा, तब गणेश का सिर धड से अलग होकर गिर पड़ा। इसपर विष्णु ने एक हाथी का सिर मँगाकर उसके स्थान पर जोड़ दिया। इस कथा मे गणेश को विष्णु का अवतार माना गया है और स्पष्ट ही इस कथा की उत्पत्ति वैष्णव प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।

---

1. मत्स्य० १५४, ५०१ और आगे।
2. वराह० अध्याय २३।
3. लिंग० भाग १, १०४-१०५।
4. ब्र० भाग ३, अध्याय ७-८।

सबकुछ देखते हुए पुराणों मे गणेश के स्वरूप को काफी स्तुत्य बना दिया गया है। शिव और पार्वती के स्वरूप मे भी इसी प्रकार सुधार किया गया था। गणेश के स्वरूप को तत्कालीन ब्राह्मण धर्म के अनुकूल बनाया गया। प्रारम्भ मे उनकी उपासना इसलिए होती थी कि वह मनुष्य के कार्यों मे बाधा न डालें। इसके बाद उनको विघ्नों का देवता माना लगा और विघ्न नाश के लिए उनकी पूजा की जाने लगी। इस स्थिति से एक कदम गणेश का विघ्ननाशक देवता के रूप मे कल्पना किया जाना एक स्वाभाविक बात थी। इस प्रकार गणेश, जो प्रारम्भ में एक उपद्रवी और अहितकारी देवता थे, अब एक कल्याणकारी देवता हो गये तथा प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे निर्विघ्न पूर्ति के लिए उनकी पूजा होने लगी[1]। उनकी पूजा की विशेष तिथि माघ मास मे शुक्लपक्ष की चतुर्थी थी। इस दिन की पूजा का वर्णन 'अग्नि-पुराण' मे किया गया है[2]। उनको जो उपहार दिये जाते थे, उनमें 'उल्कान्त' और विविध प्रकार के मिष्टान्न तथा धूप आदि होते थे। मिष्टान्न उनका प्रिय उपहार था। 'अग्नि-पुराण' में उनकी साधारण उपासना-विधि का भी विवरण दिया गया है[3]। एक 'मण्डल' का निर्माण किया जाता था जिसे 'विघ्नमर्दन' अथवा 'विघ्नसूदन' कहा जाता था और इसके बीच भाग मे गणेश की मूर्ति की स्थापना की जाती थी। इससे अगले अध्याय मे जो सम्भवत. बाद का है, गणेश का एक विशेष मंत्र भी दिया गया है जो उनकी पूजा करते समय जपा जाता था और जिसके साथ ही उन्हें उपहार भेंट किये जाते थे।

कालान्तर मे गणेश की उपासना का भी एक स्वतंत्र मत बन गया। इस मत के अनुयायियों का भी शैवों और वैष्णवों के समान एक सम्प्रदाय बन गया। इन्हीं की तरह ये भी अपने आराध्यदेव गणेश को सर्वश्रेष्ठ देवता मानते थे। यह लोग 'गाणपत्य' कहलाने लगे और इन्होंने अपने एक अलग पुराण का भी निर्माण कर लिया जो 'गणेश पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुराण के अनुसार गणेश ही विश्व के स्रष्टा, धर्ता और संहर्ता हैं[4]। वह महाविष्णु हैं, सदाशिव हैं, महाशक्ति हैं और महाब्रह्म हैं[5]। केवल वही चिन्तन, जिससे इस एक गणेश के इन विभिन्न रूपों की सारभूत एकता की अनुभूति होती है, सच्चा योग है[6]। आगे चल कर कहा गया है कि जिस प्रकार विष्णु अवतार लेते हैं, उसी प्रकार गणेश भी बारम्बार लोक-कल्याण के लिए अवतार लेते हैं। विष्णु, शिव और अन्य सब देवता गणेश से ही प्रादुर्भूत होते हैं और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाते हैं[7]। एक श्लोक मे साम्प्रदायिक पक्षपात की झलक भी

---

१ अग्नि० : ३१८, ८ और आगे।
२. ,, अध्याय १७९।
३. ,, अध्याय ३१३।
४ गणेश० . १, २०-२८।
५. ,, . १, २०-२८।
६ ,, . १, २०।
७ ,, ३, ७।

मिलती है, और कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव के उपासकों का तो मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी पतन हो सकता है, परन्तु गणेश के सच्चे भक्तों को ऐसा कोई भय नहीं है[१]।

पौराणिक युग में शैव मत के सम्बन्ध मे अन्तिम बात जो हमें देखनी है, वह है—शैव देवकथाएँ जिनका इस समय तक पूर्ण विकास हो चुका था। रामायण-महाभारत मे जो कथाएँ हैं, वह पुराणों में अधिक विस्तृत रूप से दी गई हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि कहीं-कहीं कथा का वास्तविक अर्थ ही लुप्त हो गया है। अनेक नई कथाओं का भी प्रादुर्भाव हो गया था और शिव तथा पार्वती के विविध रूपों को लेकर अनगिनत छोटे-छोटे किस्से भी प्रचलित हो गये थे। इन सबके साथ यदि हम उन कथाओं को भी जोड दें, जिनका सम्बन्ध गणेश से था, तो शैव मत सम्बन्धी देवकथाओं का एक बहुत बडा भण्डार हो जाता है। इन सबका विस्तृत विवेचन एक स्वतंत्र ग्रन्थ के लिए एक अच्छा विषय बन सकता है। यहाँ हम कुछ प्रमुख कथाओं को लेकर ही यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें शैवमत के स्वरूप और इतिहास के विषय मे हमें क्या सामग्री मिलती है? रामायण-महाभारतवाली कथाओं का क्रम रखते हुए, हम पहले स्कन्द-जन्म की कथा को लेते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कार्त्तिकेय अथवा स्कन्द को रामायण-महाभारत के काल मे ही शिव का पुत्र माना जाने लगा था। प्रारम्भ मे स्कन्द के पिता अग्नि थे, इस बात की स्मृति पुराणों तक बिलकुल लुप्त हो गई थी। एक-दो स्थानों पर इसका एक हलका सा संकेत मिलता तो है[२], परन्तु जहाँ तक स्कन्द-जन्म की कथा का सम्बन्ध है, उसमें शिव को ही स्कन्द का जनक माना गया है। यह कथा अब एक बडी कथा का भाग बन गई है, जिसमें 'दक्षयज्ञ-विध्वंस', 'शिवपार्वती-परिणय' और 'मदनदहन' की कथाएं भी सम्मिलित हैं। इस कथा के विभिन्न रूप भी हो गये हैं, जिनको दो श्रेणियों मे बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी मे कथा का प्रारम्भ देवताओं का अपनी सेनाओं के लिए एक सेनापति की खोज करने से होता है। महाभारत में स्कन्द-जन्म की कथा का जो मूल रूप मिलता है, उसका प्रारम्भ भी इसी प्रकार होता है। इस रूप मे यह कथा 'वराह पुराण' में दी गई है[३]। जब देवताओं को दानवों ने बार-बार पराजित किया, तब उन्होंने एक नया सेनापति ढूँढने का संकल्प किया और ब्रह्मा के परामर्श से वे शिव के पास गये। यहाँ तक तो यह कथा महाभारत की कथा के अनुसार ही है, परन्तु इसके आगे वह एक नई दिशा मे चलती है। शिव ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली और तत्काल अपनी शक्ति को संक्षुब्ध करके उससे एक देदीप्यमान देवता प्रादुर्भूत किया, जो अपने विशेष अस्त्र (शक्ति) को हाथ मे धारण किये प्रकट हुआ। यह कथा स्पष्ट ही बाद की है और इसमें अग्नि की कहीं भी चर्चा नहीं है। दूसरी श्रेणी की कथाओं का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि शिव और पार्वती जब दीर्घकाल तक सहवास मे लीन रहे, तब देवतागण घबरा उठे।

---

१ गणेश० ६, १६।

२ मत्स्य० ५, २६।

३ वराह० २५, ५२ और आगे।

महाभारत मे इस कथा का जो रूप है, उसके निकटतम सौर पुराण की कथा है[1]। इसमे कहा गया है कि विवाहोपरान्त शिव-पार्वती के इस दीर्घकालीन सहवास से समस्त विश्व मे अव्यवस्था फैल गई। इससे देवतागण सत्रस्त हो गये, और विशेष कर तव जव नारद ने उन्हे वताया कि ऐसे वलशाली माता-पिता की सन्तान समस्त देवमण्डल से अधिक शक्तिशाली होगी। विष्णु ने भी देवताओ को यही चेतावनी दी। इसपर देवताओ ने पहले अग्नि को शिव-पार्वती के सहवास को भंग करने के लिए भेजा। परन्तु पार्वती के सिंह को देखते ही अग्निदेवता जव भयभीत होकर भाग खड़े हुए, तव सव देवता मिल कर शिव के पास गये और उनसे अनुनय किया कि वह पार्वती से कोई सन्तान उत्पन्न न करें। शिव मान गये, परन्तु अपने वीर्य के लिए कोई उपयुक्त पात्र माँगा। देवताओ ने अग्नि को ही दिया। इससे आगे की कथा स्वय शिवजी पार्वती से वताते हैं कि जव अग्नि उनके वीर्य को धारण नहीं कर सके, तव उन्होने उसे गगा में फेंक दिया। उसको सहन न कर सकने पर गगा ने भी उसे कृत्तिकाओं को दे दिया, जिन्होने उसे शरवण में रख दिया और वहीं स्कन्द का जन्म हुआ। इसपर पार्वती देवताओ को शाश्वत रूप से निःसन्तान रहने का शाप देती हैं और यही कथा का अन्त होता है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' मे भी कथा लगभग इसी प्रकार है, यद्यपि उसके दो भाग कर दिये गये हैं और दो विभिन्न स्थलों पर दिये हैं[2]। इसमे थोड़ा-सा वैष्णव प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, क्योंकि यहाँ देवता पहले विष्णु के पास जाते हैं जो उन्हें शिव के पास जाने को कहते हैं। अन्य पुराणों में कथा कुछ अधिक वदल जाती है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' मे कहा गया है[3] कि शिव-पार्वती के दीर्घकाल तक सहवास करते रहने से इन्द्र के मन मे भय उत्पन्न हुआ, और उन्होने अग्नि को उसमे विघ्न डालने के लिए भेजा। अग्नि गये और शिव का वीर्य धरती पर गिर पड़ा। इसपर पार्वती प्रकुपित हो गई और दण्ड-स्वरूप अग्नि को उस वीज के धारण करने पर वाध्य किया। इसके वाद अग्नि ने उसे गगा को दिया और गगा ने उसे शरवण मे डाल दिया, जहाँ स्कन्द का जन्म हुआ तथा कृत्तिकाओ ने उसे पाला। ब्रह्माण्ड पुराण में भी लगभग इन्हीं शव्दो में यह कथा कही गई है[4]। परन्तु 'मत्स्य पुराण' मे इस कथा का कुछ भिन्न रूप है[5]। देवताओं ने भयभीत हो अग्नि को शिव-पार्वती के शयनागार में भेजा जहाँ वह एक शुक का रूप धारण करके गये। परन्तु शिव ने उन्हें पहचान लिया, और क्रोध मे अपना वीर्य उस शुक मे डाल दिया। इस पर अग्नि का शुक-शरीर फट गया और शिव का तेज हैम की धारा के समान प्रखर उज्ज्वल वह निकला, और उससे कैलास पर्वत पर एक सरोवर वन गया। इस सरोवर पर स्नान करने कृत्तिकाएँ आई और जैसे ही उन्होने पीने के लिए कुछ वूँदे एक कमलदल पर उठाई कि पार्वती ने उनको देख लिया और अपने पास बुलाया। उन्होंने पार्वती को एक पुत्र देने का

१. सौर० : ६०-६२।
२. ब्रह्मवै० : भाग ३, अध्याय १०२, भाग ३, अध्याय १४।
३. वायु० : ७२, २० और आगे।
४. ब्रह्मा० : भाग २, अध्याय ४०।
५. मत्स्य० : १५८, २६ और आगे।

इस शर्त पर वचन दिया कि वह उसका नाम उनके नाम पर रखेंगी। पार्वती ने यह स्वीकार किया और उन जल-बिन्दुओं को वे पी गईं। कुछ देर बाद उनके कक्ष से एक बालक उत्पन्न हुआ, जो षण्मुख था और शक्ति धारण किये हुए था। इस प्रकार इस कथा में शिव और पार्वती को स्कन्द का वास्तविक पिता बताया गया है। अतः स्पष्ट है कि इस समय तक अग्नि के स्कन्द का पिता होने की स्मृति सर्वथा लुप्त हो चुकी थी। यह कथा अपने विकास की अन्तिम अवस्था में 'ब्रह्म पुराण' में मिलती है[1]। इसमें उपर्युक्त दो श्रेणियों का सम्मिश्रण हो गया है। शिव पार्वती के दीर्घकालीन सहवास से देवताओं के सत्रास का विवरण उनके एक नये सेनापति की खोज करने के साथ मिला दिया गया है, परन्तु ऐसा करने में कथा में काफी अदल-बदल भी कर दी गई है। यहाँ कहा गया है कि यह जान कर कि शिव की सन्तान ही देवसेनाओं के लिए उपयुक्त सेनापति हो सकती है, उन्होंने शिव और पार्वती का विवाह कराया। विवाह के उपरान्त अति दीर्घकाल तक शिव और पार्वती सहवास करते रहे, परन्तु कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की और इस बीच में तारक नाम के दानव का आतंक बराबर बढ़ता ही गया। यही कारण था जिससे देवगण सन्त्रस्त हो उठे, और उन्होंने अग्नि को शिव के पास उन्हें देवताओं की इच्छा से अवगत कराने के लिए भेजा। अग्नि शुक का रूप धारण कर शिव और पार्वती के शयनागार में पहुँचे। परन्तु शिव ने उन्हें तुरन्त पहचान लिया और अपना बीज उनमें डाल दिया। अग्नि उसको सहन न कर सके और गंगा तट पर उसे कृत्तिकाओं को दे दिया। वहीं स्कन्द का जन्म हुआ। पौराणिक समय में यही इस कथा का प्रामाणिक रूप माना जाता था, और जैसा हम ऊपर देख आये हैं, कालिदास ने भी कथा के इसी रूप को अपने 'कुमार-सम्भव' काव्य का आधार बनाया था।

अगली कथा 'त्रिपुरदाह' की है। जैसा कि रामायण-महाभारत में था, वैसे ही पुराण-काल में भी इसको भगवान शिव का सबसे बड़ा कार्य माना जाता था। एक बृहत् महाकाव्य के लिए यह एक अत्यन्त उपयुक्त विषय है, अतः यह कुछ अचम्भे की बात है कि इसका इस रूप में संस्कृत के किसी महाकवि ने प्रयोग नहीं किया, यद्यपि इन्होंने अपनी कृतियों के कथानकों के लिए समस्त रामायण-महाभारत और पुराणों को छान मारा है। पुराणों में यह कथा सबसे बड़ी है और महाभारत में जो इसका रूप था, उससे बहुत आगे बढ़ गई है। जिसने इस कथा के इतिहास का अध्ययन नहीं किया है, उसके लिए यह विश्वास करना कठिन है कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों की एक अस्पष्ट देवकथा से इस बृहदाकार कथा का विकास हुआ है। अन्य कथाओं के समान इस कथा के भी विभिन्न रूप हो गये हैं। 'सौर पुराण' में जो कथा दी गई है, वह महाभारत की कथा के सबसे अधिक निकट है[2]। तारकासुर के तीन पुत्रों ने ब्रह्मा से वरदान के रूप में तीन नगर प्राप्त किये थे। इन तीनों को एक ही बाण में भेदनेवाले के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उन्हें जीत नहीं सकता था। तदनन्तर महाभारत में तो कहा गया है कि दानवों ने महान् उपद्रव मचाना शुरू कर दिया।

---

१ ब्रह्म० अध्याय १२८।
२ सौर० अध्याय ३४ और आगे।

परन्तु यहाँ यह भी कहा गया है कि उन्होंने इन नगरों में ऐसे लोगों को बसाया जो पूर्ण रूप से सदाचारी थे, जो वेदाध्ययन करते थे, शिव की उपासना करते थे और अन्य सब प्रकार से आदर्श जीवन बिताते थे। यह इन्हीं लोगों के सदाचार का पुण्य था कि दानव अजेय हो गये, और उनके मुकाबले में देवता तेजहीन हो गये। अपना पद खो देने और दानवों द्वारा अभिभूत हो जाने के डर से देवता पहले विष्णु के पास गये, फिर शिव के तथा सम्भवतः शिव की अनुमति से विष्णु ने नारद को एक 'मायी' का रूप धरकर दानवों के नगरों में भेजा कि वह वहाँ के लोगों को पथभ्रष्ट करे और इस प्रकार उनके पुण्य का ह्रास हो जाय। विष्णु और नारद इस प्रयास में सफल हुए और तब शिव ने उन नगरों पर चढ़ाई की। जिस रथ पर शिव चढे, उसका महाभारत की कथा के समान ही, विस्तृत वर्णन किया गया है। शिव के वहाँ पहुँचने पर तीनों नगर एक स्थान पर आ गये और शिव ने एक ही बाण से तीनों को भेदकर उनका ध्वस किया। 'लिंग पुराण' में इसी कथा का एक संक्षिप्त संस्करण दिया गया है[1]। यहाँ यह बात स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है कि इस कथा से यह उपदेश दिया गया है कि सदाचार का कितना पुण्य होता है और उसमें कितनी शक्ति है तथा आचार-भ्रष्ट होने का कितना भीषण परिणाम होता है। शिव की महिमा का गान तो यह कथा करती ही है, और इस उद्देश्य से इसमें अनेक अदल-बदल भी किये गये हैं। परन्तु छल से दानवों का विनाश किया जाना—फिर ऐसे दानवों का जो कम-से-कम सच्चे शिव-भक्त तो थे ही—और स्वय शिव का उनके नगरों को ध्वस करना, ये बातें तत्कालीन शैवों को अप्रिय लगती होंगी। अतः इस कथा में फिर परिवर्तन किया गया और इसका यह दोष निकाल दिया गया। कथा का यह परिवर्तित रूप 'मत्स्य पुराण' में मिलता है[2]। यहाँ दानवों का नेता 'मयदानव' अथवा 'बाणासुर' है, जो स्वयं शिव भक्त था, और उसका सारी प्रजा भी शिव की उपासना करती थी। परन्तु कालान्तर में ये दानव अभिमानी और उद्दण्ड हो गये तथा इस कारण उनका उचित दण्डविधान करने के हेतु शिव ने नारद को, उनके चरित्र की परीक्षा लेने के लिए भेजा। इस परीक्षा में दानव सफल न हो सके। नारद के छल में आकर उन्होंने कुमार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार अपनी अजेयता खो बैठे तथा उपद्रवी बन गये। ऐसी स्थिति आ जाने पर ही शिव ने उनके विरुद्ध चढ़ाई की। जब बाणासुर को यह ज्ञात हुआ कि स्वयं भगवान् शिव दानवों को दण्ड देने के लिए आये हैं, तब वह 'शिवलिंग' को अपने मस्तक पर रखकर, और शिव की महिमा का गान करता हुआ अपने नगर से बाहर निकल आया। उसकी प्रजा जिस दण्ड की अधिकारिणी बनी थी, वह सारा दण्ड अपने ऊपर लेने को तैयार हो गया। केवल उसकी एक ही प्रार्थना थी कि भगवान् शिव में उसकी भक्ति अक्षुण्ण रहे। बाणासुर की इस अद्भुत भक्ति का परिचय मिलने पर और उसकी प्रजावत्सलता से शिव अति प्रसन्न हुए और बाणासुर को अनेक वरदान ही नहीं दिये, अपितु उसके तीसरे नगर को विध्वस्त करने का सकल्प भी छोड़ दिया। शेष दो

---

१. लिंग० : भाग १, अध्याय ७२।

२. मत्स्य० : अध्याय १२६-३२, अध्याय १८८।

नगरों को उन्होंने पृथ्वी की ओर ढकेल दिया, जहाँ एक कैलास पर्वत के निकट और दूसरा अमरकण्टक पर जा गिरा।

तीसरी कथा दक्ष-यज्ञ की है। पुराणों में इसके विभिन्न संस्करण मिलते हैं, और इनसे इस कथा के वास्तविक अर्थ समझने में हमें बड़ी सहायता मिलती है। इस कथा का सबसे पुराना रूप सम्भवतः 'वराह पुराण' में है, और इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इससे शिव के प्रति जो विरोध प्रारम्भ में था और शिव की उपासना को जिस अनादर से देखा जाता था, वह साफ झलकता है। पुराणों के समय तक इसमें, शिव के पक्ष में, काफी हेर-फेर कर दी गई थी और लगभग सभी अन्य पुराणों में दक्ष-यज्ञ के विध्वंस का सारा दोष दक्ष के माथे मढ़ा गया है। कथा के इन सब संस्करणों में ठीक-ठीक काल-भेद करना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इनमें साम्प्रदायिकता का पुट जितनी मात्रा में पाया जाता है, उससे मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से कौन-सी कथा अपेक्षाकृत प्राचीन अथवा नवीन है। 'वायु पुराण' की कथा के अनुसार[1] दक्ष ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया जिसमें उन्होंने शिव को नहीं बुलाया। इसपर 'दधीचि' ऋषि कुपित हो गये और दक्ष से शिव को आमन्त्रित न करने का कारण पूछा। इसपर दक्ष ने उत्तर दिया कि वह ग्यारह रुद्रों को छोड़ कर और किसी रुद्र को नहीं जानते और वह यज्ञ का सारा सम्मान विष्णु को देंगे, जो यज्ञ के पति हैं। इसी बीच दक्ष-पुत्री सती ने, जो शिव को ब्याही गई थी, स्वयं भगवान् से उनके न बुलाये जाने का कारण पूछा। इसपर भगवान् शिव ने उत्तर दिया कि देवताओं में तो यह प्राचीन प्रथा थी कि वे यज्ञ में उन्हें कोई भाग नहीं देते थे और वह स्वयं इस स्थिति से संतुष्ट थे। इस प्रकार यहाँ इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि दीर्घकाल तक शिव की उपासना को कोई मान्यता नहीं दी जाती थी। आगे चलकर कथा में कहा गया है कि सती के अनुरोध करने पर शिव अपना अधिकार पाने के लिए कुछ प्रयास करने के लिए राजी हुए। दक्ष को दण्ड देने के लिए उन्होंने एक भयंकर जीव—वीरभद्र की सृष्टि की। उधर सती के क्रोध से भद्रकाली की सृष्टि हुई, जो वीरभद्र के सहायतार्थ उसके साथ गई। शिव के रन्ध्रों से अनेक 'रुद्र' भी उत्पन्न हो गये और वे वीरभद्र के अनुचर बने। इस प्रकार दलसहित वीरभद्र यज्ञस्थल पर पहुँचा और जाते ही वहाँ सब को तितर-बितर कर दिया। उसने यज्ञ का विध्वंस किया और देवताओं को बन्दी बना लिया। उनके दयायाचना करने पर वीरभद्र ने उनसे शिव को प्रसन्न करने के लिए कहा। अन्त में स्वयं दक्ष ने शिव की आराधना की और तदनन्तर वह परम शिव-भक्त हो गये। सौर और ब्रह्म पुराणों में बिलकुल इन्हीं शब्दों में यह कथा कही गई है[2]। 'लिंग पुराण' में इसको कुछ संक्षेप से कहा गया है[3]। अन्य संस्करणों में यज्ञविध्वंस स्वयं भगवान् शिव करते हैं। इसका कारण यह बताया गया

---

१. वायु०   ३०, ८१ और आगे।

२. सौर०   ७, १० और आगे, ब्रह्म० ३९-४०

३. लिंग०   भाग १, अध्याय १००।

है कि दक्ष द्वारा शिव का अनादर सती को असह्य हुआ और उन्होने यज्ञाग्नि मे कूद कर अपने प्राण त्याग दिये। इस रूप मे यह कथा 'ब्रह्म पुराण' के एक अन्य अध्याय मे भी दी गई है[1]। यहाँ कथा इस प्रकार है कि दक्ष ने जब भगवान् शिव को अपने यज्ञ मे नहीं बुलाया, तब उनकी बड़ी पुत्री सती ने इसका कारण पूछा। दक्ष ने कहा कि वह शिव के शत्रु हैं, क्योकि किसी पूर्व अवसर पर शिव ने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया था और वह उनके अन्य जामाताओं की बराबरी करना चाहते थे, जोकि सबके सब प्राचीन विधियो को माननेवाले महर्षि थे। दक्ष के इस कथन से पता चलता है कि शिव की उपासना को परम्परा के विरुद्ध और प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के प्रतिकूल माना जाता था। सती अपने पति के इस घोर अपमान को सहन न कर सकीं और इस अन्तिम प्रार्थना के साथ कि अगले जन्म मे भी उनके पति शिव ही हो, अग्नि मे कूद पडी। इस दुर्घटना की सूचना जब शिव को मिली तब वह क्रोध से भर गये। उन्होने यज्ञस्थल पर पहुंचकर दक्षयज्ञ का विध्वस किया और दक्ष तथा अन्य उपस्थित देवताओ तथा ऋषियो को शाप दे दिया। इस पर दक्ष ने भी शिव को प्रतिशाप दिया। अन्त में ब्रह्मा ने दोनो को शान्त किया और दक्ष ने भगवान् शिव का उचित सम्मान कर उन्हे श्रेष्ठदेव माना। इस रूप मे यह कथा लगभग इन्ही शब्दो मे 'ब्रह्माण्ड पुराण' मे दुहराई गई है[2]। स्वय 'ब्रह्मपुराण' मे भी यह एक बार और दी गई है[3]। यहाँ केवल इतना अन्तर कर दिया गया है कि यज्ञ-विध्वस होने के उपरान्त उपस्थित देवताओ ने विष्णु से साहाय्य याचना की और विष्णु ने अपने चक्र से शिव पर आक्रमण किया। परन्तु शिव उस चक्र को ही निगल गये और देवतागण पूर्णरूप से परास्त हुए। अन्त मे दक्ष ने शिव की स्तुति की और विष्णु ने भी उनकी आराधना की तथा अपना चक्र वापस पाया। कथा के इस रूप-निर्माण मे स्पष्ट ही शैव-सम्प्रदाय के किसी अनुयायी का हाथ है।

भगवान् शिव के सम्बन्ध में जो अन्य कथाएँ रामायण-महाभारत काल मे प्रचलित थीं, वे भी पुराणो मे अधिक विस्तृत रूप मे दी गई हैं। शिव के विषपान की कथा सब आवश्यक अशो में रामायण-महाभारत की कथा के समान ही है और सब पुराणो मे उसका लगभग एक ही रूप है[4]। शिव की ग्रीवा का वर्णपरिवर्तन हालाहल के गुजरने के कारण ही हुआ बताया गया है। उसका नीलवर्ण देवताओ को इतना प्रिय लगा कि उन्होने शिव से प्रार्थना की, वह उस विष को वहीं रख लें। शिव ने ऐसा ही किया और इस प्रकार वह 'नीलकण्ठ' हो गये। 'मत्स्य पुराण' मे यह कथा कुछ बदल कर कही गई है। यहाँ सागर-मन्थन का कारण यह बतलाया गया है कि शिव ने असुरों के आचार्य शुक्र को 'संजीवनी' बूटी दे रखी था। उस संजीवनी से युद्ध मे मारे गये दानव फिर जीवित हो

१ ब्रह्म० · अध्याय ३४।
२ ब्रह्माण्ड० भाग १, अध्याय १३।
३. ब्रह्म० अध्याय १०९।
४ वायु० · ५०, ४९ और आगे। ब्रह्माण्ड० भाग १, अध्याय २५। मत्स्य० अध्याय २४ इत्यादि।

उठते थे[1]। कथा में एक और परिवर्तन यह किया गया है कि सागर से हालाहल को सबसे पहिले निकला हुआ पदार्थ नहीं बताया गया है। कहा गया है कि जब सोम, श्री, उच्चैश्रवा, कौस्तुभ और पारिजात सागर से निकल आये, तब उनके बाद सागर के और मथा जाने के कारण उसमें से हालाहल निकला। इसे यहाँ 'कालकूट' कहा गया है, और यहाँ इसका मानवीकरण भी हो गया है, क्योंकि इस कालकूट के परामर्श से ही देवताओं ने शिव से इसे ग्रहण करने की प्रार्थना की थी।

इसके बाद मदन-दहन की कथा है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यह अब एक बृहद्कथा का अंग बन गई थी। इसका भी सब पुराणों में लगभग एक-सा ही रूप है[2]। ब्रह्मा के आदेश से देवताओं ने शिव का पार्वती से, जो पिछले जन्म की सती थी, विवाह कराने का प्रयास आरम्भ किया, ताकि इनसे जो सन्तान हो, वह उनकी सेनाओं का नेतृत्व कर सके। पार्वती भी शिव को फिर वर रूप में पाने के उद्देश्य से तपस्या कर रही थीं। देवताओं ने कामदेव को, शिव का ध्यान च्युत करने और पार्वती के प्रति उनमें अनुराग पैदा करने के लिए भेजा। परन्तु जैसे ही कामदेव ने अपना बाण सज्जित किया, वैसे ही भगवान् शिव ने अपने चित्त को किंचित् विक्षुब्ध जान अपने नेत्र खोले और सामने कामदेव को देखकर क्रोध से भर गये। उसी क्षण उनके तृतीय नेत्र से एक ज्वाला निकली, जिसने काम को वहीं भस्म कर दिया। बाद में पार्वती के अनुनय से अथवा, जैसा कि कुछ पुराणों में दिया गया है, विरहव्यथिता कामपत्नी रति पर दया करके, शिव ने काम को फिर जीवित कर दिया, परन्तु अंग का रूप उसे नहीं मिला। तभी से काम 'अनंग' कहलाता है।

'अन्धक'-वध की कथा में, शिव का क्रूर रूप दृष्टिगोचर होता है[3]। इस कथा में सबसे बड़ा विकास यह हुआ है कि अब शिव का मातृकाओं से साहचर्य किया गया है, जो सम्भवतः स्थानीय स्त्री-देवताएँ थीं। 'अन्धक' के वध का कारण उसका देवताओं से द्रोह ही नहीं था, अपितु यह भी था कि उसने एक बार स्वयं पार्वती को हर ले जाने की चेष्टा की थी। जब युद्ध आरम्भ हुआ तब अन्धक के शरीर से रक्त की गिरी प्रत्येक बूँद एक नया अन्धक बन जाती थी। इस प्रकार अन्धकों की एक सेना तैयार हो गई, जिससे देवताओं की सेना संकट में पड़ गई। इसका प्रतिरोध करने के लिए शिव ने माहेश्वरी देवी की सृष्टि की और साथ ही अनेक छोटी-मोटी देवियों को उत्पन्न किया, जो अन्धक के रक्त को पृथ्वी पर गिरने से पहले ही चाट लेती थीं। इसके बाद शिव ने सहज में ही अन्धक का वध कर दिया।

नई कथाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण वह कथा है, जिसमें शिव-लिंग की उत्पत्ति कैसे हुई, यह बताया गया है। लिंगोपासना के प्रारम्भिक स्वरूप तो रामायण-महाभारत के

---

१. मत्स्य० अध्याय २४९-२५०।

२. मत्स्य० १५४, २४७ और आगे, सौर० अध्याय १५३, ब्रह्म० अध्याय ७१ इत्यादि।

३. मत्स्य० १७९, २ और आगे, वराह० अध्याय २७, सौर० अध्याय २९।

समय में ही लुप्त हो गया था। पुराणों के काल तक 'लिंग' शिव का सर्वमान्य और सम्मानित प्रतीक बन गया था तथा उसकी उपासना दीर्घकाल से स्थापित हो चुकी थी। परन्तु, यह शिव-लिंग मूल रूप से जननेन्द्रिय-सम्बन्धी था। इसका ज्ञान पौराणिक युग में भी था, क्योंकि अनेक प्रसगों में इसको स्पष्ट रूप से शिव की जननेन्द्रिय कहा गया है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में जब शिव विष्णु और ब्रह्मा के समक्ष प्रकट होते हैं, तब उनको 'ऊर्ध्वमेढ्र' अवस्था में बताया गया है[1]। ऋषिपत्नियों की कथा में भी[2] शिव की जननेन्द्रिय की ओर फिर ध्यान आकृष्ट किया गया है और स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह शिव की जननेन्द्रिय ही थी, जिसकी लिंग रूप में उपासना होती थी। इसी कारण लिंगोत्पत्ति की कथा में इसकी उपासना का समाधान अन्य उपायों से किया गया है और शिवलिंग के जननेन्द्रिय सम्बन्ध को लुप्त करने की चेष्टा की गई है। प्रसगवश इसी कथा द्वारा शिव को विष्णु और ब्रह्मा से बड़ा सिद्ध करने का भी प्रयास किया गया है। यह कथा भी अपने आवश्यक अंशों में सब पुराणों में लगभग एक-सी ही है। परन्तु विस्तार की बातों में काफी विभिन्नता भी पाई जाती है[3]। एक बार ब्रह्मा और विष्णु में यह विवाद खड़ा हो गया कि उनमें से कौन सर्वश्रेष्ठ है? उस समय भगवान शिव एक लिंगाकार अग्निस्तम्भ के रूप में उन दोनों के समक्ष प्रकट हुए और उनको इस स्तम्भ की ओर-छोर का पता लगाने को कहा। विष्णु नीचे की ओर गये और ब्रह्मा ऊपर की ओर, परन्तु कोई भी उस स्तम्भ का अन्त न पा सका। अन्त में हार कर दोनों लौट आये। तब उन्होंने भगवान् शिव को ही सर्वश्रेष्ठ माना और उनके 'लिंग' रूप का यथोचित सम्मान किया। इस कथा का जो रूप 'लिंग पुराण' में दिया गया है, उसमें शिव-लिंग का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँचता है। इसके अनुसार जो अग्निस्तम्भ विष्णु और ब्रह्मा के सामने प्रकट हुआ था, उसमें से सहस्रों ज्वालाएँ निकल रही थीं, जो प्रलयाग्नि के समान देदीप्यमान थीं। उस अग्निस्तम्भ का न कोई आदि था, न मध्य और न अन्त। जब ब्रह्मा और विष्णु हार कर लौट आये, तब इस लिंगाकार अग्नि-स्तम्भ में एक 'ओम्' का चिह्न प्रकट हुआ और इसका सब देवताओं ने प्रणव के रूप में स्वागत किया। इस प्रकार शिव-लिंग की उपासना का समाधान और समुत्कर्ष किया गया। इस कथा में जिस प्रकार से लिंग की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, उससे लिंग का जननेन्द्रिय-सम्बन्ध बिलकुल ही छिप जाता है। फलस्वरूप पुराणकाल के उपरान्त हम देखते हैं कि लिंग का इस आदि-स्वरूप को लोग बिलकुल ही भूल गये।

पुराणों में पाई जानेवाली अन्य नई कथाओं का प्रासगिक उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं।

---

१. वायु० . २४, ५६।

२ ब्रह्माण्ड० भाग १, अध्याय १२७, अध्याय ५५, १०१।

३. वायु० २४, ३२ और आगे, अध्याय ५५। ब्रह्माण्ड० भाग २, अध्याय २६। सौर० ६६, ८८ और आगे। ब्रह्म० अध्याय १३५। लिंग० अध्याय १७।

पौराणिक साहित्य का निरीक्षण समाप्त करने से पहले हमें जिस बात पर विचार करना है, वह है—शैवमत का अन्य मतों के साथ सम्बन्ध। 'पुराण ग्रन्थों' की रचना के साथ भारतीय धर्मों के इतिहास में उस निर्माणकाल का अन्त होता है, जिसमें—वैदिक कर्मकाण्ड के ह्रास के बाद—वे विभिन्न विचार-धाराएँ, उपासना-विधियाँ और धार्मिक सिद्धान्त प्रचलित हुए थे, जिन्होंने धीरे-धीरे स्पष्ट और सगठित मतों का रूप धारण किया। यह सब मत एक ही समय में, एक ही प्रदेश में और एक ही जाति में साथ-साथ विकसित हो रहे थे। अत यह स्वाभाविक ही नहीं, परन्तु अवश्यभावी भी था कि पर्याप्त मात्रा में इनका एक दूसरे के ऊपर पारस्परिक प्रभाव पड़ा हो और इनके आचार-विचारों में भी काफी आदान-प्रदान हुआ हो। इस काल में इन सब मतों का एक विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन वास्तव में अत्यन्त अभीष्ट है, क्योंकि इससे एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हो जायगी, जिससे इस काल के बाद के धार्मिक विकास को समझने में हमें बहुत सहायता मिल सकती है। परन्तु, यहाँ हम इस समस्या का केवल एकागी अध्ययन ही कर सकते हैं। केवल शैव धर्म को लेकर हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इस समय में शैवमत का अन्य मतों के प्रति क्या रवैया था और इसका उनपर अथवा उनका इसपर क्या प्रभाव पड़ा? शैव-मत के सबसे निकट जो मत था—वह था वैष्णव मत। ये दोनों एक ही वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ थीं और इन दोनों का केन्द्रीय सिद्धान्त वही एक भक्तिवाद था। इन दोनों मतों के इस निर्माण-काल में पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहा, इसका कुछ आभास हमें ऊपर मिल चुका है। हमने देखा था कि इन दोनों मतों के अनुयायी अपने-अपने आराध्यदेव को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। हमने यह भी देखा था कि इस एकेश्वरवाद को ग्रहण करने के फलस्वरूप शिव और विष्णु को एक ही ईश्वर के दो नाम माना जाने लगा था। कम-से-कम इन दोनों मतावलम्बियों में जो विवेकशील थे, वे तो ऐसा ही मानते थे। जन-साधारण को भी इस तथ्य का कुछ आभास अवश्य था, क्योंकि इस तथ्य को समझाने के लिए इसका अनेक प्रकार से सुगम और लोकप्रचलित रूप दिया जा रहा था तथा 'त्रिमूर्ति' अथवा शिव और विष्णु की सयुक्त प्रतिमाएँ बना कर इसका मूर्त रूप दिया जा रहा था। सामान्यत इन दोनों मतों के अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे और इसका सबसे बड़ा प्रमाण विष्णु अथवा शिव-सम्बन्धी पुराण ग्रन्थ हैं, जो शिव और विष्णु दोनों का ही माहात्म्यगान करते हैं। वास्तव में यह पुराण-ग्रन्थ उस समय के वैसे साधारण मनुष्यों की धार्मिक मान्यताओं को बड़ी सुन्दरता से प्रतिबिम्बित करते हैं, जो ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, और जो आचारार्थ शैव अथवा वैष्णव मतावलम्बी होने पर भी दूसरे मत के आराध्यदेव का सम्मान करते थे, क्योंकि वे समझते थे कि वह भी वही देवता है जिसकी वह स्वय एक भिन्न नाम से उपासना करता है।

परन्तु इस तस्वीर का एक दूसरा रुख भी था। हमने ऊपर देखा है कि जब यह प्रश्न उठा कि विष्णु और शिव में से किसको बड़ा माना जाय, तब इन दोनों देवताओं के उपासकों के लिए दो मार्ग खुले थे और उनमें से एक यह था कि वह एक दूसरे के दावों को मानने से साफ इनकार कर देते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों ही मतों के अनुयायियों में से कुछ

र-पंथियों ने ऐसा किया भी। इन लोगों के अस्तित्व के चिह्न हमें पुराण-ग्रन्थों के उन
गों मे मिलते हैं, प शैव और वैष्णव मतो मे साम्प्रदायिक भेद के प्रथम सकेत पाते
। उदाहरण र एक देवता का दूसरे की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष दिखलाया
द की पहली अवस्था है। शिव के सम्बन्ध मे तो लिंगोत्पत्ति
जाता है, जहाँ कहा गया है कि विष्णु ने शिव की श्रेष्ठता को
ना की। रामायण-महाभारत तक मे भी यही वात पाई जाती है,
स्थल पर कृष्ण शिव की महिमा का गान करते हैं और उनकी आराधना
। क इसके अतिरिक्त पुराण-ग्रन्थों मे अनेक सदर्भ भी ऐसे हैं, जिनपर शैव साम्प्र-
यिकता का प्रभाव है और जिनमें शिव को विष्णु से वड़ा माना गया है। 'सौर पुराण' मे
हा गया है कि कृष्ण ने अपना चक्र शिव से पाया था[1]। 'ब्रह्म पुराण' की एक कथा मे शिव
ष्णु का चक्र निगल जाते हैं और इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देते हैं[2]। इसी
राण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि राम ने गोमती नदी के किनारे शिव की पूजा
ी थी। 'लिंग-पुराण' में अनेक स्थलों पर विष्णु को शिव की पूजा करते हुए अथवा शिव
माहात्म्य का वखान करते हुए वताया गया है[3]। इसके विपरीत वैष्णव पुराण विष्णु
ो शिव की अपेक्षा वडा मानते थे। 'ब्रह्म-वैवर्त' पुराण मे कहा गया है कि शिव विष्णु मे से
ी प्रकट हुए और वे विष्णुभक्त थे[4]। एक अन्य अध्याय में शिव विष्णु का गुणगान करते
और वैष्णव भक्तो को वरदान देते हैं[5]। विष्णुलोक को शिवलोक से ऊँचा माना गया
[6]। विष्णु का इस प्रकार शिव से अधिक उत्कर्ष करने की प्रक्रिया मे शैव-कथाओं पर
ी वैष्णव रग चढा दिया गया है। उदाहरणार्थ 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण मे गगावतरण की कथा
। भगीरथ को विष्णुभक्त कहा गया है, और वह कृष्ण की उपासना करते हैं। कृष्ण की
ी प्रार्थना पर गगा पृथ्वी पर उतरने को राजी हुई[7]। 'गणेश-जन्म' की कथा में भी[8] शिव
और पार्वती पुत्र-प्राप्ति का वर पाने के लिए विष्णु की आराधना करते हैं और स्वय गणेश को
ी विष्णु का ही अवतार मात्र कहा गया है।

पुराण-ग्रन्थों मे कुछ ऐसे भी सदर्भ हैं, जहाँ वैष्णव और शैव मतो का यह साम्प्रदायिक भेद कुछ अधिक उग्र रूप धारण करता हुआ दिखाई देता है। इसमे शैव मतावलम्बी ही अग्रसर रहे प्रतीत होते हैं, क्योंकि शैव पुराणो मे ही यह साम्प्रदायिक असहिष्णुता अधिक मात्रा मे दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, 'मत्स्य पुराण' मे कहा गया है कि विष्णु की माया से

---

१. सौर० ४१, १४५ और आगे।
२. ब्रह्म० अध्याय ३३।
३. लिंग० भाग १, २१, ४५, ६१ इत्यादि।
४ ब्रह्मवै० ३, ६।
५. ,, : भाग १, अध्याय १२।
६. ,, : भाग २, अध्याय २।
७. ,, : भाग २, अध्याय १०।
८. ,, : भाग ३, अध्याय ७६।

विमोहित अज्ञानी जन ही भृगुतीर्थ की महिमा को नहीं जानते, जो शिव को प्रिय है[1]। 'वायु पुराण' मे दक्ष-यज्ञ के प्रसग में दक्ष अपने आपको विष्णुभक्त और शिवद्रोही बताते हैं[2]। परन्तु 'सौर पुराण' में हम प्रथम वार शैव और वैष्णव मतों के वीच स्पष्ट विरोध के चिह्न पाते हैं। सौर पुराण उतना ही शिवपक्षी है, जितना कि 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' विष्णुपक्षी है। इस पुराण में समस्त अशैवों की निन्दा की गई है कि वे यम के अधिकार में हैं, और शैव यम के अधिकार से परे हैं[3]। इस पुराण में और 'लिंग पुराण' में अशैवों के प्रति असहिष्णुता की झलक भी दिखाई देती है। इन दोनों मे ही उपमन्यु की कथा के प्रसंग में सच्चे शैव को शिव की निन्दा करनेवालों को मार डालने का आदेश दिया गया है[4]। यदि किसी राजा के राज्य में कोई पाखण्डी भी शिव की निन्दा करता है तो उसके सारे पूर्वज घोर नरक की यातना भोगते हैं[5]। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखनेवाले कट्टरपंथी लोग यदि वैष्णवमत के प्रति द्वेप रखते हों तो कोई आश्चर्य की वात नहीं होनी चाहिए। 'सौर पुराण' मे एक ऐसा ही शिव-भक्त कहता है कि विष्णु की माया से विमोहित मूढजन उस शिव की महिमा को नहीं पहचानते, जिससे ब्रह्मा और विष्णु समेत सव देवताओं की उत्पत्ति हुई है[6]। शिव और विष्णु की समता की वात कहना सरासर विधर्म है, क्योंकि भगवान् शिव के अनुग्रह ही से तो विष्णु ने वैकुण्ठ का आधिपत्य पाया था[7]। जो शिव और विष्णु की समता की चर्चा भी करता है, वह असख्य युगों तक गन्दगी मे रेंगनेवाले कीडे के रूप मे जन्म लेता है और जो शिव को विष्णु से हीन मानता है, वह तो साक्षात् चाण्डाल है, जन्म से न सही, परन्तु कर्म से जो कि उससे भी वहुत वुरा है[8]। शैव और वैष्णव मतो का इस परस्पर द्वेप का सवसे स्पष्ट उदाहरण राजा 'प्रतर्दन' की कथा है[9]। यह राजा एक सच्चा शिव-भक्त था और इसकी सारी प्रजा भी शैव थी। इन सवके सदाचार के फल-स्वरूप इनके पूर्वज भी तर गये, नरक शीघ्र ही खाली हो गया और यम के जिम्मे कोई काम करने को न रह गया। ऐसी हालत देखकर इन्द्र ने एक 'किन्नर' को राजा 'प्रतर्दन' की प्रजा में 'विधर्म' फैलाने के लिए भेजा। यह किन्नर 'प्रतर्दन' की प्रजा मे आकर उन्हें विष्णु की उपासना की ओर प्रेरित करने लगा और अपने इस दुष्प्रयत्न मे यहाँ तक सफल हुआ कि राज-सभा तक मे कुछ लोग उसके दूपित प्रचार से प्रभावित हो गये। उसने स्वय राजा के सामने अपने तर्क प्रस्तुत किये और शिवोपासना की निन्दा तथा विष्णु की उपासना की प्रशसा की।

१. मत्स्य० १९३, ५६।
२ वायु० ३०, ८१ और आगे।
३ सौर० ६४, ४४ ।
४ ,, ३६, ३३। लिंग० भाग १, अध्याय १०७।
५. ,, ३८, ६४।
६ ,, ३८, १६।
७ ,, ३८, ६६।
८ ,, ४०, १६-२७।
९ ,, ३८, ६४।

राजा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, परन्तु उसने बड़ी क्षमाशीलता से काम लिया और इस समस्या पर निर्णय देने के लिए एक धर्म-सभा बुलाई। परन्तु उसी समय सम्भवतः इन्द्र का आदेश पाकर—कलि आमन्त्रित सदस्यो की बुद्धि में प्रवेश कर गया, जिसके फलस्वरूप सभा में खलबली मच गई और कोई निर्णय न हो सका। इसका फल यह हुआ कि अनेक लोग नास्तिक हो गये। राजा ने अभी तक 'किन्नर' की दुष्टता को नही जाना, और वह मन मे बहुत दुखी हो गये। इस बीच जो लोग सद्धर्म के पथ से डिग गये थे, उनके पूर्वज स्वर्ग-च्युत हो गये। सयोगवश विष्णु अपनी महानिद्रा से जागे और अपने मुख से शिव की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा की। अन्त मे देवताओ ने भगवान् शिव को सारी परिस्थितियो से अवगत कराया और तब शिव ने राजा 'प्रतर्दन' को सच्चा ज्ञान दिया और जो इस महा अनर्थ के दोषी थे, उनको दण्ड देने की अनुमति दी। तब राजा ने किन्नर और उसके अनुयायियो को प्राण-दड दिया। शैवो और वैष्णवो की पारस्परिक सद्भावना से दूर होने पर भी इस कथा से उन कट्टरपंथियो की मनोवृत्ति का स्पष्ट पता चलता है, जिनके द्वारा इस साम्प्रदायिक द्वन्द्व का सूत्रपात हुआ और इसके फलस्वरूप हो सकता है, इनमे कहीं-कहीं सघर्ष भी हुआ हो। इस सघर्ष का एक सकेत हमें 'उषा-अनिरुद्ध' की कथा में मिलता है जो पहली बार महाभारत मे दी गई है[1]। पुराणकारो ने इस कथा का प्रयोग शिव के ऊपर विष्णु का उत्कर्ष प्रकट करने के लिए किया। विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराणो में यह कथा लगभग एक ही तरह से कही गई है[2]। 'ऊषा' का पिता 'बाणासुर' परम शिव-भक्त था, और जब उसे कृष्ण के विरुद्ध लड़ना पड़ा तो भगवान् शिव उसकी सहायता के लिए आये और कृष्ण और बाण का युद्ध विष्णु और शिव के महासघर्ष में परिणत हो गया। अन्त में शिव की पराजय हुई और उन्होंने विष्णु से 'बाणासुर' को क्षमा कर देने के लिए विनती का, क्योंकि बाण उनका सच्चा और परम भक्त था। जिस रूप मे यह कथा अब पाई जाती है, उसका अन्त विष्णु के इस मित्रतापूर्ण कथन से होता है कि वह और शिव तो वास्तव में अभिन्न हैं। इस प्रकार इस कथा को उस समय प्रचलित धार्मिक भावनाओ के अनुकूल बना लिया गया है। परन्तु इसकी मुख्य कथा में हमे शैव और वैष्णव मतावलम्बियों के परस्पर सघर्ष का आभास मिलता है, जिसमे वैष्णवो ने अपने-आपको विजयी बताया। इसके विपरीत शैवो ने नृसिंह और शरभ अवतारो के रूप में विष्णु और शिव के युद्ध की कथा का विकास किया, जिसमें शिव विष्णु पर विजय पाते हैं। यह कथा 'लिंग पुराण' में दी गई है[3]।

वैष्णव मत को छोड़कर अन्य मतो के प्रति शैवों का क्या रवैया था, इस विषय मे पुराणो से हमें बहुत-कुछ पता नहीं चलता। जहाँ-तहाँ अशैवो की निन्दा की गई है और शिव-निन्दको के प्रति असहिष्णुता प्रकट की गई है, वह प्रसंग हम ऊपर देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त सौर पुराण मे उन लोगो की गणना भी की गई है, जिनको शैव

१. महाभारत : सभा० ४०, २४-२९।
२. विष्णु० : भाग ५, अध्याय ३३; ब्रह्माण्ड० भाग १, अध्याय २०४।
३ लिंग० : भाग १, अध्याय ९५-९६।

विधर्मी मानते थे[1]। इनमे 'चार्वाक,' कौल, कापालिक, बौद्ध और जैन भी गिनाये गये हैं। इन मतों के साथ शैवमत का भेद वैष्णवमत की अपेक्षा बहुत अधिक गहरा और मौलिक था। वैष्णव मत तो फिर भी उसी सनातन ब्राह्मण-धर्म का एक अग था, जिसका एक अग स्वय शैवमत था। दोनो एक ही वैदिक धर्म पर आधारित थे और दोनो, वेदो को ही श्रुति मानते थे। परन्तु यह अन्य मत तो ब्राह्मण-धर्म के आधार को ही नहीं मानते थे। अत. इनमें और ब्राह्मण धर्म मे सघर्ष पैदा होना अप्रत्याशित नहीं था तथा अचम्भे की बात तो यह है कि पुराणो के समय तक हमें इस सघर्ष का कोई स्पष्ट सकेत मिलता ही नहीं। साधारण रूप से धार्मिक सहिष्णुता की जो भावना हमें अशोक के शिलालेखो मे दिखाई देती है, वही सदियो तक हमारे धार्मिक जीवन का एक प्रमुख और आवश्यक अग रही। भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास तथा अन्य लेखको की कृतियो मे इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जब पुराण-काल में सगठित सप्रदायो की उत्पत्ति हुई, तभी से इस साम्प्रदायिक सघर्ष की नींव भी पडी। साथ ही यह कहना पड़ता है कि इस साम्प्रदायिक सघर्ष मे शैवमत सदा आगे रहा। बौद्ध और जैन मतो के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म की रक्षा करने का बीडा अपने सिर उठाकर शैव लोग बडे उत्साह से इन मतो के सिद्धान्तो का खण्डन करने मे लग गये। 'सौर पुराण' में कहा गया है कि इन मतो के सिद्धान्तो के प्रभाव से लोग वेद के सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते थे और अज्ञान मे पड जाते थे। अत शैव राजा का कर्तव्य था कि वह बौद्धो और जैनियो तथा अन्य सब विधर्मियो को अपने राज्य मे न आने दे। नास्तिको आदि का तो इस देश मे कभी भी कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ, परन्तु बौद्ध और जैन मतो के विरुद्ध शैवो ने जो निरन्तर युद्ध किया, वह पुराणोत्तर काल मे शैव मत के इतिहास का एक प्रमुख लक्षण है। इसी के फलस्वरूप बौद्ध मत तो इस देश मे लुप्तप्राय हो गया और जैन मत की, ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी बन कर खडे होने की, शक्ति नष्ट हो गई। इस सघर्ष का कुछ परिचय हम अगले अध्याय मे पायेंगे। परन्तु 'पुराण ग्रन्थ' साधारण रूप से पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य की परिपाटी का अनुसरण करते हैं, और ब्राह्मधर्म के सिवा जिन अन्य धर्मो का उस समय देश में प्रचार था, उनके विषय मे कोई चर्चा ही नहीं करते।

षष्ठ अध्याय

पिछले अध्याय मे हमने देखा है कि पुराणो के समय तक शैवमत पूर्ण विकसित और सगठित हो चुका था तथा वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख मतों मे से एक वन गया था। इसका प्रचार भी समस्त भारत में था। जहाँ तक शैवमत के स्वरूप का प्रश्न है, उसका विकास अव समाप्त हो गया था। उस समय से आज तक साराशतः उसका स्वरूप वही रहा है, जो पुराण काल मे था। केवल उसके दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और वह पुराणोत्तर काल में ही जाकर अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँचा। इसको छोड़कर जो कुछ भी और नवीनता हमें दिखाई देती है, वह शैवमत के उपासना-विधि के कुछ वाह्य रूपों मे तथा शैवमत के अन्य मतो के साथ सम्वन्धो मे ही दिखाई देती है। पुराणोत्तर काल मे अगर कोई नई वात हुई, तो वह थी—शैवमत के अन्दर ही विभिन्न सम्प्रदायो की उत्पत्ति। यह प्रक्रिया प्रत्येक धर्म मे उसके सुस्थापित हो जाने के वाद, अनिवार्य रूप से होती है। परन्तु यह सव-कुछ भी ईसा की तेरहवीं सदी तक हो चुका था और उसके वाद शैवमत में कोई कहने योग्य नया विकास नही हुआ। अत. तेरहवीं सदी तक पहुँचकर ही हम अपने इस दिग्दर्शन को समाप्त कर देगे।

ईसा की छठी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी के अन्त तक के काल को हम पुराणोत्तर काल कह सकते हैं। इस काल मे जो सामग्री हमे उपलब्ध है, वह कुछ पुरातात्विक है और कुछ साहित्यिक। पुरातात्विक सामग्री मे सबसे पहले तो शिला-लेख हैं। फिर इस काल के अनेक मन्दिर और भगवान् शिव की प्रतिमाएँ हैं। दूसरे अभिलेखो से जो वाते हमें पता चलती हैं, ये मन्दिर और प्रतिमाएँ उनके उदाहरण स्वरूप हैं, अथवा उनकी पुष्टि करते हैं। साहित्यिक अभिलेखों मे सर्वप्रथम तो अनेक धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिनका शैवमत से सीधा सम्वन्ध है और जो अधिकतर दक्षिण मे पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय के प्रचुर लौकिक साहित्य से भी हमे पर्याप्त मात्रा मे ऐसी प्रासंगिक वातें ज्ञात होती हैं, जो इन धार्मिक ग्रन्थो से उपलब्ध शैव धर्म-सम्वन्धी हमारे ज्ञान की पुष्टि अथवा पूर्ति करती हैं। अत' इस काल मे शैवमत का क्या स्वरूप रहा और इसमे क्या विकास हुआ, इसका हमे खासा अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस काल में शैवमत के विषय मे सबसे प्रमुख वात यह है कि उत्तर और दक्षिण मे इसके दो सुस्पष्ट रूप हो गये। यह एक व्यावहारिक ज्ञान की वात है कि किसी भी धर्म के स्वरूप पर उसके अनुयायियो की प्रकृति और स्वभाव का वहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। एक ही धर्म दो विभिन्न प्रकृति और स्वभाव के लोगो में फैलने पर विभिन्न रूप धारण कर लेता है। अत. शैवधर्म जव दक्षिण भारत मे फैला, तव वहाँ भी यही हुआ। पुराणोत्तर काल में प्रथम वार जव यह दक्षिण मे अपने विकसित और सघटित रूप मे दिखाई पड़ता है तव उत्तर भारत के शैवमत के स्वरूप से भिन्न इसका एक निश्चित स्वरूप वन गया था। अत' यही ठीक होगा कि इन दोनो का अलग-अलग निरीक्षण किया जाय।

उत्तर भारत में पुराण-ग्रन्थो द्वारा शैव मत का स्वरूप और उसकी प्रकृति दोनों ही निर्धारित कर दिये गये थे। यहाँ पुराणोत्तर काल में सबसे पहले हमें उत्तरकालीन गुप्तवंशीय राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारी नरेशो के शिलालेख मिलते हैं। उनमें शैवमत का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह साराशतः पौराणिक ही है। छठी शताब्दी के राजा 'यशोधर्मा' के शिलालेख का हम ऊपर उल्लेख कर ही चुके हैं। सातवीं शताब्दी में राजा 'आदित्यसेन' के 'अपसाढ-शिलालेख' में कार्तिकेय का उल्लेख किया गया है और उसको शिव का वास्तविक पुत्र माना गया है। इमसे पता चलता है कि स्कन्द-जन्म की मूलकथा इस समय तक विस्मृतप्राय हो चुकी थी[1]। सातवीं शताब्दी में ही राजा 'अनन्तवर्मा' का नागार्जुन पर्वत का गुफालेख है। इसमे शिव और पार्वती की प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका उस राजा ने इस स्थान पर प्रतिष्ठापन किया था[2]। उसी स्थान पर इसी राजा के एक दूसरे शिलालेख में देवी द्वारा महिषासुर के वध की कथा की ओर सकेत किया गया है, और देवी की कल्पना यहाँ उनके उग्र रूप में की गई है[3]। इस देवी को पार्वती से अभिन्न माना गया है। इसका कोई नाम यहाँ नहीं दिया गया, परन्तु राजा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने इन्हीं गुफाओ में कात्यायनी की एक मूर्त्ति का प्रतिष्ठापन किया था और एक गाँव भवानी को समर्पित किया था। सातवीं शताब्दी के ही महाराज 'प्रवरसेन' द्वितीय के दो लेख भी मिले हैं—एक 'छम्मक' का ताम्रपत्र और दूसरा 'सिवानी' का शिलालेख। इन दोनों मे 'भारशिव' नाम के एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुयायी शिवलिंग को सम्मान-पूर्वक अपने कन्धो पर लेकर चलते थे[4]। उस समय यह सम्प्रदाय काफी महत्त्व रखता होगा, क्योंकि उनके गुरु 'भावनाग' को 'महाराजा' की उपाधि दी गई है। उनका गगाजल से अभिषेक किया जाता था। स्मरण रहे कि त्रिपुरदाह की कथा के पौराणिक सस्करणों में से एक में वाणासुर को इसी प्रकार मस्तक पर शिव-लिंग उठाये अपने दुर्ग से वाहर निकलते हुए वताया गया है। अत. यह सम्भव है कि इस कथा मे एक वास्तविक प्रथा की ओर सकेत हो, और 'भारशिव' सम्प्रदाय का जन्म पौराणिक काल मे ही हो गया हो। आगे चल कर हम इस सम्प्रदाय को एक नये रूप में और नये नाम से अभिहित पायेंगे।

सातवीं शताब्दी के शिलालेखो से हमें यह भी पता चलता है कि अभी तक विभिन्न मतों म साधारण रूप से परस्पर सहिष्णुता का भाव था। पिछले अध्याय के आरम्भ में हमने देखा था कि गुप्तवश के राजा यद्यपि स्वय वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य मतों का सरक्षण करते थे और उनको यथोचित सहायता भी देते थे। इन मतो में शैवमत भी शामिल था। इनके उत्तरवर्ती राजाओ ने भी साधारणतया ऐसी ही सहिष्णुता दिखाई। इस समय के शिलालेखो मे भी प्राय जहां एक देवता की स्तुति की जाती है, वहाँ अन्य

१ C I I भाग ३ प्लेट २८, पृष्ठ २००।
२ ,, ,, ,, ३/ ,, २२३-२६।
३ ,, ,, ,, ३१ ,, २२३-२८।
४ ,, ,, ,, ३४ ,, २३५।

देवताओं का स्तवन तथा प्रशंसा हो जाती है। उदाहरण के लिए ५४५ ईस्वी के राजा 'हरिवर्मा' के 'साँगलोई' वाले ताम्रपत्रों में—यद्यपि दानकर्त्ता शैव है और शिव को ही सर्वश्रेष्ठ देवता मानकर उनकी स्तुति करता है, तथापि—उसने शिव, विष्णु और ब्रह्मा तीनों को प्रणाम किया है [१]। अनेक दूसरे शिलालेखों मे भी हम यही पाते हैं। इसी समय के दो अन्य शिलालेखों मे 'मातृकाओं' का उल्लेख किया गया है। इनकी जनसाधारण मे उपासना होती थी, यह हम 'मृच्छकटिक' नाटक मे पहले ही देख आये हैं। ये मातृकाएँ उनकी मातृकाओ से भिन्न हैं, जिनका पुराणों में उल्लेख हुआ है और जो उग्ररूपधारिणी तथा शिव अथवा पार्वती के उग्र रूपो में उनकी सहचरी हैं। यहाँ इन मातृकाओ को माताएँ माना गया है। जहाँ तक विदित होता है, इनका स्वभाव सौम्य और मगलकारी था तथा समृद्धि और सुख-प्राप्ति के लिए इनकी पूजा की जाती थी [२]। स्कन्दगुप्त के विहार-शिलालेख में इनका सम्बन्ध कार्तिकेय से किया गया है। इससे यह सम्भावना होती है कि यह मातृकाएँ शिशु स्कन्द को पाने और पालने वाली कृत्तिकाएँ ही तो नहीं हैं, जिनका स्कन्द-जन्म की कथाओ में उल्लेख हुआ है। परन्तु इस विषय मे निश्चयात्मक ढग से कुछ कहना कठिन है।

इन शिलालेखो से हमें तत्कालीन उपासना विधि के विषय में भी कुछ ज्ञान होता है। सभी मतों के अपने-अपने मन्दिर थे, जहाँ नियमित रूप से पुजारी रहते थे। प्रायः सभी शिलालेख ऐसे ही मन्दिरो को वनवाने, उनमे देवमूर्त्तियो के प्रतिष्ठापन कराने और इन मन्दिरो के खर्च तथा उनके पुजारियों के निर्वाह के लिए दिये गये दान की व्यवस्था कराने का उल्लेख करते हैं। यह मन्दिर तत्कालीन धार्मिक जीवन के केन्द्र वन गये थे और इन मन्दिरो के पुजारी विशेष त्योहारो पर जनता की पुरोहिताई भी करने लगे थे।

छठी और सातवी शताब्दी के शिलालेखो से जो कुछ हमे पता चलता है, तत्कालीन साहित्यिक सामग्री से उसकी पुष्टि होती है। इस सामग्री मे 'दण्डी' और 'वाणभट्ट' के गद्य-काव्य सवसे अधिक महत्त्व के हैं। दण्डी छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए थे और उनके 'दशकुमार-चरित' से उस समय की धार्मिक स्थिति का भली प्रकार पता चल जाता है। जहाँ तक शैव मत का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ में देश के विभिन्न भागों में अनेक शैव मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। उनमें जिस प्रकार पूजा आदि होती थी, वह विलकुल पौराणिक ढंग की थी। कुछ शैव मन्दिर तो वड़े प्रसिद्ध हो गये थे और दूर-दूर से लोग उनके दर्शनार्थ आते थे [३]। साम्प्रदायिक विद्वेष का कोई संकेत हमे इस ग्रंथ मे नहीं मिलता। केवल जैनो का, दण्डी ने कहीं-कहीं उपहासपूर्वक, उल्लेख किया है [४]।

महाकवि 'वाणभट्ट' के दो गद्यकाव्य हमें उपलब्ध हैं। एक 'हर्ष-चरित' और

---

१ हरिवर्मा के सांगलोई ताम्रपत्र E. I. १, १४, पृष्ठ १६६।

२ स्वामी भट्ट का देवगढ़ शिलालेख १, १८, पृष्ठ १२६।

३ उदाहरणार्थ काशी में 'अविमुक्तेश्वर' (उच्छ्वास ४) और श्रावस्ती में 'त्र्यम्बकेश्वर' (उच्छ्वास ५)

४ उदाहरणार्थ उच्छ्वास—२।

दूसरा 'कादम्वरी'। वाण स्वय शैव थे और इन दोनों ग्रन्थों के प्रारम्भिक श्लोकों मे उन्होंने भगवान् शिव को एकेश्वर माना है जो स्वय को त्रिमूर्ति के रूप में व्यक्त करते हैं[१]। कादम्वरी मे उन्होंने उज्जयिनी के विश्वविख्यात भगवान् महाकाल के मन्दिर का भी उल्लेख किया है, जिसका वर्णन कई शताव्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भी 'मेघदूत काव्य' में अपने अनुपम ललित ढग से किया था। स्वय महारानी विलासवती उस मन्दिर में पूजार्थ जाती थीं। इसके अतिरिक्त 'वाण भट्ट' शैव धर्म-सम्वन्धी सपूर्ण पौराणिक देव-कथाओं से पूर्णतया परिचित थे और अपने दोनों गद्यकाव्यों में उन्होने विविध शैव-कथाओं का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। इन उल्लेखों मे भी हमे कहीं किसी साम्प्रदायिक सघर्ष अथवा विद्वेष का कोई निश्चित सकेत नहीं मिलता। एक वात अवश्य है कि 'वाण' ने 'हर्ष-चरित' काव्य को उस स्थल से आगे नहीं लिखा, जहाँ सम्भवतः महाराज 'हर्षवर्द्धन' ने वौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। यह वात भी कोई निश्चित नहीं है, परन्तु यदि इसे ठीक माना जाय तो हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि शायद उस समय ब्राह्मण और वौद्ध धर्मों के परस्पर सम्वध अच्छे नहीं थे। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी सम्भव है कि वौद्ध धर्म के प्रति यह अरुचि केवल कवि की अपनी व्यक्तिगत हो और उस समय इन दो धर्मों के वीच साधारण रूप से जो सम्वन्ध थे, उनको प्रतिविम्वित न करती हो।

सातवीं शताव्दी के मध्य मे राजा हर्षवर्द्धन के राज्य-काल में चीनी यात्री ह्यून-साँग ने भी भारत का भ्रमण किया था। उन्होंने यहाँ के अपने अनुभव लिखते समय तत्कालीन धार्मिक अवस्था के विषय मे भी वहुत-कुछ कहा है। भगवान् शिव और उनके मन्दिरों का, जो सारे भारत में पाये जाते थे, उन्होंने प्रायः उल्लेख किया है[५]। वर्तमान कच्छ के समीप 'लागल' स्थान पर उन्होंने एक महान शैव मन्दिर का वर्णन किया है, जो प्रस्तर-मूर्त्तियों से खूव आभूषित था[६]। कुछ उद्धरणों से हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय तक शैव संप्रदायों का भी अस्तित्व हो गया था। इनको हम आगे चल कर देखेंगे। 'ह्यून-साग' के लेखों से हमे पहली वार ब्राह्मण और वौद्ध धर्मों के वीच सघर्ष का सकेत मिलता है, यद्यपि इस सघर्ष ने कोई उग्र रूप धारण नहीं किया था[७]।

अव हम आठवीं और नवीं शताव्दी के शिलालेखों को लेते हैं। इनमें भी शैवमत का रूप सारांशत पौराणिक ही है। जव कभी भगवान् शिव की स्तुति की जाती थी तव उनको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था और उनकी उपासना साधारण पौराणिक ढग से

१ कादम्वरी — प्रस्तावना श्लोक १-२।
२ हर्षचरित — ,, ,, १, २।
३ कादम्वरी — वम्वई संस्कृत सीरीज, पृष्ठ ५०।
४ ,, — ,, ,, ६१।
५ ह्यून-साग की यात्राएँ — वील का अग्रेजी अनुवाद [ट्रूवनर ओरिएण्टल सीरीज भाग २] पृष्ठ, ११८, २०२, भाग २ पृष्ठ ४४, ११६, १२७, २६२, २६३, २७३।
६ ,, ,, — भाग २, पृष्ठ २७७।
७ ,, ,, — भाग २, पृष्ठ २१८, २२०, २१।

की जाती थी[1]। अनेक नामो से उनकी मूर्तियो के प्रतिष्ठापन का उल्लेख किया गया है। नवीं शताब्दी की पहली 'वैजनाथ-प्रशस्ति' मे देवी की दुर्गा नाम से आराधना की गई है और उनके स्वरूप में उनके उग्र तथा सौम्य दोनो रूपो का पूर्ण सम्मिश्रण दिखाई देता है[2]। अन्य प्रशस्तियां में शिव की अष्टमूर्ति का उल्लेख किया गया है। विभिन्न मतो के परस्पर सम्वन्ध अभी तक साधारणतया अच्छे थे। ८६७ ई० के गुजरात-नरेश 'दन्तिवर्मा' के एक शिलालेख में भगवान् बुद्ध की स्तुति के वाद ही एक श्लोक में विष्णु और शिव की स्तुति की गई है। इसी प्रकार ८६१ ई० के 'कक्कराज सुवर्णवर्ष' के सूरतवाले ताम्रपत्रों मे पहले भगवान् 'जिन' की स्तुति की गई है, और वह समस्त लेख किसी जैन-धर्मावलम्वी का ही है। फिर भी इसी के दूसरे श्लोक में विष्णु और शिव से भी कल्याणार्थ प्रार्थना की गई है[3]।

ईसा की आठवी शताब्दी के एक शिलालेख मे हमें शैवधर्म में एक नये विकास का पता चलता है। या शायद इसे यो कहना चाहिए कि यहाँ हमें शैव-धर्म-सम्वन्धी एक ऐसी प्रथा का प्रथम परिचय मिलता है, जिसका उल्लेख इससे पहले हमें और कही नहीं मिलता, यद्यपि वह प्रथा सम्भवत पहले भी रही अवश्य होगी। यह है—शिवमन्दिरो मे दासियाँ अर्पित करने की प्रथा। तथाकथित तालेश्वर ताम्रपत्रो में[4], जिनका समय सम्भवत. सातवीं से नवीं शताब्दी तक का है, 'वोटाओ' का उल्लेख किया गया है। यह वह परिचारिकाएँ होती थीं, जिन्हे भगवान् शिव की सेवा करने के लिए मन्दिरो को अर्पित कर दिया जाता था। उनको क्या-क्या कार्य करना पडता था, यह स्पष्ट रूप से नहीं वताया गया है, परन्तु कुछ अन्य शिलालेखो में पुरुप 'दासों' का भी इसी प्रकार मन्दिरों को अर्पित किए जाने का उल्लेख हुआ है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि ये परिचर और परिचारिकाएँ सम्भवतः साधारण नौकर थे, जो मन्दिर में सफाई आदि का काम करते थे तथा जिनके वेतन, भोजन आदि का खर्चा दानकर्ता उठाता था। इनमें और देवदासियो में अन्तर था, जिनका देवता को समर्पण किये जाने का ढंग विल्कुल भिन्न था और जो दासियाँ नही, अपितु सभ्रान्त कुलों की पुत्रियाँ होती थीं।

दसवीं से तेरहवी शताब्दी तक के शिला-लेखों में शैवमत के साधारण स्वरूप में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। 'खजुराओ' शिलालेख नम्वर ५ मे, जिसका समय १००० ईस्वी है, भगवान् शिव को 'एकेश्वर' माना गया है और विष्णु 'वुद्ध' तथा 'जिन' को उन्हीं का अवतार कहा गया है[5]। इसी शिला-लेख मे शिव को 'वैद्यनाथ' की उपाधि भी दी गई है, जो उनके प्राचीन 'भिपक्' रूप की याद दिलाती है। सन् ११९२ ईस्वी के 'भुवनेश्वर' स्थान पर 'स्वप्नेश्वर' के शिलालेख में उन देवदासियों की चर्चा की गई है जो भुवनेश्वर के

---

१. उदाहरणार्थ लखमण्डल शिलालेख : E. I भाग १, पृष्ठ १२।

२. E. I. : भाग १, पृष्ठ १०४।

३. ,, ,, : भाग २१, पृष्ठ १४०।

४. ,, ,, : भाग १, पृष्ठ १४८।

५. ,, ,, : भाग १, पृष्ठ १४८।

शैव मन्दिर में नृत्य करती थीं [१]। इन लडकियों को स्वय महाराज ने मन्दिर को समर्पित किया था। उत्तर भारत में वहुत कम ऐसे अभिलेख हैं जिनमें देवदासी प्रथा का उल्लेख किया गया है और यह शिलालेख उनमें से एक है। इससे प्रमाणित होता है कि इस समय तक इस प्रथा का प्रचार उत्तर भारत में भी हो चला था, यद्यपि यह यहाँ वहुत नहीं फैल सकी।

वारहवीं शती के कुछ अभिलेखो में हमें प्रथम वार शैव और अन्य मतो, विशेषतः वौद्ध मत, के वीच सघर्ष का प्रमाण मिलता है। 'लखनपाल' के 'वुदाऊ' शिलालेख में वर्णशिव नाम के एक शैव-भक्त की चर्चा की गई है, जो दक्षिण में गया और वहाँ एक स्थान पर एक वौद्ध प्रतिमा को देख उसने क्रुद्ध हो, उसे हटा दिया [२]। 'जाजल्ल-देव' के 'मल्हार' शिलालेख में, जिसका समय ११५० ईस्वी है, इस सघर्ष की ओर और भी स्पष्ट रूप से सकेत किया गया है। जिस व्यक्ति की स्मृति में यह शिलालेख लिखा गया था, वह शैव था—जो चार्वाको के अभिमान के लिए अग्नि के समान, वौद्ध सिद्धान्त-सागर के लिए साक्षात् अगस्त्य ऋषि के समान और दिगम्वर जैनो के लिए काल समान था। इससे पता चलता है कि उस समय शैव मतावलम्वी इन तीनो मतो का सक्रिय विरोध कर रहे थे।

इस काल मे शिव की प्रतिमाएँ देश-भर मे प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। इनसे केवल यही सिद्ध नहीं होता कि इस काल में शैव मत का खूव प्रचार था, अपितु अन्य अभिलेखो से जो कुछ हमें पता चलता है, उसकी पुष्टि भी होती है। इसके अतिरिक्त इन प्रतिमाओं से हम यह भी जान सकते हैं कि कितने विविध रूपो में भगवान शिव की उपासना होती थी। पुराणकाल तक यद्यपि शिव की उपासना का एक सामान्य रूप निर्धारित हो गया था, फिर भी जिन रूपो में उनकी यह उपासना की जाती थी, वह अनेक थे। पुराणोत्तर काल मे शिव के यह विविध रूप वने ही नही रह, अपितु उनकी सख्या मे और भी वृद्धि हो गई। शिव के मुख्य रूपो मे से उनके अनेक गौण रूपो की भी उत्पत्ति हुई। भगवान् शिव के इस रूप वैविध्य का एक कारण यह भी था कि उनके यह अनेक रूप उनके कार्यानुकूल थे। अपना प्रत्येक कार्य करने के लिए भगवान् एक विशेप रूप धारण करते थे। शिव की विभिन्न प्रतिमाएँ उनके विविध रूपों के प्रतीक स्वरूप हैं और कलाकारो ने इनमें, पुराणो मे वर्णित शिव के काव्यमय अथवा लाक्षणिक कल्पित चित्र का यथार्थरूप से चित्रण करने का प्रयत्न किया है। भगवान् के सौम्य रूप को प्रदर्शित करनेवाली सर्व-प्रथम उनकी साधारण मानवाकार प्रतिमाएँ हैं, जिनमे उनको खडा हुआ अथवा वैठा हुआ दिखाया गया है। उनकी आकृति सुन्दर है और वह प्राय॰ चतुर्भुज होती है [३]। इन प्रतिमाओं के एक विशेप रूप को 'दक्षिणमूर्ति' कहा जाता है। इसमें भगवान् की कल्पना एक आचार्य तथा विद्या और कला के अधिष्ठातृ-देव के रूप मे की गई है, जिनका ध्यान

---

१ E I भाग ६, पृष्ठ २००।

२ ,, ,, १, ,, ६४।

३ यहाँ शिव-प्रतिमाओं का जो वर्णन किया गया है, वह प्रधानत श्री गणपति राव की पुस्तक 'हिन्दू आइकानोग्राफी', भाग २ पर आधारित है।

और ज्ञान जिज्ञासु करते हैं। इन प्रतिमाओं में भगवान् शिव की मूर्ति के चारों ओर पशुओं, सर्पों, यतियों अथवा देवी का चित्रण किया जाता है और पृष्ठभूमि में वन्य प्रदेश रहता है। शिव पार्वती के परिणय के प्रतीकस्वरूप भगवान् की 'कल्याण-सुन्दर' मूर्तियों में भी शिव की आकृति सुन्दर है। 'मूर्त्यष्टक' प्रतिमाओं में शिव की उन आठ मूर्तियों का चित्रण किया जाता है, जिनमें भगवान् स्वयं को व्यक्त करते हैं। 'महेशमूर्त्ति' प्रतिमाओं में भगवान् की कल्पना स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता के रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ भगवान के दार्शनिक स्वरूप का चित्रण भी करती थीं। इनको 'सदाशिव' अथवा 'महासदाशिव' मूर्तियाँ कहा जाता था और ये भगवान् के सर्वोत्तम 'सकल-निष्कल' रूप की प्रतीक थीं। इस प्रकार की एक मूर्ति 'एलीफेंटा' गुफा में है। कुछ अन्य मूर्तियाँ शिव की 'एकेश्वरता' को दर्शाती हैं और पत्थर अथवा धातु की बनी हुई हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओं में सबसे अधिक प्रख्यात 'त्रिमूर्ति' हैं, जिनमें ब्रह्मा और विष्णु को शिव के दोनों पक्षों से आविर्भूत होते हुए दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त शिव की 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमा का भी बहुत प्रचार हुआ प्रतीत होता है। इन 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमाओं का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इनमें से 'बादामी' के कन्दरा-मन्दिर की और 'कुम्भकोणम्' और 'कांजीवरम्' की मूर्तियाँ सबसे प्राचीन हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। काँसे की एक अर्धनारीश्वर मूर्ति में एक शुक को भी चित्रित किया गया है, जो संभवत: अग्नि है, जिसने शिव और पार्वती की रतिलीला को भंग करने के लिए यह रूप धारण किया था। 'अर्धनारीश्वर' की सबसे प्रख्यात मूर्ति एलिफेंटा की गुफा में है।

भगवान् शिव की 'त्रिमूर्ति' और 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमाओं के अतिरिक्त उनकी एक अन्य प्रकार की प्रतिमाएँ भी बनाई जाती थीं, जिनको 'हर्यर्धमूर्ति' कहते थे। इनमें प्रतिमा के एकार्द्ध में शिव और द्वितीयार्द्ध में विष्णु को चित्रित किया जाता था। स्पष्ट ही यह प्रतिमा इन दोनों देवताओं के तादात्म्य को प्रकट करती थी। इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। 'बादामी' के कन्दरा-मन्दिर में एक ऐसी ही 'हर्यर्द्ध' मूर्ति मिलती है—कुछ अन्य स्थानों में भी ऐसी ही मूर्तियाँ मिली हैं।

शिव के क्रूर रूप को लेकर भी विभिन्न प्रकार की प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। इन सबका एक सामान्य लक्षण यह है कि इनमें देवता को 'दंष्ट्रिन्' दिखाया गया है। वराह की तरह मुख में से बाहर निकलते हुए ये दंष्ट्र क्रूरता के रूढ़िगत प्रतीक बन गये थे। शिव के क्रूर रूप पर आधारित इन प्रतिमाओं में सबसे अधिक प्रचार उनकी 'भैरव' मूर्ति का था। इनमें भगवान् की आकृति भयावह, उनका शरीर दिगम्बर अथवा कृत्तिवासा और सर्पवेष्टित दिखाया जाता था। कहीं-कहीं एक काले रंग का कुत्ता भी उनके पास खड़ा हुआ चित्रित किया जाता था, जो प्राचीन वैदिक रुद्र के मृत्यु-देवता स्वरूप की याद दिलाता है। कुछ अन्य प्रतिमाओं में उनके 'त्रिपुरारि' रूप को भी चित्रित किया गया है, जिसमें उन्होंने दानवों के तीन पुरों का दहन किया था। शिव की कुछ प्रतिमाएँ 'वीरभद्र मूर्ति' कहलाती हैं, जिनका संकेत शिव-द्वारा दक्षयज्ञविध्वंस की ओर है। इन मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय स्वयं शिव को ही वीरभद्र माना जाता था—यद्यपि पुराणों में वर्णित

'वीरभद्र' वह था, जिसे भगवान् शिव ने दक्षयज्ञ को नष्ट करने के लिए उत्पन्न किया था। इसके अतिरिक्त 'अघोरमूर्तियों' मे शिव के 'कपाली' स्वरूप को चित्रित किया गया है। इन प्रतिमाओं मे शिव को नील-कंठ, कृष्णवर्ण और मुंडमाला धारी दिखाया गया है। अन्य मूर्तियों के समान यहाँ भी शिव 'दक्षिन्' तो हैं ही। इन 'अघोरमूर्तियों' की पूजा श्मशान भूमि में संभवतः कापालिकों द्वारा की जाती थी। 'महाकाल' मूर्तियों में शिव को फिर कृष्णवर्ण दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त इनमे वह सुरापान भी कर रहे हैं और पार्वती का आलिंगन भी कर रहे हैं। स्पष्ट ही इन मूर्तियों में उनके विलास-प्रिय स्वरूप का चित्रण किया गया है। परन्तु इन 'महाकाल' प्रतिमाओं की उपासना बिलकुल साधारण ढंग से होती थी, और हम देख ही चुके हैं कि उज्जयिनी का महाकाल मन्दिर की गणना भारत के सर्वप्रख्यात शैव मन्दिरों में होती थी।

शिव मे कालस्वरूप की एक विशेष प्रतिमा भी बनाई जाती थी, जिसमें उनको 'मल्लारि' कहा जाता था। इस रूप में उनके साथ कुत्तों का विशेष रूप से साहचर्य रहता था। प्रतिमाओं मे शिव को श्वेताश्वारोही दिखाया गया है और उनके साथ एक या अधिक कुत्ते भी रहते थे। इन प्रतिमाओं की उपासना संभवतः 'मल्लारि' सम्प्रदाय के लोग करते थे, जिनके सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध था कि वे कुत्तो की तरह रहते और व्यवहार करते थे।

शिव के उपर्युक्त स्वरूपों के अतिरिक्त उनके नटराज स्वरूप का चित्रण मूर्त्तिकारों को अतिप्रिय था और यह प्रतिमाएँ बहुत ही लोक-प्रिय हो गई। इस रूप में शिव का नाम ही 'नटराज' पड़ गया था और प्रतिमाओं में उन्हें 'ताण्डव' नृत्य करते हुए दिखाया गया है। वह जटाधारी, कृत्तिवासा और चतुर्भुज हैं और ललाट पर चन्द्र तथा सिर पर गंगा को धारण किये हुए हैं। कहीं-कहीं इस रूप में उनको 'गज' दानव का पैरों तले मर्दन करते हुए भी दिखाया गया है, जिसका वध करके उन्होंने ताण्डव नृत्य किया था तथा जिसकी कृति को उन्होंने अपना वस्त्र बना लिया था। ये नटराज मूर्तियाँ प्रस्तर और धातु दोनों की ही बनती थीं और देश के प्रत्येक भाग में पाई गई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत में शैव मत का रूप सारभाव से पौराणिक ही रहा और किसी समय भी शैव मत के इस रूप में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि पौराणिक ब्राह्मण धर्म का प्रभाव यहाँ सदा प्रबल रहा और उससे हटकर चलना किसी भी मत के लिए प्रायः असंभव था। इसके विपरीत दक्षिण में स्थिति सर्वथा भिन्न थी। प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत की एक अपनी विकसित सभ्यता थी। वैदिक और तदनन्तर ब्राह्मण-संस्कृति के केन्द्रों से यह प्रदेश बहुत दूर था तथा इसी कारण जिन धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य उत्तर भारत मे रहा, उनका प्रभाव यहाँ उतना अधिक नहीं पड़ा। आर्यसभ्यता यहाँ तक फैली तो जरूर, परन्तु बहुत धीरे-धीरे और यहाँ की पूर्ववर्ती सभ्यता के साथ बहुत-कुछ सम्मिश्रित होती हुई। यद्यपि यहाँ के लोगों ने आर्य-संस्कृति को अपना भी लिया, तथापि उन्होंने अपना इतना व्यक्तित्व जरूर रखा कि जिस संस्कृति को उन्होंने अपनाया, उसपर अपनी एक स्पष्ट छाप डाल दी और उसे अपने रंग

ाव से उत्तर और दक्षिण भारत का ब्राह्मण धर्म एक ही था—तथापि पुराणोत्तर काल
क्षिण भारत के धार्मिक विचार और आचार, कई महत्वपूर्ण अंशो मे, उत्तर भारत से
थे। यह भिन्नता पुराणोत्तरकालीन शैव मत के स्वरूप से भली प्रकार प्रकट हो जाती
इसका वाह्य स्वरूप तो वैसा ही रहा, जैसा उत्तर भारत में। परन्तु गुप्त-साम्राज्य
अवनति के बाद दक्षिण में कई शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ और इसके फल-स्वरूप
के जावन के प्रत्येक क्षेत्र मे एक वड़ी हलचल पैदा हुई। धार्मिक क्षेत्र में वह हलचल
अन्य क्षेत्र से कम न थी। देश में शैवमत का सर्वाधिक प्रचार था और भगवान्
की उपासना के लिए अनेकानेक मन्दिर वन रहे थे, जिनमें से कुछ तो वास्तव मे वडे
थे। छठी से तेरहवी शताब्दी तक दक्षिण भारत मे वास्तुकला के उत्तमोत्तम
रणो की सृष्टि हुई। इनमें मदुरा और एलोरा के महान मन्दिर ही नहीं, अपितु
क अपेक्षाकृत कम प्रख्यात मन्दिर भी सम्मिलित हैं, जो विशेप व्यक्तियों अथवा सस्थाओ
नवाये थे और उनका खर्चा चलाने के लिए दान भी दिया था। इन मन्दिरो मे भगवान्
की जो प्रतिमाएँ स्थापित की गई थीं, वे लिंगाकार अथवा मानवाकार दोनों प्रकार की
थीं और उत्तर भारत की प्रतिमाओं की तरह उनके रूपो मे भी वैसी ही विविधता है।

परन्तु दक्षिण भारत में शव मतावलम्बियों की धार्मिक भावनाएँ उत्तर भारत के शैवों
हुत भिन्न थीं। इसका कारण सम्भवतः तत्कालीन दाक्षिणात्यों की अत्यधिक भावुकता
कुछ स्वाभाविक अधीरता थी। इसी से इन लोगों की भक्ति उत्साहपूर्ण होती थी और
भी मतभेद के प्रति ये अपेक्षाकृत असहिष्णु होते थे। इसके फल-स्वरूप यहाँ धार्मिक
होना स्वाभाविक ही नहीं, अपितु एक तरह से अनिवार्य हो गया। छठी शताब्दी
और उसके वाद यही हुआ और दक्षिण भारत धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र वन गया।
ी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में यहाँ विभिन्न मतो का प्रचार हो गया था। पाँचवी
के अन्त तक तो किसी प्रमुख सघर्ष का कोई सकेत हमे नहीं मिलता। इस समय
दक्षिण में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभाव लगभग एक-सा हो गया था। यदि
ी एक धर्म का कुछ ज्यादा समय तक प्रावल्य रहा, तो वह जैन धर्म का था। अतः
समय से इन तीनों धर्मों में उत्कट संघर्ष चला और अन्त मे शैव मत की विजय हुई।
कारण पुराणोत्तर काल मे दक्षिण भारत मे शैवमत का जो सवसे प्रमुख लक्षण है, वह
का संघर्षात्मक स्वरूप और अन्य मतो के प्रति उसकी असहिष्णुता है। उत्तर भारत में
मनोवृत्ति केवल कट्टरपथी शैवो की थी, दक्षिण में वही मनोवृत्ति सामान्य हो गई और
मत ने वौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध एक विकट सग्राम छेड दिया। इस सग्राम का
त तभी हुआ जव दक्षिण में इन दोनो धर्मों का पूर्ण रूप से ह्रास हो गया। उस
य के समस्त शैव साहित्य पर इस संघर्ष का प्रभाव पड़ा है।

सातवीं शती मे दो प्रसिद्ध शैव सत हुए हैं—'सम्बन्दर' और 'अप्पर'[1]। इनके

---

१. इन दोनों सन्तों के जीवन और कृत्यों का वृत्तान्त मुख्यत श्री सी० वी० एन० अय्यर की अंग्रेजी पुस्तक 'ओरिजिन एंड अरली हिस्टरी ऑफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया' पर आधारित है।

जीवन-वृत्तो से ज्ञात होता है कि छठी शती मे दक्षिण में जैन धर्म का प्राबल्य था। जैनो के उद्धत व्यवहार और उनका असहिष्णुता के फलस्वरूप उनमें और शैवो में तीव्र सघर्ष चला। ये दो सत उन लोगो में से थे, जिन्होने तर्क और स्वय अपने आचार तथा कार्यो से जैनियो के दावो को छिन्न-भिन्न कर शैव मत की साख बढाई। सन्त 'सम्बन्दर' तो विशेष रूप में जैनो को पराजित करने के काम मे ही जी-जान से लग गये। उन्होने अपने प्रत्येक 'पदिगम' मे जैनो की निन्दा की है। एक 'पदिगम' में उन्होने भगवान् शिव को वह सैनिक कहा है, जिसने जैनो को हराया। एक किंवदन्ती भी प्रचलित है कि एक बार जब 'सम्बन्दर' मदुरा मे थे, जो उस समय जैन धर्म का एक बड़ा भारी केन्द्र था, तब कुछ जैन विद्वेषियो ने उनकी कुटिया मे आग लगा दी। परन्तु जैसे ही 'सम्बन्दर' ने शिव की स्तुति में एक 'पदिगम' कहा, वैसे ही यह आग तुरन्त बुझ गई। इसी प्रकार के अन्य चमत्कारो की भी चर्चा उन्होने अपने 'पदिगमो' मे की हैं, जिससे जैनो को मुँह की खानी पडी। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इस सत ने शैवो और जैनो के सघर्ष में सक्रिय भाग लिया तथा जैनो को परास्त करने में उनको पर्याप्त सफलता मिली। सन्त 'अप्पर' प्रारम्भ में जैन थे, परन्तु बाद में शैव हो गये। यह बात स्वत शैवमत की बढती हुई साख का प्रमाण है। 'अप्पर' भी 'सम्बन्दर' के समकालीन थे। अपने एक पद्य में उन्होने अपने धर्म परिवर्तन की ओर सकेत किया है और जैन-सिद्धान्तो को पापोन्मुख बताकर उनकी निन्दा की है। 'सम्बन्दर' तो मुख्यत भक्त ही थे, परन्तु 'अप्पर' सत होने के साथ-साथ एक बडे विद्वान् और कवि भी थे। इन दोनो सन्तो का दक्षिण भारत मे जैन-धर्म को पराजित करने में बडा हाथ था।

इन दोनो सन्तो के कुछ समय बाद 'मणिकवासगर' हुए, जिन्होने 'तिरुवासगम्' की रचना की। जो कार्य 'अप्पर' और 'सम्बन्दर' ने जैनो के विरुद्ध किया, वही 'मणिकवासगर' ने बौद्धो के विरुद्ध किया। इनकी रचना में जैनो की, शैवो के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियो के रूप मे, कोई चर्चा नही है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'अप्पर' और 'सम्बन्दर' जैसे लोगो के प्रयत्न सफल रहे, और जैनो के पैर उखड़ गये थे। इसके विपरीत 'चिदम्बरम्' में 'मणिकवासगर' और बौद्धो के बीच शास्त्रार्थ की एक परम्परागत कथा चली आती है, जिसमे 'मणिकवासगर' की भारी विजय की ख्याति से दिशाएँ गूँज उठी थीं[१]। इस शास्त्रार्थ का आयोजन स्वय राजा ने किया था, और इसमें सिंहल द्वीप के सबसे बडे बौद्ध विद्वान् को अपने धर्म की रक्षा के लिए बुलाया गया था। यदि इस कथा मे कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य है, तब 'मणिकवासगर' की यह विजय बडी निश्चयात्मक सिद्ध हुई होगी और इससे बौद्ध धर्म को बडा भारी धक्का पहुँचा होगा।

इन प्रख्यात सन्तो के अतिरिक्त उस समय मे अनेक ऐसे लोग अवश्य हुए होंगे, जिन्होने इसी प्रकार अपने धर्म के प्रचारार्थ शास्त्रार्थ आदि मे सफल होकर और अन्य साधनो से तथा अपने आचार से शैव मत की कीर्ति को बढाया होगा। इनमे से कुछ का जीवन-वृत्त एक ग्रन्थ मे दिया गया है, जो 'पेरिय पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। इन लोगों की एक विशेष उपाधि थी—'नयनार'। इनमे से एक नयनार 'निरशिव नेदुमर' के

---

१ 'तिरुवासगम' जी० यू० पोप का सस्करण, भूमिका, पृष्ठ ६७।

जीवन-वृत्त में कहा गया है कि उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक महान् चमत्कार दिखाकर शैव धर्म की उत्कृष्टता का प्रमाण दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जन-साधारण का ऐसे चमत्कारो पर बड़ा विश्वास था और उन्हीं को वे किसी भी मत की उत्कृष्टता अथवा हीनता की कसौटी मानते थे। एक अन्य नयनार 'मगर्करसिय्यर' के जीवन-वृत्त मे जैनो की उद्दण्डता की चर्चा का गई है। 'उनको देखते ही, आगमो और मन्त्रो पर श्रद्धा रखनेवाले साधारण भद्र लोग डर से अलग हट जाते थे।' दूसरी ओर कुछ और नयनारो के जावनवृत्तो से कुछ अत्युत्साही और कट्टरपथी शैवो की उद्दण्डता और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता भी झलकती है। 'एरिपण्ड नयनार' ने एक हाथी और उनके पाँच रखवालो का केवल इस कारण वध कर दिया था कि संयोगवश उस हाथी ने फूलो की एक टोकरी को जो किसी शैव-मन्दिर मे अर्चनार्थ जानेवाली थी, उलट दिया था। 'कालार्चिग नयनार' ने एक रानी की नाक इस लिए काट ली थी कि उसने शिव के पूजार्थ रखे हुए पुष्पो को सूँघ लिया था। इन दो उदाहरणों से हमे कट्टरपथी शैवों की मनोवृत्ति का ज्ञान होता है, जो बौद्ध और जैनों के प्रति और भी उग्र रूप से असहिष्णु रहे होगे।

अब यह देखना है कि दक्षिण भारत मे शैवो का वैष्णवो के प्रति क्या रवैया था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे इन दोनो के सम्बन्ध अच्छे थे, जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख आये हैं। धार्मिक सहिष्णुता की जो भावना उस समय सर्वत्र पाई जाती थी, वह वैष्णवो में भी उसी मात्रा मे थी, जितनी अन्य मतावलम्बियों मे। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी मे सन्त तिरुमूलर ने शैवागमो का संस्कृत से तामिल मे अनुवाद किया था। उस समय में शैव और वैष्णव मतो में परस्पर सद्‌भावना थी, और सारभात्र से विष्णु और शिव की एकता को माना जाता था। दक्षिण भारत मे वैष्णव 'आलवर' कहलाते थे और एक वैष्णव भक्त 'पेयालवर' ने तिरुपति मे भगवान् शिव का वर्णन इस प्रकार किया है—"उनकी खुली जटाएँ और उन्नत मुकुट, उनका चमकता हुआ परशु और देदीप्यमान चक्र, उनके शरीर को आवेष्टित करते हुए सर्प और सुवर्ण मेखला, सचमुच पुनीत हैं। इस प्रकार जल से छलकती हुई नदियो से घिरे हुए भगवान् गिरीश ने दोनो रूपो को अपने मे सयुक्त कर लिया है [1]।" परन्तु तिरुमूलर के ही समय मे शैवो और वैष्णवो की परस्पर स्पर्द्धा के प्रथम सकेत भी हमे मिलते हैं। कहते हैं कि स्वय तिरुमूलर ने सम्भवत. वैष्णवों को लक्ष्य करते हुए यह कहा था—'यदि लघु वृत्ति के लोग ईश का अनादर करते हैं और कहते हैं कि उनको देवलोक से निर्वासित कर दिया गया है, तो उनकी दशा उस तोते जैसी होगी जिसे बिल्ली ने पकड रखा हो [1]। यह कथन हमे तुरन्त शिव के विरुद्ध उन आक्षेपों का स्मरण कराता है जिनकी चर्चा पुराणो मे की गई है। हो सकता है कि उस समय दक्षिण भारत में कुछ वैष्णव ऐसे भी थे, जो शिव और उनकी उपासना की निन्दा करते थे। इसकी पुष्टि तत्कालीन वैष्णव सन्तो के चरित्रो से भी होती है। उनसे हमें पता चलता

---

१ सी० वी० एन० अय्यर - 'ओरिजिन एंड अरली हिस्टरी ऑफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया' पृष्ठ २१४।

है कि वैष्णव आलवरो मे से कुछ ऐसे भी थे, जिनमें साम्प्रदायिकता का आवेश अधिक था और जो खुले शैव मत का विरोध करते थे। ऐसा ही एक वैष्णव सत 'तिरुमलिराई आलवर' था जिसके सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि वह शैवो को सर्वथा विवेकहीन मानता था। अन्य आलवरो की भी इसी प्रकार की कई उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यद्यपि किसी समय भी शैवो और वैष्णवो मे वह कटुता नहीं आई जो शैव, बौद्ध अथवा जैन धर्मो के बीच पाई जाती थी, तथापि जैसे-जैसे समय बीतता गया, इनमें प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती ही गई और ब्राह्मणोत्तर मतो का पराजय के बाद जब दक्षिण भारत में केवल ये ही दो प्रधान मत रह गये, तब यह प्रतिस्पर्द्धा तो और भी उत्कट हो गई।

इन साहित्यिक प्रमाणो के बाद यह आश्चर्य की बात है कि दक्षिण भारत में पौराणिक और पुराणोत्तर काल के शिलालेखो में काफी समय तक इस धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का कोई सकेत नही मिलता। छठी शताब्दी की बन-नृपति मल्लदेव नन्दिवर्मा के 'मुदायन्नुर' ताम्रपत्रो मे शिव और विष्णु का साथ-साथ स्तवन किया गया है और इन दोनो के उपासको मे परस्पर विरोध की कोई चर्चा ही नहीं है। सन् ७७७ ईस्वी की राजा पृथ्वी कोग महाराजा के 'नागमगल्वर' ताम्रपत्रो मे प्रारम्भ में विष्णु की आराधना की गई है, तदनन्दर एक शैव-भक्त विष्णुगोप की सम्मानपूर्वक चर्चा की गई है। ये ताम्रपत्र स्वय एक जैन मन्दिर के सहायतार्थ दान देने के सम्बन्ध मे लिखे गये थे। ग्यारहवीं शती के सोमेश्वर देव प्रथम के बालगैन्वे शिलालेख में भी प्रारम्भ में भगवान् 'जिन' की स्तुति की गई है और फिर विष्णु की। शिलालेख की अन्तिम पक्तियाँ इस प्रकार है—"महाराज की इच्छा से प्रभु नागवर्मा ने एक मन्दिर भगवान् 'जिन' का, एक भगवान् विष्णु का, एक भगवान् ईश्वर का और एक मन्दिर बानवसे देश के सन्तो का बनवाया [1]।" अत ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जो धार्मिक और साम्प्रदायिक सघर्ष चल रहा था, वह सर्वव्यापी नहीं था, अपितु बहुधा धर्मशास्त्रियो तक ही सीमित था। साधारण रूप से नृपतिगण और अन्य व्यक्ति इस सघर्ष से अलग रहे, और पुरानी सहिष्णुता की भावना को अपनाये रहे। ग्यारहवीं शती के अन्त मे तथा बारहवीं शती के शिला-लेखो मे हमें पहली बार धार्मिक सघर्ष के कुछ सकेत मिलते हैं। इस समय 'अकलक' नाम के एक विद्वान् सन्त ने पराजित जैन मतावलम्बियो की आशाओ को कुछ समय के लिए फिर जगा दिया और इनका अब बौद्धो से, तथा शैवो का इन दोनो से तीव्र सघर्ष चल पड़ा। सन् ११२८ ईस्वी के श्रावण बेलगोल शिलालेख [2] मे सन्त अकलक के प्रति बौद्धों के द्वेष की ओर सकेत किया गया है। इसी शिलालेख के एक अन्य भाग में कहा गया है कि जैन सन्त विमलचन्द्र ने शैवों, पशुपतो, कापालिको, कापिलो (सम्भवत साख्यवादी) और बौद्धो को परास्त किया था। इस विमलचन्द्र का उल्लेख सन् ११८३ ईसवी के अन्य जैन शिलालेख [3] मे भी हुआ है, और यहा भी उसके शैवो तथा अन्य सम्प्रदायो को परास्त करने की चर्चा की गई है।

१ I A भाग ६, पृष्ठ १७३।

२ एपिग्राफिका कर्णाटिका भाग २, न० ५४।

३ ,, भाग ३, न० १०५।

'पेरिय पुराण' से हमे शैवमत के कुछ नये लक्षणो का भी पता चलता है, जिनका
ाव अब हो रहा था, और जिनका अस्तित्व उत्तर भारत मे कहीं नहीं था। सम्भवत.
विड़ जाति की अपेक्षाकृत अधिक भावुकता और तज्जन्य धार्मिक उत्साह का ही फल
कि उन्होंने भक्तिवाद के सिद्धान्त से यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला कि सच्चे भक्तो मे
और लिंग का कोई भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि सबसे सच्चे भक्त भगवान् की
में समान होते हैं। अतः कुछ अधिक उत्साही शैवो ने वर्ण और लिंग के भेद को तोड
और सब सच्चे शैवो की सपूर्ण समता का प्रचार किया। एक निकृष्ट वर्ण के व्यक्ति
ी, यदि वह सच्चा भक्त था, उसी सम्मान का अधिकार था जो एक उच्च वर्ण के भक्त
द्या जाता था। 'पेरिय पुराण' में स्वय नयनारो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि इनमे
ब्राह्मण थे, कुछ वैल्लाल और कुछ तो आदिवासी जातियों के थे। एक आदि शैव
ण 'सुन्दर मूर्ति' ने निम्नवर्ण के नयनार 'सेरमन पेरुमल' के साथ भोजन करने मे कोई
च नहीं किया था। एक और उच्चवर्ण के नयनार सुन्दर ने एक नर्तकी से विवाह किया
व्याध जाति के कन्नपा और नन्द को, जो सच्चे शिवभक्त थे, उतना ही सम्मान प्राप्त
और उनको उतना ही पुनीत माना जाता था, जितना श्रेष्ठ कुल के ब्राह्मणो को। इसके
रिक्त इसी पुराण में ब्राह्मण शैव भक्त 'नाभिनन्द अफिगल' की कथा भी आती है, जिसको
वर्णों के स्पर्श से दूषित होने का सकोच हुआ और इसीलिए भगवान ने स्वयं उसकी
ना की तब उसे स्वप्न में भगवान् ने दर्शन दिये और कहा कि जिन लोगो का जन्म
वारुर' मे हुआ है, वे सब के सब शिव के गण हैं।

परन्तु वर्णभेद की परम्परा ने हिन्दू-समाज में बड़ी गहरा जड़ पकड़ ली थी, और कुछ
द्वारा इस प्रकार उसकी उपेक्षा किये जाने से समाज की एक पुरानी और सुदृढ व्यवस्था
आघात पहुँचता था। अत. यह कोई अचरज की बात नहीं कि शैवो मे जो पुराने विचारों
ये और जो परम्परागत रीति-रिवाजो का आदर करते थे, उन्होंने इस नये आचार का कड़ा
ध किया हो। जो शैवों के प्रतिद्वन्द्वी थे, उन्हें इन शैवो को विधर्मी कह कर शैवमत पर
क्षेप करने का एक सुन्दर अवसर मिल गया। शायद यही कारण था कि पहले-पहल
आगमो को देश के सम्मानित धार्मिक साहित्य मे स्थान नहीं दिया गया। केवल बाद मे
शैव मत दक्षिणभारत का प्रधान धर्म बन गया, और जब उसने अपने ब्राह्मण-धर्म-विरोधी
द्धान्तो और प्रथाओ का त्याग कर दिया, तभी शैव आगमो को मान्यता प्राप्त हुई।

शैवमत मे भक्ति पर जो जोर दिया जाता था, उसका असर अन्य दिशाओ मे भी
ा। जिन कृत्यो को साधारणतया जघन्य समझा जाता था, वही कृत्य यदि कोई भक्त अपने
र्मिक उत्साह में करे तो उनको क्षम्य ही नहीं, अपितु स्तुत्य भी माना जाने लगा। जैसा
'श्री अय्यर' ने अपनी पुस्तक मे कहा है—"शैव उपासको की भक्ति और श्रद्धा ऐसी
कि यदि कोई अपने-आपको एक बार शैव कह देता था तो फिर वह चाहे कितने ही
त्सित कर्म क्यो न करे, उनको कोई आपत्ति नहीं होती थी।" भक्ति द्वारा मनुष्य की परिशुद्धि
उनका इतना दृढ विश्वास था कि वह एक पापी भक्त को एक सदाचारी अभक्त से अच्छा
झते थे। इस प्रकार भक्तिवाद पर आधारित अन्य मतो के समान शैव धर्म ने भी ऐसे

आचार-विहीन व्यक्तियो के लिए एक बडा द्वार खोल दिया जो अपने कुत्सित स्वार्थ के लिए धर्म की आड मे कुकृत्य करते थे। इसके उदाहरण स्वरूप 'अय्यर पगई' की कथा हमारे सामने है, जो एक पाषण्डी शैव योगी को अपनी पत्नी तक को अर्पण करने को तैयार हो गया था। इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी अनेक दुष्ट पुरुष शैव तपस्वियों[1] का वेश बनाये इधर-उधर फिरते थे और उन भोले-भाले लोगों की श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाते थे, जो उन्हें सच्चा भक्त समझते थे। उत्तर भारत में भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं और वहाँ भी धर्म का इसी प्रकार दुरुपयोग किया जाता था और भारत में ही क्यों, सारे संसार मे इसी प्रकार पापण्डियों ने धर्म की आड में अनाचार फैलाया है।

'पेरिय-पुराण' में 'मुनियराय' नयनार की कथा से हमे ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत मे कुछ शैव दिगम्बर भी रहते थे। पुराणों मे हमने देखा था कि अपने कुछ रूपों मे भगवान् शिव को दिगम्बर माना गया है, और उनके इसी रूप के अनुकूल कापालिक लोग भी दिगम्बर रहते थे। परन्तु दक्षिण भारत में स्थिति कुछ-कुछ 'ब्रह्माण्ड पुराण' वाली हो गई और दिगम्बरत्व को इन्द्रिय सयमन की कसौटी तथा चिह्न माना जाने लगा। अत' जिस व्यक्ति ने इस प्रकार का इन्द्रिय सयमन प्राप्त कर लिया था, उसके लिए दिगम्बर रहना उपयुक्त ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण मे शैव धर्म का जैन धर्म के साथ कडा विरोध होने पर भी शैवो पर दिगम्बर जैनियो के सिद्धान्तों का प्रभाव पडा था। कुछ भी हो 'पेरिय-पुराण' के समय तक, और सम्भवत इससे बहुत पहले भी दक्षिण मे दिगम्बर शैवों का अस्तित्व था। 'पेरिय पुराण' मे जिस प्रकार उनका उल्लेख किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे इन शैवो का आदर नहीं होता था, और उनको सनकी समझा जाता था। परन्तु बाद म उनको मान्यता प्राप्त हो गई और उनमे से ही एक सदाशिव नाम का ब्राह्मण दक्षिण का एक प्रख्यात सत हुआ है। धीरे-धीरे यह दिगम्बर शैव फैलते गये और कालान्तर मे ये उत्तर भारत तक भी पहुँच गये।

इसी समय मे शैवमत के अन्दर विभिन्न उपसम्प्रदायों की भी उत्पत्ति हुई जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, शैवमत के सगठित रूप से व्यवस्थापित हो जाने के उपरान्त ही इस प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाना स्वाभाविक और अवश्यभावी था। शैव उपसम्प्रदायों का सब से पहला उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य मे हुआ है, जहाँ 'शिव भागवतों' का एक बार उल्लेख किया गया है। इन शिव भागवतो का एक विशेष लक्षण यह था कि ये अपने देवता के प्रतीक स्वरूप एक माला लेकर चलते थे। अत ये शिव भागवत शैव मत का सब प्राचीन सम्प्रदाय हैं। परन्तु इस सम्प्रदाय का शीघ्र ही लोप हो गया जान पडता है, क्योंकि शिवभागवतों का फिर कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

महाभारत के अपरकालीन शान्तिपर्व मे पाशुपत शैवो का उल्लेख किया गया है[2], जिसको तत्कालीन धर्म पचाग मे से एक माना गया है। इस सम्प्रदाय के विषय में कुछ

---

१ देखो अध्याय ४ पृष्ठ।

२ महा० (बम्बई सस्करण) शान्ति० ३५६ ६४।

अधिक नहीं कहा गया है, इसके सिवा कि इसके सिद्धान्तों को स्वयं भगवान् शिव ने प्रकट किया था। शान्तिपर्व के ही एक अन्य भाग में 'शिवसहस्रनाम' प्रसंग में कहा गया है कि स्वयं भगवान् शिव ने पाशुपत सिद्धान्त को प्रकट किया था, जो कुछ अंशों में वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल और कुछ अंशों में उसके प्रतिकूल था [1]। हम ऊपर देख आये हैं कि दक्षिण भारत में कुछ शैवों ने इस वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था को तोड़ दिया था। सम्भव है कि पाशुपतों ने ही पहले पहल ऐसा किया हो। इसीसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पाशुपत शैव साधारण शैवों से भिन्न थे, क्योंकि जैसा कि स्वयं महाभारत से स्पष्ट है, इन साधारण शैवों के आचार-विचार ब्राह्मण वर्णाश्रम-धर्म के सर्वथा अनुकूल थे। पाशुपत शैवों का प्रादुर्भाव सम्भवतः लगभग उसी समय हुआ जब वैष्णवों के पंचरात्र-सम्प्रदाय का, क्योंकि उपर्युक्त संदर्भ में इन दोनों का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। महाभारत में इस सम्प्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ नहीं कहा गया, परन्तु बाद में पुराण-ग्रन्थों में यह चर्चा आई है कि एक 'लकुलिन' अथवा 'नकुलिन' ने लोगों को 'माहेश्वर' अथवा 'पाशुपत' योग सिखाया था। इस 'लकुनिक्' को भगवान् शिव का अवतार और कृष्ण का समकालीन माना जाता था [2]। 'लकुलिन' की ऐतिहासिकता पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है, यद्यपि उसके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थ में उसको पाशुपत-सम्प्रदाय का संस्थापक माना गया है और सन् ९७१ ईस्वी के नागराज मन्दिर के शिलालेख से तथा अन्य कई शिलालेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त हम ऊपर देख आये हैं कि 'कपाली' रूप में शिव का रक्त और नर-बलि से पूजा की जाती थी। महाभारत में इस 'कापालिक' वृत्ति का उल्लेख हो चुका है, परन्तु महाभारत के उल्लेखों से हम निश्चय पूर्वक यह नहीं कह सकते कि शिव को इस रूप में पूजनेवालों का कोई संगठित सम्प्रदाय बन गया था या नहीं। अतः महाभारत के समय में हमें शैवों में केवल एक उपसम्प्रदाय अर्थात् 'पाशुपतों' का ही निश्चित रूप से पता चलता है।

इसके बाद दूसरी शताब्दी ईस्वी में एक सिक्के के लेख में कुशान नृपति 'वेम कडफाईजिज' ने अपने-आपको 'माहेश्वर' कहा है। यह 'पाशुपत' सम्प्रदाय का ही एक दूसरा नाम है। अतः सिद्ध होता है कि यह सम्प्रदाय उस समय भी विद्यमान था और सम्भवतः इसको राजसंरक्षण भी प्राप्त था। अन्य शैव सम्प्रदायों का पूर्व पौराणिक काल में कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः हम अब पुराण-ग्रन्थों को लेते हैं, जिनमें प्रथम बार निश्चित रूप से शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। वायु और लिंग-पुराणों में पाशुपतों के उल्लेख की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं। कापालिकों का भी पौराणिक काल तक एक संगठित सम्प्रदाय बन गया था और जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख आये हैं, इनको उस समय विधर्मी माना जाता था। साधारण रूप से शिव के उपासकों को शैव कहा जाता था, और इन्हीं के धार्मिक आचार-विचारों का पुराण ग्रन्थों में मुख्य रूप

१ महा० : (कलकत्ता संस्करण) शान्ति० २८५, १२४।
२. वायु० : २३, २१७-२१, लिंग० भाग २, २४, १२४-३२।

से वर्णन किया गया है। किसी अन्य शैव सम्प्रदाय का पुराणो में कोई निश्चित उल्लेख नही मिलता।

पुराणोत्तर काल में हमे अनेक शैव सम्प्रदायो के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। शिव-लिंग को अपने मस्तक पर धारण करने वाले 'भारशिवों' की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं। इनका उल्लेख दो शिलालेखो मे भी हुआ है। सातवीं शती ईस्वी में चीनी यात्री 'ह्यूनसांग' ने भारत की यात्रा की थी और अनेक स्थलो पर उसने नाम लेकर पाशुपत-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[1]। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की काफी सख्या मालूम होती है। ह्यूनसांग के कथनानुसार इनमें से कुछ तो भगवान् शिव की मन्दिरो में उपासना करते थे (यह सभवत साधारण पाशुपत थे), कुछ मन्दिरो में निवास करते थे अथवा भ्रमण करते रहते थे। ये सम्भवतः पाशुपत सयासी थे। पाशुपतो का मुख्य लक्षण यह था कि वे अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे, और ह्यूनसांग ने तो इनका नाम ही 'भस्मधारी' रख दिया था। अन्य शैवो मे ह्यूनसांग ने 'जटाधारी' तथा शैवो की भी चर्चा की है जो वस्त्रहीन अवस्था में फिरा करते थे[2]। ये दिगम्बर शैव सभवत. वे ही थे, जिनकी दक्षिण भारत के अभिलेखो में चर्चा हम ऊपर देख आये हैं। काशी मे 'ह्यूनसांग' ने ऐसे शैवो को देखा जो अपने बाल मुंडा देते थे। ये सभवत. वे शैव सन्यासी थे जो 'मुंडी' कहलाते थे[3]। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुराणो मे भी कभी-कभी शिव को 'मुंडी' कहा गया है। परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन शैव सन्यासियो का कोई सगठित सम्प्रदाय था या नही। कापालिका का भी 'ह्यूनसांग' ने दो स्थलो पर उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि कापिशा मे उन्होने कुछ ऐसे शैवो को देखा 'जो अपने सिरो पर अस्थियो की मालाएँ मुकुट के रूप मे पहनते हैं'[4]। एक अन्य स्थल पर उन्होने कुछ और शैवा का उल्लेख किया है जो गले मे मुंडमालाएँ आभूषण के रूप मे पहनते हैं[5]। वे विशेष रूप से यह नहीं कहते कि ये लोग शिव के उपासक थे, परन्तु ये दोनो उल्लेख स्पष्ट ही कापालिको की ओर सकेत करते हैं। 'ह्यूनसांग' ने इनको 'भस्मधारी' शैवा से अलग माना है। इससे भी प्रकट होता है कि इनका एक अलग सम्प्रदाय था। इनके विषय में 'ह्यूनसांग' ने कुछ और नहीं कहा, परन्तु इसी शताब्दी के एक दान-पत्र मे, जो पुलकेशी द्वितीय के भतीजे नागवर्धन ने लिखवाया था, इस बात की चर्चा आई है कि इस समय तक इन कापालिको को कुछ-कुछ मान्यता प्राप्त होने लगी थी, और उनके अपने मन्दिर होते थे। इस दान पत्र में एक ऐसे ही मन्दिर का खर्चा चलाने के लिए एक गाँव के दान की व्यवस्था की गई है। इस मन्दिर मे कपालेश्वर के नाम से भगवान् शिव की मूर्ति की स्थापना की गई थी, और यहा कुछ सन्यासी भक्त भी रहते थे जिन्हे 'महाव्रती' कहा गया है, और जो 'कापालिको' का ही एक

---

१. ह्यूनसांग भाग २, पृष्ठ २७६, २७७, २७९, २८०-२८७ इत्यादि।
२. ,, भाग २, पृष्ठ ४५।
३. ,, ,, २ ,, ४५।
४. ,, ,, १ ,, ५५।
५. ,, ,, १ ,, ७६।

सौम्यनामान्तर था। इनकी जीविका की व्यवस्था भी उसी दानपत्र में की गई है। कपालेश्वर के एक और मन्दिर की चर्चा महासामन्त महाराज सुन्दरसेन के निर्माण्ड ताम्रपत्र में भी की गई है, जिसका समय भी सातवीं शताब्दी ईस्वी ही है[1]।

सातवीं शताब्दी ईस्वी में शैव सम्प्रदायों की स्थिति पर बाणभट्ट के 'कादम्बरी' नामक गद्यकाव्य भी कुछ प्रकाश डालता है। इस काव्य में पाशुपत-शैवों का उल्लेख किया गया है जो अमात्य शुकनास से मिलने आये थे और रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये हुए थे। यह रक्ताम्बरधारी शैव सम्भवतः पाशुपतों का ही एक उप-सम्प्रदाय थे और यह जरा अचरज की बात है कि ह्यू न-सांग ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया। कादम्बरी से ही हमें यह भी ज्ञात होता है कि साधारण शैव किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं होते थे, और उनके आचार-विचार सर्वथा पौराणिक सिद्धान्तों और आदेशों के अनुकूल होते थे। उज्जयिनी की सम्राज्ञी विलासवती एक इसी प्रकार की शैवभक्त थी, और स्वयं कविवर बाणभट्ट भी ऐसे ही शैव थे।

आठवीं शताब्दी ईस्वी में कवि भवभूति ने अपने 'मालती माधव' नाम के रूपक में तत्कालीन कापालिक सम्प्रदाय का बड़ा अच्छा चित्रण किया है[2]। जिन मन्दिरों में ये लोग उपासना करते थे वे श्मशान-भूमि में होते थे। इनमें नर-बलि देने की प्रथा अभी तक प्रचलित थी, और इसी कारण इनको गर्हित समझा जाता था, और जनसाधारण इनसे दूर ही रहते थे। परन्तु स्वयं वे लोकोत्तर शक्तियाँ रखने का दावा करते थे, जिन्हें उन्होंने अपने प्रयोगों से प्राप्त किये थे। तत्कालीन कापालिक सम्प्रदाय का एक नया लक्षण यह था कि अब उसमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हो सकती थीं और पुरुषों के समान ही वे भी अपने सम्प्रदाय की विशेष वेशभूषा धारण करती थीं। कापालिकों ने वर्ण-भेद को मिटा दिया था। यह एक बड़ी रोचक और शिक्षा-प्रद बात है कि भारत में सनातन ब्राह्मण-धर्म के क्षेत्र के बाहर जिस किसी मत का भी प्रादुर्भाव हुआ, उस ने अनिवार्य रूप से वर्णभेद को और बहुधा पुरुष-स्त्री के भेद को मिटाने की चेष्टा की है और इस प्रयास में वह हमेशा असफल रहा है।

जैसे-जैसे समय बीतता गया नये-नये शैव सम्प्रदायों का जन्म होता गया। नवीं शताब्दी में जब आनन्दगिरि ने अपने 'शंकरविजय' नामक ग्रन्थ की रचना की तबतक शैवों के अनेक सम्प्रदाय हो गये थे। इनमें से कुछ काफी पुराने प्रतीत होते हैं क्योंकि उस समय तक वे सब सुव्यवस्थित थे, यद्यपि अन्य उपलब्ध अभिलेखों में उनकी चर्चा नहीं हुई है। शंकरविजय के चौथे अध्याय में पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भाट या भट्ट और जंगम, इन शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इन सब के प्रतिनिधि शंकर से शास्त्रार्थ करने आये थे। इन सब के बाह्य चिह्न-विशेषों का भी वर्णन किया गया है। इन चिह्नों से हमें ज्ञात होता है कि 'जंगम' तो प्राचीन 'भारशिव' ही थे, क्योंकि वे भी शिवलिंग को अपने सिर पर धारण करते थे। पाशुपत अपने मस्तक, वक्ष, नाभि और भुजाओं पर शिव लिंग का चिह्न अंकित करते थे। अन्य सम्प्रदायों के भी अलग चिह्न थे। उनके अपने-

१. C I I. : भाग ३, प्लेट ५७, पृष्ठ २८६।
२. मालती माधव : अंक ५।

से वर्णन किया गया है। किसी अन्य शैव सम्प्रदाय का पुराणों में कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता।

पुराणोत्तर काल में हमे अनेक शैव सम्प्रदायों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। शिव-लिंग को अपने मस्तक पर धारण करने वाले 'भारशिवों' की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं। इनका उल्लेख दो शिलालेखो में भी हुआ है। सातवी शती ईस्वी में चीनी यात्री 'ह्यू न-साग' ने भारत की यात्रा की थी और अनेक स्थलों पर उसने नाम लेकर पाशुपत-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[1]। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की काफी सख्या मालूम होती है। ह्यू न-साग के कथनानुसार इनमे से कुछ तो भगवान् शिव की मन्दिरो में उपासना करते थे (यह सभवत साधारण पाशुपत थे), कुछ मन्दिरों में निवास करते थे अथवा भ्रमण करते रहते थे। ये सम्भवत. पाशुपत सयासी थे। पाशुपतो का मुख्य लक्षण यह था कि वे अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे, और ह्यू न-साग ने तो इनका नाम ही 'भस्मधारी' रख दिया था। अन्य शैवों में ह्यू न-साग ने 'जटाधारी' तथा शैवों की भी चर्चा की है जो वस्त्रहीन अवस्था में फिरा करते थे[2]। ये दिगम्बर शैव सभवत वे ही थे, जिनकी दक्षिण भारत के अभिलेखों में चर्चा हम ऊपर देख आये हैं। काशी मे 'ह्यू न-साग' ने ऐसे शैवों को देखा जो अपने बाल मुँडा देते थे। ये सभवत. वे शैव सन्यासी थे जो 'मु डी' कहलाते थे[3]। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुराणो मे भी कभी-कभी शिव को 'मु डी' कहा गया है। परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन शैव सन्यासियों का कोई सगठित सम्प्रदाय था या नहीं। कापालिका का भी 'ह्यू न-साग' ने दो स्थलो पर उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि कापिशा मे उन्हाने कुछ ऐसे शैवों को देखा 'जो अपने सिरों पर अस्थियों की मालाएँ मुकुट के रूप मे पहनते हैं'[4]। एक अन्य स्थल पर उन्होंने कुछ और शैवा का उल्लेख किया है जो गले मे मु डमालाएँ आभूषण के रूप मे पहनते हैं[5]। वे विशेष रूप से यह नहीं कहते कि ये लोग शिव के उपासक थे, परन्तु ये दोनों उल्लेख स्पष्ट ही कापालिकों की ओर सकेत करते हैं। 'ह्यू न-साग' ने इनको 'भस्मधारी' शैवा से अलग माना है। इससे भी प्रकट होता है कि इनका एक अलग सम्प्रदाय था। इनके विषय में 'ह्यू न-साग' ने कुछ और नहीं कहा, परन्तु इसी शताब्दी के एक दान-पत्र में, जो पुलकेशी द्वितीय के भतीजे नागवर्धन ने लिखवाया था, इस बात की चर्चा आई है कि इस समय तक इन कापालिकों को कुछ-कुछ मान्यता प्राप्त होने लगी थी, और उनके अपने मन्दिर होते थे। इस दान पत्र में एक ऐसे ही मन्दिर का खर्चा चलाने के लिए एक गाँव के दान की व्यवस्था की गई है। इस मन्दिर मे कपालेश्वर के नाम से भगवान् शिव की मूर्ति की स्थापना की गई थी, और यहाँ कुछ सन्यासी भक्त भी रहते थे जिन्हें 'महाव्रती' कहा गया है, और जो 'कापालिकों' का ही एक

---

१ ह्यू न साग भाग २, पृष्ठ २७६, २७७, २७९, २८०-२८७ इत्यादि।
२. ,, भाग २, पृष्ठ ४५।
३. ,, ,, २ ,, ४५।
४. ,, : ,, १ ,, ५५।
५. ,, : ,, १ ,, ७६।

सौम्यनामान्तर था। इनकी जीविका की व्यवस्था भी उसी दानपत्र में की गई है। कपालेश्वर के एक और मन्दिर की चर्चा महासामन्त महाराज सुन्दरसेन के निर्माण्ड ताम्रपत्र मे भी की गई है, जिसका समय भी सातवीं शताब्दी ईस्वी ही है[1]।

सातवीं शताब्दी ईस्वी में शैव सम्प्रदायो की स्थिति पर बाणभट्ट के 'कादम्बरी' नामक गद्यकाव्य भी कुछ प्रकाश डालता है। इस काव्य मे पाशुपत-शैवो का उल्लेख किया गया है जो अमात्य शुकनास से मिलने आये थे और रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये हुए थे। यह रक्ताम्बरधारी शैव सभवत. पाशुपतो का ही एक उप-सम्प्रदाय थे और यह जरा अचरज की बात है कि ह्यून-सांग ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया। कादम्बरी से ही हमे यह भी ज्ञात होता है कि साधारण शैव किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं होते थे, और उनके आचार-विचार सर्वथा पौराणिक सिद्धान्तो और आदेशो के अनुकूल होते थे। उज्जयिनी की सम्राज्ञी विलासवती एक इसी प्रकार की शैवभक्त थी, और स्वय कविवर बाणभट्ट भी ऐसे ही शैव थे।

आठवीं शताब्दी ईस्वी मे कवि भवभूति ने अपने 'मालती माधव' नाम के रूपक में तत्कालीन कापालिक सम्प्रदाय का बड़ा अच्छा चित्रण किया है[2]। जिन मन्दिरो मे ये लोग उपासना करते थे वे श्मशान-भूमि मे होते थे। इनमे नर-बलि देने की प्रथा अभी तक प्रचलित थी, और इसी कारण इनको गर्हित समझा जाता था, और जनसाधारण इनसे दूर ही रहते थे। परन्तु स्वय वे लोकोत्तर शक्तियाँ रखने का दावा करते थे, जिन्हें उन्होने अपने प्रयोगो से प्राप्त किये थे। तत्कालीन कापालिक सम्प्रदाय का एक नया लक्षण यह था कि अब उसमे स्त्रियाँ भी सम्मिलित हो सकती थीं और पुरुषो के समान ही वे भी अपने सम्प्रदाय की विशेष वेशभूषा धारण करती थीं। कापालिको ने वर्ण-भेद को मिटा दिया था। यह एक बडी रोचक और शिक्षा-प्रद बात है कि भारत मे सनातन ब्राह्मण-धर्म के क्षेत्र के बाहर जिस किसी मत का भी प्रादुर्भाव हुआ, उस। ने अनिवार्य रूप से वर्णभेद को और बहुधा पुरुष-स्त्री के भेद को मिटाने की चेष्टा की है और इस प्रयास मे वह हमेशा असफल रहा है।

जैसे-जैसे समय बीतता गया नये-नये शैव सम्प्रदायो का जन्म होता गया। नवीं शताब्दी मे जब आनन्दगिरि ने अपने 'शकरविजय' नामक ग्रन्थ की रचना की तबतक शैवो के अनेक सम्प्रदाय हो गये थे। इनमें से कुछ काफी पुराने प्रतीत होते हैं क्यो.क उस समय तक वे सब सुव्यवस्थित थे, यद्यपि अन्य उपलब्ध अभिलेखो मे उनकी चर्चा नहीं हुई है। शंकरविजय के चौथे अध्याय में पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भाट या भट्ट और जगम, इन शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इन सब के प्रतिनिधि शकर से शास्त्रार्थ करने आये थे। इन सब के बाह्य चिह्न-विशेषों का भी वर्णन किया गया है। इन चिह्नो से हमे ज्ञात होता है कि 'जगम' तो प्राचीन 'भारशिव' ही थे, क्योकि वे भी शिवलिंग को अपने सिर पर धारण करते थे। पाशुपत अपने मस्तक, वक्ष, नाभि और भुजाओं पर शिव लिंग का चिह्न अकित करते थे। अन्य सप्रदायों के भी अलग चिह्न थे। उनके अपने-

१. C I. I. : भाग ३, प्लेट ५७, पृष्ठ २८६।
२. मालती माधव : अक ५।

अपने सिद्धान्त क्या थे यह नहीं बताया गया है, परन्तु इन सब ने मिलकर शकर से शास्त्रार्थ किया। उनको सारभाव से शकर के सिद्धान्तो से सहमत बताया गया है। परन्तु जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, वास्तव में ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि शकर का विशुद्ध अद्वैतवाद शैव सिद्धान्तो के प्रतिकूल था और इन शैव सम्प्रदायो ने इन्हीं शैव सिद्धान्तो को विभिन्न रूपो में अपनाया था। विद्यारण्य कृत शकर की एक अन्य जीवनी में, जो कुछ अपर-कालीन है, नीलकठ नामक एक शैव की चर्चा की गई है जिसने शिवसूत्रो पर एक टीका लिखी थी, और जिसने शकर के विशुद्ध अद्वैत के केन्द्रीय सिद्धान्त 'तत्वमसि' पर आक्षेप किया था। आनन्दगिरि के ग्रन्थ के अनुसार तो शकर ने केवल विविध शैव सम्प्रदायो के बाह्य चिह्नो पर आपत्ति की थी और उनको सर्वथा व्यर्थ सिद्ध किया था। आत्मज्ञान के बिना केवल उपासना करने का भी शकर ने विरोध किया था, क्योंकि ऐसी उपासना से व्यक्ति को स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, परन्तु मोक्ष नही मिल सकता। कापालिको के सम्बन्ध में आनन्द गिरि ने कुछ अधिक विस्तार से कहा है। शकर से उनकी भेंट उज्जयिनी में हुई थी जहाँ उनका बडा प्राबल्य था। उनके वर्णन से हमें पता चलता है कि वे जटाएँ रखते थे जिन पर नवचन्द्र की प्रतिमा रहती थी, उनके हाथ में कपाल का कमडल रहता था, वे मास और मदिरा का सेवन करते थे, और शिव के 'भैरव' अथवा 'कापालिक' रूप की उपासना करते थे। अपने अनाचार के लिए वह बदनाम थे, और जनसाधारण उनको एक बला समझते थे। उन्ही मे एक पाखण्डी कापालिक का भी उल्लेख किया गया है जो केवल इस लिए कापालिक सम्प्रदाय मे सम्मिलित हुआ था कि इस प्रकार वह निडर होकर लपटता और अनाचार का जीवन व्यतीत कर सके। स्वभावत शकर ने उनकी घोर भर्त्सना की, और अपने अनाचारो को एक धार्मिक मत का रूप देने का प्रयत्न करने के अपराध मे उनको दण्ड दिया। विद्यारण्य के ग्रन्थ के अनुसार शकर इन कापालिको से कर्णाट देश मे मिले थे। जहाँ उनका नेता क्रचक शकर से शास्त्रार्थ करने आया था। उनके बाह्य चिह्नो का वर्णन वैसा ही है जैसा आनन्दगिरि के ग्रन्थ मे और वे शिव के उस रूप की उपासना करते थे जिसमे उनको पार्वती का आलिंगन करते हुए कल्पित किया जाता था। मास और मदिरा का प्रयोग वे अपनी उपासना मे करते थे। उनका स्वभाव बडा उद्धत था। वे शस्त्रो से सुसज्जित रहते थे जिनका प्रयोग वे सदा ही करने को तैयार रहते थे। कर्णाट देश मे वे विशेष रूप से बल-शाली बताये गये हैं, क्योंकि वहा उन्होने राजा के विरुद्ध एक विद्रोह किया था जिसका बडी कठिनाई मे दमन किया जा सका था। विद्यारण्य ने एक और शैव सम्प्रदाय की भी चर्चा की है। ये थे 'भैरव' जिनकी शकर मे विदर्भ मे भेंट हुई थी। उनके सिद्धान्तो अथवा आचार के विषय मे कुछ नहीं कहा गया सिवा इसके कि वह एक 'भैरवतन्त्र' को अपना प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ मानते थे। इससे प्रतीत होता है कि शायद इस सम्प्रदाय का प्रादु-र्भाव तात्रिक प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था। अन्य सम्प्रदायो की बाबत उनके नामो को छोड कर न तो आनन्दगिरि न विद्यारण्य के ग्रन्थ से ही हमे कुछ पता चलता है।

शैव सम्प्रदायो के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान का अगला स्रोत कृष्णमिश्र का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक है। इसका समय ग्यारहवी शताब्दी ईस्वी के लगभग है। इसमें नाटककार

स्वीकार नहीं करते थे वे लिंगायतों का केवल एक उपसम्प्रदाय बनकर रह गये और लिंगायत उनको विधर्मी मानने लगे।

लिंगायत सम्प्रदाय के अन्य लक्षणों में मदिरा और मास का निषेध तथा आत्मसयम के कडे नियम उल्लेखनीय हैं। वह विधवा-विवाह के भी पक्षपाती थे। बाह्य उपासना पर वे अधिक जोर नहीं देते थे और धार्मिक कार्यों में अत्यधिक आडम्बर और धूमधाम की भी निन्दा करते थे, क्योंकि इससे आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा पडती है। जिस समय हमारा यह निरीक्षण समाप्त होता है, लिंगायतों की यही स्थिति थी। तदनन्तर दक्षिण में वे यद्यपि बडे शक्तिशाली हो गये थे, फिर भी धीरे धीरे ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव उन पर पडता ही गया और उन्होंने अपने ब्राह्मण-धर्म विरोधी आचार, विशेषत वर्णभेद को न मानना छोड दिया और कालान्तर में वे स्वय वर्णों में विभक्त हो गये। आजकल लिंगायतो के अनेक ऐसे वर्ण हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-धर्म के निकट आने के फलस्वरूप हम अब देखते हैं कि लिंगायत विद्वान् अपने सिद्धान्तों के लिए प्रमाण पौराणिक शास्त्रों और वैदिक श्रुतियो से लेते हैं और लिंगोपासना का उद्गम भी वैदिक सहिताओं मे ही ढूँढने का प्रयास करते हैं। इसका एक बडा रोचक उदाहरण हमें श्री सारवारे की 'लिंगधारण-चन्द्रिका' नामक पुस्तक मे मिलता है, जिसमे लेखक ने केवल यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैदिक श्रुतियाँ स्वय शिवलिंग की उपासना करने का आदेश देती हैं, और लिंगोपासना सर्वथा ब्राह्मण-धर्म के सिद्धान्तो के अनुकूल है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हम देवी और गणेश की उपासना के विकास पर भी एक दृष्टि डाल लें। पुराणोत्तर काल में इन दोनों के अपने-अपने स्वतन्त्र मत बन गये। अत एक प्रकार से ये शैव धर्म के हमारे इस दिग्दर्शन के क्षेत्र से बाहर हैं। परन्तु शैव धर्म के साथ इनके घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए इस काल मे इनके इतिहास का एक सक्षिप्त विवरण दे देना असगत नहीं होगा। देवी की उपासना के सम्बन्ध में तो हम पिछले अध्याय मे देख ही चुके हैं कि वह पुराण-काल में शाक्तमत के रूप में विकसित हो रही थी, और तन्त्रग्रन्थ उसकी श्रुतियाँ बन गये थे। शिव की सहचरी होने के नाते यद्यपि शैव लोग भी देवी की उपासना करते थे फिर भी शाक्तों का अपना एक स्वतन्त्र मत बन गया था। शिव के समान ही देवी के अनेक रूपों का भी प्रस्तर और धातु में यथार्थ चित्रण किया जाता था, और पुराणोत्तर काल मे समस्त भारत मे इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं[1]। देवी की उपासना-विधि मे पुराण काल से कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। कई तन्त्र-ग्रन्थ पुराणोत्तर काल के हैं, परन्तु उनमें और प्राचीन तन्त्रों मे कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु एक प्रकार से पुराणोत्तर-कालीन शाक्तमत में कुछ विकास हुआ। हमने पिछले अध्याय मे देखा कि शाक्तमत मे सुधार करने और उसे ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों और आचारों के अधिक अनुकूल बनाने के प्रयत्न पौराणिक काल मे ही प्रारम्भ हो गये थे। पुराणोत्तर काल मे हम देखते हैं कि यह प्रयत्न काफी हद तक सफल हुए, और अब अधिकतर शाक्त लोग 'दक्षिण मार्गी' हो गये थे। धीरे-धीरे इनमें उपसम्प्रदायों का भी प्रादुर्भाव हो गया, जिनमे

१. गणपति राव हिन्दू आइकोनोग्राफी, भाग २।

प्रत्येक देवी के किसी विशेष रूप की उपासना करता था। जो लोग देवी को विष्णु की शक्ति मानते थे, वे उसको महालक्ष्मी अथवा महावैष्णवी कहते थे, और इसी से वे महालक्ष्मी के उपासक माने जाते थे। अन्य शाक्त देवी को 'वाक्' रूप मे देखते थे, और यह 'वागोपासक' कहलाते थे। जो देवी को शिव की शक्ति मानते थे, वे साधारण रूप से 'शाक्त' कहलाते थे। 'शकरविजय' मे आनन्दगिरि ने इन तीनों का उल्लेख किया है[1]। इन सबके सिद्धान्त वे ही थे जो हम तन्त्रो मे देख आये हैं।

परन्तु देवी के कुछ उपासको ने प्राचीन परिपाटी को नहीं छोड़ा और उनकी उपासना मे वे सब पुराने दूषित लक्षण बने ही रहे। ये लोग 'वाममार्गी' कहलाते थे। इनका उल्लेख भी आनन्दगिरि ने किया है और इनके सिद्धान्तो से हमे पता चलता है कि जब एक दूषित मनोवृत्ति के कारण किसी कुत्सित प्रथा को उच्च दार्शनिक सिद्धान्तो द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। एक सच्चे भक्त का आध्यात्मिक स्तर साधारण मनुष्यो से ऊँचा होता है। इस विश्वास को लेकर उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि जो इनके मतानुयायी थे उन्हे किसी नियम-सयम की अपेक्षा ही नही रह गई थी, क्योंकि इनको तो सच्चा ज्ञान प्राप्त हो चुका था और ऐसे ज्ञानियो पर वह प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं रहती जो साधारण मनुष्यो के आचार-नियमन के लिए लगाये जाते हैं। अत ये लोग चाहे जो कुछ भी करें, इन्हें पाप नहीं लगता। भक्तजनो मे वर्ण और नारी-पुरुष का भेद किये बिना पूर्ण समानता के सिद्धान्त को उन्होंने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो मे पूर्ण उच्छृखलता का रूप दे दिया और उनकी उपासना मे घोर-से-घोर अनाचार होने लगा।

विद्यारण्य के ग्रन्थ मे भी दक्षिणमार्गी और वाममार्गी दोनो प्रकार के शाक्तो का उल्लेख किया गया है। दक्षिणमार्गी शाक्तो को यहाँ तान्त्रिक कहा गया है जो तन्त्र-ग्रन्थो के आदेशो के अनुसार ही देवी की उपासना करते थे और साधारणतया उनका एक भद्र सम्प्रदाय था। वाममार्गियों को इस ग्रन्थ मे 'शाक्त' कहा गया है और शकर से उनकी भेंट सुदूर दक्षिण मे हुई थी। ग्रन्थकर्त्ता ने इनकी घोर निन्दा की है। वे पाषण्डी थे जो पार्वती की उपासना करने का बहाना करते थे, परन्तु वे केवल सुरापान के व्रती थे और द्विजो द्वारा बहिष्कृत थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाममार्गी शाक्तो को सदा ही विधर्मी और निन्दनीय समझा जाता था। इसी निन्दा के कारण इस मार्ग के अनुयायियो की सख्या सदा कम ही रही। यद्यपि इनका अस्तित्व वर्तमान काल तक रहा, तथापि इनकी स्थिति एक निकृष्ट गुप्त-दल की-सी होकर रह गई। इसके विपरीत दक्षिणमार्गी शाक्तों की अभिवृद्धि ही होती रही और आजकल इनकी सख्या काफी बड़ी है—विशेष कर बंगाल मे, जो शाक्तधर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया है।

गणेश की उपासना का सामान्य रूप हम 'गणेश-पुराण' मे देख चुके हैं जो काल-क्रम से पुराणोत्तर युग मे पड़ता है। गणेश के उपासको का भी एक अलग सम्प्रदाय बन

१. शकर-विजय : अध्याय १६-२१।

गया और ये लोग 'गाणपत्य' कहलाने लगे। ये गणेश को ही परमात्मा और परमेश्वर मानते थे। इन 'गाणपत्यों' का स्पष्ट उल्लेख प्रथम वार आनन्दगिरि ने किया है। परन्तु इस समय तक इनके भी चार उपसम्प्रदाय वन चुके थे[1]। इससे सिद्ध होता है कि यह सम्प्रदाय काफी पहले स्थापित हो चुका होगा। इसके उपसम्प्रदायों में एक को छोड कर शेष तीन के नाम गणेश के उस रूप के नाम पर आधारित है, जिसमें उनके अनुयायी गणेश को पूजते थे। ये लोग भी गणेश की कल्पना उसी रूप में करते थे जैसी कि 'गणेश-पुराण' में है। अन्तर केवल इतना था कि अव गणेश की भी एक सहचरी थी जिसे उनकी शक्ति माना जाता था। यह सम्भवत. शैव अथवा शाक्त मत के प्रभाव से हुआ था। इन समानलक्षणों के अलावा 'हरिद्र गाणपत्य' गणेश को पीताम्वर तथा यज्ञोपवीत धारी, चतुर्भुज और त्रिनेत्र रूप में पूजते थे। देवी की तरह गणेश का भी भगवान् शिव के साहचर्य के कारण ही त्रिनेत्र माना जाने लगा था। इसके अतिरिक्त उनके मुख पर हरिद्रा मली जाती थी और उनके हाथों में पाश और त्रिशूल रहता था। गाणपत्यों का प्रमुख उपसम्प्रदाय 'महागाणपत्य' कहलाता था और इस उपसम्प्रदाय की उपासना गणेश की पौराणिक उपासना के सवसे निकट थी। इन्होंने ही गाणपत्यों के सामान्य सिद्धान्तों का विकास किया था, क्योंकि आनन्दगिरि ने इन सिद्धान्तों का विस्तृत उल्लेख इन्हीं की चर्चा करते हुए किया है। गाणपत्यों का तीसरा उपसम्प्रदाय था— 'नवनीत सुवर्ण समतन गाणपत्य'। ये गणेश को हेमवर्ण मानते थे। परन्तु शेष वातों में उपर्युक्त दो उपसम्प्रदायों में कुछ विशेष भिन्न नहीं थे और शकर से शास्त्रार्थ करते समय इनका मुखपात्र शेष दोनों के तर्कों का समर्थन करता है। परन्तु चौथा उपसम्प्रदाय इन तीनों से सर्वथा भिन्न था। वास्तव में यह गाणपत्यों की एक अलग शाखा थी जिसका प्रादुर्भाव वाममार्गी शाक्त सम्प्रदाय के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ और जो लगभग उन्हीं का एक अग वन गई थी। इस उपसम्प्रदाय के अनुयायी गणेश की 'हेरम्व' नाम से उपासना करते थे। इस रूप में गणेश को चतुर्भुज, त्रिनेत्र, हाथों में पाश आदि धारण किये, अपने शुण्ड में सुरापान करते हुए, एक विशाल आसन पर सुख से विराजमान और कामिनीरूपा अपनी शक्ति को वाई ओर अक में विठाये कामवश उसका आलिंगन करते हुए दिखाया गया है। गाणपत्यों के इस उपसम्प्रदाय की उपासना-विधि और आचार अत्यन्त अश्लील और घृणित थे और इसमें ये लोग वामाचारी शाक्तों से भी आगे वढ गये थे। पूर्ण रूप से उच्छृखल आचरण इन लोगों में क्षम्य ही नहीं, अपितु विहित था और इनके लिए अपरिमित भोग और इन्द्रियों की पूर्ण सतुष्टि ही मोक्ष का प्रधान मार्ग था। वामाचारी शाक्तों के समान ही इन्होंने भी वर्ण और यौन भेद को विलकुल मिटा दिया और प्रत्येक नर को हेरम्व तथा प्रत्येक नारी को हेरम्व की शक्ति मान कर उन्होंने केवल पूजा के समय ही नहीं, अपितु हर समय स्त्री-पुरुषों के पूर्ण रूप से उच्छृखल यौन-सम्वन्धों का विधान किया और विवाह की पद्धति को उठा दिया। कापालिकों के समान ही इन लोगों की भी शकर ने घोर भर्त्सना की थी।

---

१ शंकर-विजय अध्याय १५-१८।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि दसवीं शती तक गाणपत्य सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी और उसके उपसम्प्रदाय भी वन गये थे। इसके वाद इस सम्प्रदाय का इतिहास हमें खण्ड-खण्ड करके मिलता है। उत्तर भारत मे इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार नही हुआ, यद्यपि सिद्धिदायक भगवान् गणेश की उपासना अति साधारण हो गई। सभी ब्राह्मण-मतों के अनुयायी गणेश को इस रूप मे पूजते थे, यहाँ तक कि महायान वौद्धों ने भी इस रूप मे गणेश-पूजा का अपने धर्म मे समावेश कर लिया। गाणपत्यो का चौथा उपसम्प्रदाय, जिसका नाम अव 'उच्छिष्टगाणपत्य' पड गया था, किसी समय नेपाल मे फैला और वहीं इसे कुछ वल प्राप्त हुआ, अन्यत्र कहीं नहीं।

इसके विपरीत दक्षिण मे गाणपत्यों ने अपने पैर अच्छी तरह जमा लिये थे। यद्यपि इनसे सम्वद्ध अभिलेख हमे निरन्तर उपलब्ध नहीं होते, तथापि अपरकालीन अभिलेखो की सहायता से हमें पुराणोत्तर काल में इनकी स्थिति का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए ट्रावनकोर मे गणेश को देश की समृद्धि के लिए पूजा जाता था। इससे पता चलता है कि यहाँ गणेश को अव केवल मानव-कार्यों में सफलता प्रदान करने वाला देवता ही नहीं, अपितु साधारण रूप से समृद्धि का देवता माना जाने लगा था। इसके अतिरिक्त अभी हाल तक गणेश के सम्मान मे 'होम' किये जाते थे और इस दिन एक सार्वजनिक उत्सव मनाया जाता था।

पुराणोत्तर काल में गणेश की उपासना के इस विवरण की पुष्टि उस काल की उपलब्ध मूर्तियों आदि से भी होती है। गणेश की इन मूर्तियो को लेकर श्रीमती एलिस गेट्टी ने एक वडी सुन्दर पुस्तिका लिखी है और हमारे मतलव के लिए इसी पुस्तिका में से कुछ उदाहरण चुन लेना पर्याप्त होगा।

ऊपर हम देख आये हैं कि किसी-न-किसी रूप में गणेश की उपासना अति प्राचीन काल से होती चली आई है। फिर भी गणेश की जो मूर्तियाँ हमे इस समय मिलती हैं, वे वहुत प्राचीन नहीं हैं। प्रथम शताब्दी की अमरावती की प्राकार-भित्ति पर हस्तिमुख गणों का चित्रण किया गया है। पहली अथवा दूसरी शताब्दी के सिंहल देश मे 'मिहिंतले' स्थान पर भी एक भित्ति-चित्र मे इसी प्रकार हस्तिमुख गणो का चित्रण किया गया है। सीमा-प्रान्त मे 'आका' स्थान पर भी दूसरी शती की एक दीवार पर चित्र खुदे हैं, उनमे भी हस्तिमुख गण हैं। परन्तु इस समय गणेश की प्रतिमाएँ नहीं मिलतीं। इस देवता की प्राचीनतम मूर्तियाँ हमें छठी और सातवीं शती की 'भूमार' की प्रस्तर-मूर्तियो मे मिलती हैं। इस समय तक गणेश का अपनी शक्ति से साहचर्य भी हो चुका है। फतेहगढ़ की प्रस्तर-शिला मे गणेश को दिगम्वर दिखाया गया है और उनके हाथ मे मोदकों से भरा एक पात्र है जिसमे वह अपने शुण्ड को डाल रहे हैं। गणेश की अपरकालीन प्रतिमाओ मे उनका यह लक्षण अनेक वार दिखाई देता है। वादामी और ऐहोल गुफा-मन्दिरो मे गणेश को भगवान् शिव के अनुचर के रूप मे दिखाया गया है।

दक्षिण भारत मे प्राय. सभी प्रतिमाओं मे गणेश का साहचर्य मातृकाओं से किया गया है। इस साहचर्य का कारण सम्भवत· यह हो सकता है कि इन मातृकाओं की

उपासना सुख और समृद्धि के लिए की जाती थी जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। गणेश की भी चूँकि कार्यसिद्धि के लिए उपासना की जाती थी, जिसके फलस्वरूप समृद्धि भी होती थी, अत इन दोनो का साहचर्य हो गया।

ऊपर हम कह चुके हैं कि सिद्धिदायक देवता के रूप मे गणेश की उपासना सब मतों के अनुयायी, यहाँ तक कि महायान बौद्ध भी करते थे। इसी तथ्य के उदाहरणस्वरूप 'सारनाथ' के एक अपरगुप्तकालीन भित्तिचित्र मे जहा बुद्ध का निर्वाण दिखाया गया है, वहाँ एक कोने मे गणेश का चित्र भी अंकित कर दिया गया है। बौद्ध धर्म मे इस प्रकार गणेश की उपासना के समावेश के फलस्वरूप ही हम देखते हैं कि तिब्बत मे बौद्ध-मन्दिरों के आगे सरक्षकदेवता के रूप मे गणेश की मूर्तियाँ ही रखी जाती हैं।

सप्तम अध्याय

पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि शैव मत के लोक-प्रचलित रूप के विकास के साथ-साथ उसके दार्शनिक रूप का भी विकास होता गया और अन्त में उसने एक स्वतन्त्र दर्शन का रूप धारण कर लिया जो 'शैव सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण पहले-पहल विशेष शास्त्रों में हुआ जो 'आगम' कहलाते थे। इन शास्त्रों की रचना पौराणिक काल में ही हुई जान पड़ती है, परन्तु इनको ठीक-ठीक समझने के लिए यह अच्छा होगा कि हम प्रारम्भ से चलें। साथ ही इन शास्त्रों में जिन-जिन सिद्धान्तों तथा मतों का निरूपण किया गया है, उनके विकास-क्रम का भी अध्ययन करें। इसके लिए हमें फिर एक बार उपनिषद्-काल में लौटना होगा। तीसरे अध्याय में हमने देखा था कि यह वह काल था, जब भारत के धार्मिक और दार्शनिक विचारों में एक क्रांति-सी रही थी। इसी क्रान्ति के फलस्वरूप भारत में भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हम लोक-प्रचलित धार्मिक विचारों पर उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रभाव का फल मान सकते हैं। उपनिषदों में परमब्रह्म की जो कल्पना की गई थी और जिसे अध्ययन, मनन और आत्मसंयम द्वारा जाना जा सकता था, उसी कल्पना के आधार पर एक ईश्वर की भी कल्पना की गई जिसे सच्ची भक्ति और तपश्चर्या द्वारा जाना जा सकता था। अतः हम यह कह सकते हैं कि परमब्रह्म की औपनिषदिक कल्पना ही भक्तिवाद का दार्शनिक आधार थी। अब यह भक्तिवाद शिव और विष्णु की उपासना में केन्द्रित हुआ, क्योंकि उस समय जन-साधारण में अन्य सब देवताओं को छोड़कर प्रायः इन्हीं दो देवताओं की उपासना होती थी। अतः इनकी उपासना में इस नये भक्तिवाद का समावेश हो जाने पर इन्हीं को एक ईश्वर माना जाने लगा और दार्शनिक पक्ष में इन दोनों का ही परमब्रह्म से तादात्म्य किया जाने लगा। शिव के सम्बन्ध में यह स्थिति हम 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में देख चुके हैं, जहाँ एक ओर वह भक्तों के ईश्वर हैं तो दूसरी ओर दार्शनिकों के पुरुष हैं। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में शिव का जो दार्शनिक स्वरूप है, वही अपरकालीन समस्त शैव दर्शन का बीज है। वहाँ हमने देखा था कि पुरुष-रूप में शिव को परमसत्य और एकस्रष्टा माना जाता था, जो अपनी माया (जिसे शक्ति अथवा प्रकृति भी कहा जाता था) के द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता था। सृष्टि की अभिव्यक्ति में यह माया ही सक्रिय कार्य करती है और पुरुष केवल उसका प्रेरक रहता है। जीवात्मा को भी अमर माना जाता था और परमात्मा में विलीन हो जाने पर ही उसका मोक्ष होता था। उपनिषद्-काल के बाद इन सिद्धान्तों का दो प्रकार से विकास हुआ। एक तो शुद्ध अद्वैत के ढंग पर जिसके अनुसार परमब्रह्म को ही एकमात्र सत्य माना जाता है और जीवात्मा साररूपेण उससे अभिन्न है। वास्तव में वह इसी परमब्रह्म की एक अभिव्यक्ति मात्र है और इसी अभिन्नता का ज्ञान प्राप्त कर तथा अपने को परमब्रह्म में विलीन करके ही जीवात्मा मुक्तिपद को प्राप्त होता है। शक्ति, माया अथवा प्रकृति और कुछ नहीं है, केवल इसी परमब्रह्म की ही एक रचना

है जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। इस शुद्ध अद्वैतवाद के सबसे बडे प्रचारक बाद में शंकराचार्य हुए। औपनिषदिक सिद्धान्तों के विकास का दूसरा प्रकार भी अद्वैतवादी ही था और इसमें भी परमब्रह्म का स्वरूप लगभग वही था जो विशुद्ध अद्वैतवाद में। परन्तु इस अद्वैत में कुछ विशेषता यह थी कि पहले तो प्रकृति अथवा माया का परमब्रह्म द्वारा रचित होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व माना जाता था और दूसरे मोक्ष-प्राप्ति जीवात्मा के परमात्मा में पूर्ण विलय को नहीं, अपितु परमात्मा के समक्ष जीवात्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति को माना जाता था। यह मार्ग विशिष्ट अद्वैत कहलाया। शुद्ध अद्वैत से अधिक सरल और सुगम होने के कारण इस विशिष्ट अद्वैत का ही जनसाधारण में अधिक प्रचार हुआ। (शुद्ध अद्वैत को ठीक-ठीक समझने के लिए बड़ी कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता होती है। अतः इसका प्रचार अधिकतर दार्शनिकों और विद्वान् लोगों तक ही सीमित रहा। न तो उपनिषदोत्तर काल के वैदिक साहित्य में, न रामायण-महाभारत अथवा पुराणों में, न वेदोत्तर-कालीन लौकिक साहित्य में ही—यानी शंकर के समय तक कहीं भी विशुद्ध अद्वैतवाद की कोई विशेष चर्चा नहीं है। इसके विपरीत वेदोत्तरकालीन भक्ति-वादात्मक समस्त मतों का दार्शनिक आधारविशिष्ट अद्वैतवाद ही था। रामायण-महाभारत में शिव की सहचरी के रूप में प्रकृति अथवा माया की कल्पना लगभग उसी प्रकार की गई है, जिस प्रकार 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में। मुक्ति का अर्थ भी वहाँ यही है कि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करे और परमात्मा के ही सान्निध्य में सदा वास करे। पुराणों में वैष्णव और शैव दोनों मतों ने विशिष्ट अद्वैतवाद की स्थिति को स्वीकार किया है। दोनों एक सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के अस्तित्व को मानते हैं जो इन्द्रियगम्य विश्व की सृष्टि अपनी शक्ति अथवा माया के द्वारा करता है और जिसके अनुग्रह से जीवात्मा अपने कर्मबन्धनों से छूटता है तथा परमात्मा के समक्ष पहुँच कर मोक्ष को प्राप्त होता है) परन्तु विशुद्ध और विशिष्ट अद्वैत के इन दोनों प्रकारों को साधारणतया एक ही नाम दिया जाता था और वह था 'वेदान्त'। इन दोनों को एक ही दर्शन के दो अंग माना जाता था। यही स्थिति पुराणोत्तर काल में भी रही, जब वेदान्त अथवा अद्वैत के दो अंग माने जाते थे—एक 'विशिष्ट' और दूसरा 'शुद्ध'। यही कारण था कि शैव और वैष्णव दोनों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि इनके सिद्धान्त वेदान्त के अनुकूल हैं। परन्तु शैव मत का जैसे-जैसे विकास होता गया, उसकी स्थिति विशिष्ट अद्वैत से कुछ हट गई। इसका कारण था—शैवमत में शिव की सहचरी का विशेष स्थान, जिसे शिव की शक्ति अथवा प्रकृति माना जाता था। हम ऊपर देख चुके हैं कि शिव की यह सहचरी एक प्रमुख देवी थी, जिसकी अपनी स्वतन्त्र उपासना होती थी। शिव के साथ उसका साहचर्य हो जाने के बाद भी उसका यह पद बना ही रहा और किसी समय भी शिव के उत्कर्ष के कारण देवी के इस पद का ह्रास नहीं हुआ। देवी के इस उत्कृष्ट पद का शैवमत के दार्शनिक विकास पर प्रभाव पड़ा और उसका झुकाव 'सांख्य' की ओर अधिक हुआ, जिसमें प्रकृति को वेदान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। अतः उपनिषदों, रामायण-महाभारत और पुराणों में शिव के प्रसंग में 'सांख्य' का जो उल्लेख किया गया है, उसका यही रहस्य है। परन्तु शैवधर्म सारभाव में आस्तिक था और

साख्य उपनिषदुत्तर काल मे नास्तिक हो गया। अत: इन दोनों का सम्बन्ध शीघ्र ही टूट गया। फिर भी शैव मत पर आदि साख्य के सिद्धान्तो का जो प्रभाव पड़ा था, वह स्थायी रहा। यह वात पुराणो और कुछ तन्त्रों से स्पष्ट हो जाती है, जहाँ शिव की शक्ति अथवा माया के रूप में देवी को शिव की समवर्तिनी माना गया है। विश्व की सृष्टि में सक्रिय तत्त्व यह देवी ही हैं, जब कि शिव इस कार्य मे प्रायः द्रष्टा मात्र ही रहते हैं। इन्हीं सिद्धान्तो के अनुसार वेदोत्तर काल मे शैवमत के दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और अन्त में 'आगम' ग्रन्थों की रचना हुई, जिसमे शैव मत के दार्शनिक पक्ष का स्वरूप निर्धारित कर दिया गया और ये ग्रन्थ शैव मत के प्रथम सैद्धान्तिक ग्रन्थ वने। इन आगमो की रचना ठीक किस समय हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता और सम्भव है कि पुराणों के समान ही यह भी एक काफी लम्बे अरसे मे रचे गये हो। श्री वी० वी० रमन ने 'सिद्धान्त-दीपिका' के एक लेख मे इन आगमो को महात्मा बुद्ध के समय से भी पहले का वताया है। परन्तु यह वात केवल इन आगमो के मूल सिद्धान्तों के विषय मे कही जा सकती है जिनका वीज उपनिषद्-ग्रन्थों मे पाया जाता है। इन ग्रन्थो के रचना-काल की आदि-सीमा चाहे जो भी हो, इनका अस्तित्व पुराणो के समय मे तो अवश्य था ही, क्योंकि 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण मे उनका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इससे कुछ काल पहले दक्षिण मे शैव संत 'तिरुमूलर' हुए थे। इनका समय पाँचवीं शती निर्धारित किया गया है। इन्होंने आगमो का संस्कृत से तामिल भाषा में अनुवाद किया था। अतः आगम ग्रन्थो की रचना इनके समय से पहले ही हुई होगी। इस सत ने आगमो का जो विवरण दिया है, उससे पता चलता है कि उस समय तक इन आगमो को शैवमत के शास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता था, और इनकी प्रामाणिकता वैसी ही थी जैसी वेदो की। सत 'तिरुमूलर' वेदो और आगमो दोनो को श्रुति मानते थे। उनका कहना है कि 'वेद और आगम दोनो ही सत्य हैं, क्योकि दोनों ईश्वर की वाणी हैं'। वह इस वात पर वहुत जोर देते हैं कि वेद और आगम एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। "प्रथम (अर्थात् वेद) को आप सामान्य मानिये और दूसरे (अर्थात् आगमो) को विशेष समझिए। दोनो मिलकर ईश्वर की वाणी है।" एक अन्य स्थल पर उन्होंने और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि "वेदान्त और सिद्धान्त मे जव कोई भेद प्रतीत होता है, तव परीक्षण करने पर विवेकीजन इनमे कोई अन्तर नहीं पाते"। वह फिर कहते हैं कि "यदि वेद गौ हैं, तो आगम उनका दूध"। सत 'तिरुमूलर' की इन उक्तियो से एक ओर तो यह सिद्ध होता है कि उस समय शैवधर्म वैदिक श्रुतियो को मानता था और इस प्रकार वह ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत था तथा दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि आगम-ग्रन्थो को जो अधिकाधिक प्रामाणिकता दी जा रही थी और उनमे शैवधर्म के एक विशिष्ट सैद्धान्तिक पक्ष का जो निरूपण किया गया था, सम्भवतः इनी के कारण कभी-कभी यह सदेह भी उत्पन्न हो जाता था कि आगमिक सिद्धान्त वैदिक श्रुतियों के अनुकूल थे या नहीं। कुछ शैवो के ब्राह्मण-धर्म-विरुद्ध आचरण करने मे इस सदेह को और भी वल मिलता था। संत 'तिरुमूलर' ने इसी सदेह का निराकरण करने का प्रयत्न किया था। इनके अतिरिक्त हमे यह भी पता चलता है कि आगम ग्रन्थ पहले संस्कृत मे लिखे गये थे। इसके साथ-साथ दक्षिण में यह

परम्परागत धारणा भी बड़ी प्रबल थी कि दक्षिण में शैव धर्म का प्रचार उत्तर से आकर शैव विद्वानों और संतों ने किया। अतः यह लगभग निश्चित ही हो जाता है कि आगम-ग्रन्थों की रचना पहले-पहल उत्तर भारत में हुई थी। यह स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि आदि काल से उत्तर भारत ही आर्य-संस्कृति का केन्द्र रहा था, और हमारे सब धार्मिक मतों का जन्म और प्रारम्भिक विकास वहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शतियों में दक्षिण में बौद्ध और जैन मतों का अत्यधिक प्रचार था। शैवमत द्वारा इन दोनों के उन्मूलन के बाद ही दक्षिण भारत ब्राह्मण-संस्कृति का केन्द्र बन सका।

आगम-ग्रन्थों में जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया, वही प्रामाणिक शैव सिद्धान्त बना। इन ग्रन्थों में से कामिक आगम को हम एक प्रतिनिधि ग्रन्थ मान सकते हैं। इसके संक्षिप्त रूप के अध्ययन करने से हमें शैव सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं का अच्छा परिचय मिल सकता है। इस आगम में शिव को सर्वश्रेष्ठ सत्य माना गया है। वह अनादि हैं, अकारण हैं और स्वतः सम्पूर्ण हैं। वह सर्वज्ञ हैं और सर्वकर्ता हैं। वह अपनी शक्ति के द्वारा जो उनका साधन है, सृष्टि का कार्य सम्पन्न करते हैं। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है और वास्तव में उनसे अभिन्न है। इसी शक्ति का शिवपत्नी उमा अथवा पार्वती से तादात्म्य किया गया है। अपनी शक्ति के द्वारा शिव समस्त विश्व में इस प्रकार व्याप्त हैं कि वह उनसे भिन्न प्रतीत नहीं होते। परन्तु वास्तव में विश्व का उनसे तादात्म्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि शिव तो विश्व से परे हैं और उसका अस्तित्व शिव के अन्दर ही है। असल में यह विश्व और इसमें बसनेवाले समस्त प्राणी शरीर हैं जिसकी आत्मा शिव हैं। विशुद्ध अद्वैत और शैव सिद्धान्त का यह दूसरा प्रमुख भेद है। विशुद्ध अद्वैत के अनुसार विश्व ब्रह्म से पृथक् नहीं है, क्योंकि इस व्यक्त सृष्टि के पीछे ब्रह्म ही केवल एक सत्य है तथा विश्व के नाम और रूप की अनेकता केवल माया है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इसके अतिरिक्त शैव सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा असंख्य और शाश्वत हैं। वे सब परम शिव के ही अंश हैं, परन्तु उससे सर्वथा अभिन्न नहीं हैं, जैसा कि विशुद्ध अद्वैतवादी मानते हैं। परन्तु वे शिव से भिन्न भी नहीं हैं, और जीवात्मा तथा शिव रूप परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध को हम एक ही प्रकार से निर्दिष्ट कर सकते हैं और वह है—'भेदाभेद' सम्बन्ध। यह सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा ज्वाला और उसके ताप का। ज्वाला में ताप सदा वर्तमान रहता है, परन्तु वह उससे अभिन्न नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा में सदा वास करता है, परन्तु दोनों एक दूसरे से अभिन्न नहीं हैं। वास्तव में परमात्मा और जीवात्मा के इस सम्बन्ध में हम 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् की उस कल्पना का विकास देख सकते हैं, जिसमें परमात्मा और जीवात्मा की दो पक्षियों से उपमा दी गई है, तथा जिसमें सांख्यवादियों ने जीव और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध के अपने विशिष्ट सिद्धान्त का विकास किया है। शैव सिद्धान्त की स्थिति भी आदि सांख्य की स्थिति से बहुत भिन्न नहीं है। अपने मूर्त रूप में यह जीवात्मा कुछ काल के लिए भौतिक शरीर से मिल जाते हैं, जो स्वयं अचेतन हैं, परन्तु जिसे जीवात्मा चेतनायुक्त करता है। इस प्रकार शरीर से संलग्न होकर जीवात्मा 'अविद्या', काम और 'माया' के त्रिविध बन्धन

साथ विधिवत् शास्त्रार्थ करने मे उनकी पराजय निश्चित थी। साथ ही शकर भी स्वय शैव ही थे, अतः उनका विरोध करने और उनके सिद्धान्तो पर कड़े आक्षेप करने से जनसाधारण मे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता था कि शैव मत में ही फूट पड़ गई है। यह एक ऐसी सभावना थी—जब कि शैव मत बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि विधर्मी मतो के विरुद्ध घोर सघर्ष मे लगा हुआ था—जिसकी शैव सिद्धान्ती कल्पना करने का भी साहस नहीं कर सकते थे। दूसरा कारण यह था कि शकर स्वय इन विधर्मी मतो के कट्टर विरोधी थे और इस रूप में शैवो के लिए तो वे एक देवप्रेषित उपहार बनकर आये थे, और उनका ध्यान दूसरी ओर बटाकर उनके इस महान् कार्य मे बाधा डालना बुद्धिमत्ता का काम नहीं था। अत शकर के जीवन-काल में शैव लोग अधिकतर चुप ही रहे। परन्तु उनके दिवगत होने पर शैवो ने अपने को शकर के सिद्धान्तो का विरोधी घोषित किया, और वे फिर आगामिक सिद्धान्तो का प्रचार करने में लग गये। शकर के विशुद्ध अद्वैत और माया के सिद्धान्त की अतिमात्र दुरुहता ही अब शैव सिद्धान्तियो की सहायक बनी, क्योंकि इस दुरुहता के कारण ही विशुद्ध अद्वैत कभी भी लोकप्रिय न बन सका।

दसवीं अथवा ग्यारहवीं शती में या इससे थोडे समय बाद 'मेयकन्द देवुर' नाम के प्रख्यात सत और विद्वान् दक्षिण मे हुए। उन्होने तत्कालीन समस्त शैव सिद्धान्त का सार केवल बारह सस्कृत अनुष्टुप् पद्यो में दिया है। 'मेयकन्द देवुर' की यह कृति 'शिवज्ञानबोधम्' के नाम से प्रसिद्ध है और शैवो में इसका वही स्थान है जो वैष्णवो में भगवद्गीता का। शैवमत के दार्शनिक पक्ष का सपूर्ण विकास हम इस ग्रन्थ मे पाते हैं, और इसी ने उसका रूप भी निश्चित कर दिया। यही शैव सिद्धान्त का अन्तिम मौलिक ग्रन्थ भी है, किन्तु और सब ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थो की टीका के रूप में ही हैं, या फिर उनके सार मात्र हैं।

जिस समय दक्षिण मे अनेक सत और विद्वान् शैवमत को प्रधानता दिलाने और उसके दार्शनिक पक्ष का विकास करने में लगे हुए थे, उसी समय भारत का एक और भाग भी शैव विद्वानो का केन्द्र बन गया। (यह था कश्मीर। यह कहना कठिन है कि ठीक किस समय और किस रूप मे कश्मीर में शैव धर्म का प्रचार हुआ।) परन्तु अति प्राचीन काल मे ही कश्मीर उत्तर भारत के सास्कृतिक क्षेत्र के अन्तर्गत रहा है, और उत्तर भारत मे जो जो धार्मिक आन्दोलन हुए, उन सबका प्रभाव अनिवार्य रूप से कश्मीर पर भी पडा। इसके अतिरिक्त 'वसुगुप्त' के समय तक, जो आठवीं शती मे हुए थे, कश्मीर मे शैव आगमो की बडी प्रतिष्ठा थी और उन्हें अति प्राचीन माना जाता था। अत. कश्मीर मे उनका प्रचार बहुत पहले से रहा होगा। प्रारम्भ मे कश्मीर मे भी इन आगमो की व्याख्या उसी प्रकार की जाती थी, जिस प्रकार अन्यत्र। 'वसुगुप्त' ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि इनकी व्याख्या इसी प्रकार की जाती थी। फिर हमे छठी या सातवीं शती का एक प्राचीन ग्रन्थ भी मिलता है, जिसका नाम 'विरूपाक्षपचाशिका' है और जिसमें शैव मत के दार्शनिक पक्ष का साराशत विवरण उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार आगम ग्रन्थो मे। परन्तु लगभग इसी समय कश्मीर मे एक नई विचार-धारा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके

प्रवर्तक आगमिक सिद्धान्तों की अधिक शुद्ध अद्वैतवादी ढंग पर व्याख्या करना चाहते थे। इस विचारधारा का जन्म कैसे और किस प्रभाव से हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि कश्मीर में पहले ही से कोई विशुद्धाद्वैतवादी सम्प्रदाय रहा हो, और उसके कुछ योग्य विद्वान् अनुयायियो ने शैव आगामों की अपने ढंग पर व्याख्या करने का उसी प्रकार प्रयास किया हो, जिस प्रकार शंकर ने समस्त उपनिषदो मे विशुद्ध अद्वैत ढूँढने का प्रयास किया था। इनमे से एक - विद्वान् तो स्वय 'वसुगुप्त' ही थे[१]। कश्मीर मे इस विद्वान् के जो अर्द्ध ऐतिहासिक वृत्तान्त मिलते हैं, उनमे इतना तो पता चलता ही है कि उन्होने स्वय कुछ सूत्र रचे थे जो 'शिवसूत्र' कहलाते थे। या हो सकता है कि यह सूत्र उन्होने अपने किसी गुरु से सीखे हो। परन्तु उन्होने इसका प्रचार अवश्य किया। इन सूत्रों मे उन्होने शैवमत के दार्शनिक सिद्धान्तों की विशुद्ध अद्वैतवाद के अनुसार व्याख्या की और इस प्रकार अद्वैतवादी शैव सिद्धान्त की नींव डाली जो वाद में कश्मीरी शैवमत कहलाया। यह शिवसूत्र उन सूत्रो से सर्वथा भिन्न है जो आजकल शिवसूत्रो के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनका रचयिता अज्ञात है। 'वसुगुप्त' के सिद्धान्तो का और अधिक प्रचार उनके शिष्य 'कल्लट' ने अपनी टीकाओ द्वारा किया, जिनमे एक अव 'स्पन्द सूत्र' अथवा 'स्पन्दकारिका' के नाम से प्रसिद्ध है।

'वसुगुप्त' और 'कल्लट' दोनो ने ही इस नये दर्शन की रूपरेखा मात्र को निर्धारित किया। उन्होने तर्कों द्वारा इसकी विस्तृत विवेचना नहीं की। यह काम सोमानन्द ने उठाया जो 'कल्लट' के समकालीन थे। हो सकता है, वह 'वसुगुप्त' का शिष्य भी रहे हो। 'सोमानन्द' ने प्रख्यात 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमे उन्होने 'वसुगुप्त' और 'कल्लट' द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तो की पूर्ण विवेचना की और उनको एक निश्चित दर्शन का रूप दिया। 'सोमानन्द' के वाद इस काम को उनके शिष्य 'उत्पल' ने जारी रखा। इन्होंने 'प्रत्यभिज्ञा' सूत्रो की रचना की और उनके द्वारा इस 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द के प्रयोग करने पर ही इस दर्शन का नाम 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' पड गया। 'सर्वदर्शनसग्रह' मे इसका इसी नाम से उल्लेख किया गया है।

लगभग इसी समय भारत मे शंकराचार्य हुए। इनके विशुद्ध अद्वैत का प्रचार करने से कश्मीर के इस नये अद्वैतवादी शैवमत को वहुत कल मिली और उसकी प्रतिष्ठा वहुत वढ गई। शंकर के कश्मीर जाने का भी परम्परागत वृत्तान्त मिलता है। सम्भव है कि वह वास्तव में वहाँ गये हो और एक ओर तो वौद्ध तथा जैन मतो के उन्मूलन करने मे (जो सातवीं और आठवीं शती मे कश्मीर मे वहुत प्रवल थे) और दूसरी ओर वहाँ अद्वैतवाद को दृढ रूप से स्थापित करने मे सहायक हुए हो। कुछ भी हो, शकर के समय से कश्मीर मे अद्वैतवादी शैव सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया, और अनेक प्रख्यात विद्वान् उनके अनुयायी हो गये। इनमे सवसे वडे 'उत्पल' के शिष्य 'अभिनवगुप्त' थे। उन्होने 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ की रचना की, और तत्पश्चात् 'उत्पल' के 'प्रत्यभिज्ञा सूत्र' और

१. कश्मीर में शैवमत का यह वर्णन श्री चट्टोपाध्याय की कश्मीरी शैव-धर्म विषयक पुस्तक पर आधारित है।

'अभिनवगुप्त' का 'परमार्थसार' कश्मीरी शैव सिद्धान्त के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाने लगे। इन्हीं दो ग्रन्थों में कश्मीर में शैव सिद्धान्त का पूर्ण विकास होता है। अभिनवगुप्त के शिष्य 'क्षेमराज' ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में वसुगुप्त के शिवसूत्रों की व्याख्या की। क्षेमराज ने अन्य भी अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे, जिनमे उन्होंने इस प्रत्यभिज्ञादर्शन की विस्तृत व्याख्या की। इनमें से 'प्रत्यभिज्ञाहृदय', 'स्पन्दसन्दोह' और 'स्पन्दनिर्णय' प्रमुख हैं।

क्षेमराज के बाद प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास प्रधानतः उपर्युक्त ग्रन्थों पर टीकाओं द्वारा ही हुआ। इन टीकाकारों में सबसे बड़े 'योगराज' हुए हैं। यह भी 'अभिनवगुप्त' के ही शिष्य थे। इन्होंने 'अभिनवगुप्त' के परमार्थसार पर एक टीका लिखी थी। कुछ काल बाद बारहवीं शती में 'जयरथ' ने 'अभिनवगुप्त' के 'तन्त्रालोक' पर टीका लिखी। 'योगराज' के बाद तेरहवीं शती के अन्ततक, जब हमारा यह दिग्दर्शन समाप्त होता है, कश्मीरी शैवमत के इतिहास में और कोई बड़ा विद्वान् नहीं हुआ।

कश्मीरी शैवमत के विकास और इतिहास का इस प्रकार संक्षिप्त विवरण दे देने के बाद अब हम जरा उन विशेष सिद्धान्तों पर भी एक दृष्टि डाल लें। उनमें से पहला तो शक्ति अथवा प्रकृति-सम्बन्धी है। शैव सिद्धान्त में शक्ति को लगभग उसी प्रकार शिव की समवर्तिनी माना जाता था, जिस प्रकार सांख्य में प्रकृति को। परन्तु कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन में उसको परमशिव अथवा पुरुष की अभिव्यक्ति मात्र माना गया है। उसका निवास भी परमशिव में और केवल उन्हीं में है, और उसको हम परमशिव की सृजनशक्ति कह सकते हैं। इसी कारण वह परमशिव से अभिन्न है। इस प्रकार शैव सिद्धान्त में जो द्वैत का भास होता था, उसको प्रत्यभिज्ञादर्शन के अद्वैत में परिणत कर दिया गया। इस शक्ति के पाँच मूल रूप हैं—(१) चित्शक्ति अर्थात् परमशिव की आत्मानुभूति की शक्ति, (२) 'आनन्द शक्ति' अर्थात् परमशिव की परमानन्द की शक्ति, (३) इच्छा शक्ति अर्थात् परमशिव की वह शक्ति जिसके द्वारा वह अपने-आपको सृष्टि का निर्माण करने के हेतु एक परम इच्छा से युक्त पाते हैं, (४) ज्ञान शक्ति, अर्थात् परमशिव की सर्वज्ञता की शक्ति और (५) क्रिया शक्ति अर्थात् परमशिव की वह शक्ति जिसके द्वारा वह इस अनेकरूप विश्व को व्यक्त करते हैं। शक्ति जब अपना यह अन्तिम रूप धारण करती है, तब सृष्टि का कार्य वास्तव में प्रारम्भ होता है, जिसे 'आभास' कहते हैं। इस आभास की कल्पना लगभग वैसी ही है जैसी वेदान्त में 'विवर्त्त' की। भेद केवल इतना ही है कि वेदान्त में इस व्यक्त विश्व की अनेकरूपता को 'माया' माना गया है, वह न सत् है न असत्—"सदसद्भ्याम् निर्वाच्या"। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस अनेकरूपता को सत् माना गया है, क्योंकि जिस किसी वस्तु को परमशिव से सम्बन्ध है वह असत् नहीं हो सकती। जीवात्मा सारभाव से परमशिव की ही अभिव्यक्ति मात्र है और माया द्वारा सीमित है। माया का यहाँ अर्थ है—परमशिव के तिरोभूत हो जाने की शक्ति, भौतिक विश्व की सृष्टि से ठीक पहले परमशिव इस अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में परमशिव का विश्व से जो वास्तविक सम्बन्ध है, उसका तिरोभाव हो जाता है और परमशिव अपने-आपको

'काल', 'नियति', 'राग', 'विद्या' और 'कला' के पचविध वन्धन में सीमित कर लेते हैं। इसी के साथ-साथ परम-शिव एक से अनेक हो जाते हैं और इस प्रकार असख्य जीवात्माओं का प्रादुर्भाव होता है। यह जीवात्मा जन्म-मरण के अनेक चक्करो मे से गुजरते हैं और अन्त में सद्ज्ञान प्राप्त कर और अपने सच्चे स्वरूप और परमशिव के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को पहचान कर वन्धनमुक्त होते हैं। वे फिर असीम परमशिव का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ भी हम देखते हैं कि प्रत्यभिज्ञादर्शन वेदान्त के ब्रह्म और जीव के तादात्म्य के सिद्धान्त और मोक्ष प्राप्ति पर जीव के ब्रह्म मे सपूर्ण रूप से विलीन हो जाने के सिद्धान्त के ही अधिक निकट है।

अष्टम अध्याय

पिछले अध्यायो में हमने अति प्राचीन काल से लेकर तेरहवीं शती तक, भारत में शैव धर्म के प्रादुर्भाव और एक प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में, उसके पूर्ण विकास के लम्बे इतिहास का, दिग्दर्शन किया है। परन्तु शैव धर्म का प्रचार केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहा। ईस्वी सन् के प्रारम्भ से और वास्तव मे तो उससे भी बहुत पहले से, भारत के पडोसी देशो पर और सुदूरपूर्व के प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव पडा। उपलब्ध अभिलेखो से पता चलता है कि अति प्राचीन काल से ही भारत का अपने पडोसी देशो के साथ तथा पूर्वी द्वीप-मण्डल और हिन्द-चीन के साथ बडा घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त अति प्राचीन काल से ही भारतीय प्रवासियो का पूर्व की ओर प्रायः निरन्तर ही एक प्रवाह-सा चलता रहा है और ये लोग अधिकतर इन्हीं देशो मे जाकर बसे, यद्यपि कुछ साहसी लोग सुदूर यूरोप और अमेरिका भी पहुँचे थे। इन देशो का भारत के साथ इस प्रकार इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने के फलस्वरूप यहाँ एक सर्वतोमुखी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कुछ समय तक तो भारत की प्रौढ सभ्यता से टक्कर ली। इन देशो मे भारतीय धर्म का भी प्रचार हुआ और अन्य मतो के साथ-साथ शैवमत भी वहाँ पहुँचा, और जबतक वह सभ्यता वहाँ बनी रही, तब तक शैव धर्म का भी वहाँ प्रचार रहा। अत अपने इस दिग्दर्शन को समाप्त करने से पहले हम इस अध्याय में उपलब्ध अभिलेखो से संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारत के बाहर शैवधर्म ने क्या रूप धारण किया और वहाँ उसका क्या इतिहास रहा?

भारत की सीमा से लगे हुए देशो (नेपाल और तिब्बत, बर्मा और सिंहल द्वीप) मे अशोक के समय से ही बौद्ध धर्म ने बडी पक्की जड पकड़ ली थी और एक नेपाल को छोड कर, जहाँ ब्राह्मण-धर्म का पुन प्रचार हुआ, शेष सब देशो मे तब से लेकर आज तक बौद्ध धर्म का ही प्राधान्य रहा है। नेपाल में वैष्णव, शैव और महायान बौद्ध मत दीर्घ काल तक साथ-साथ प्रचलित रहे। 'ह्वेन-सांग' के समय तक वहाँ यही स्थिति थी, उसके बाद भी बहुत दिनो तक इस स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु फिर वैष्णव और शैव मतो का प्रचार धीरे-धीरे बढता गया और बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण होता गया। इसी समय यहाँ शाक्त मत भी फैला और आजकल तो नेपाल मे देवी के अनेक मन्दिर हैं जिनमे 'भाटगाँव' का 'देवी भवानी' का मन्दिर तो बडा भव्य है। परन्तु इस देश मे उपलब्ध अभिलेख चौदहवी शती से पहले के नहीं हैं, अत इससे पूर्वकाल के धार्मिक इतिहास का सम्यक् अध्ययन करना सम्भव नहीं है। तिब्बत मे भी कुछ शैवमन्दिर पाये जाते हैं, और वहां शैव और बौद्ध दोनो ही मन्दिरो के सामने गणेश की मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। परन्तु इससे अधिक शैव मत के सम्बन्ध मे हमें कुछ पता नहीं लगता। अत अब हम इन देशो से कुछ अधिक पूर्व की ओर हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप मण्डल की ओर चलते हैं जहाँ शैव मत का प्रचार काफी पहले हो चुका था और जहाँ उपलब्ध अभिलेख भी प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। यह अभिलेख अधिकतर शिलालेखो और इमारतो के रूप मे हैं जो ईस्वी

सन् की प्रथम शती से लेकर पन्द्रहवीं या सोलहवीं शती तक के हैं। इन अभिलेखो से हमे इन देशों के धार्मिक इतिहास का काफी व्योरा मिल जाता है। सबसे अधिक अभिलेख हिन्द-चीन के चम्पा और कम्बोज प्रदेशो मे पाये जाते हैं। अतः हम अपना अध्ययन यहीं से प्रारम्भ करते हैं।

हिन्द-चीन मे शैव मत का उल्लेख प्रथम बार चम्पा मे ४०० ईस्वी के 'चोहदिन' शिलालेख मे मिलता है। इस समय तक शैवमत इस देश मे दृढ रूप से स्थापित हो गया था और स्वय नृपति इसका अनुयायी था। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस शिलालेख में शैव मत की उपासना का जो प्रकार दीखता है, वह न तो पौराणिक है, न रामायण-महाभारत जैसा है, अपितु वह वैदिक उपासना के अधिक निकट है। इस शिलालेख में एक यज्ञ का उल्लेख किया गया है जो राजा 'भद्रवर्मा' ने भगवान् शिव की उपासना के रूप में किया था और जो लगभग वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार सपन्न हुआ था। शिलालेख की भाषा भी हमे वैदिक मत्रों का स्मरण कराती है[1]। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे पहले इस देश मे वैदिक धर्म का प्रचार हुआ था, परन्तु चूँकि यह देश भारत से इतना दूर था, अतः यहाँ का धार्मिक विकास भारत के धार्मिक विकास के साथ-साथ न चल सका और इसके फलस्वरूप यहाँ एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। वह स्थिति यह थी कि एक ओर तो यहाँ दीर्घ काल तक उपासना का बाह्य प्रकार वैदिक ही रहा, और दूसरी ओर भारत मे जो नई धार्मिक परिपाटी बनी थी, उसके प्रधान दो देवताओं, विष्णु और शिव की उपासना का प्रचार भी भारत से आये प्रवासियो द्वारा होने लगा और पुरानी तथा नवीन दोना परिपाटियों का सम्मिश्रण हो गया। इस धारणा की पुष्टि एक दूसरे शिलालेख से होती है जो इसी शिलालेख की पूर्ति करता है। इस दूसरे शिलालेख मे केवल एक वाक्य है 'शिवो दासो बध्यते'। वैदिक उपासना मे नरमेध की प्रथा का उल्लेख हम प्रारम्भिक अध्यायों मे कर आये हैं। बहुत सम्भव है कि यह प्रथा अन्य देशो के समान चम्पा में भी प्रचलित रही हो, और इस शिलालेख का सकेत उस व्यक्ति की ओर है जिसको शिव के सम्मान में अनुष्ठित यज्ञ में बलि दिया जा रहा था। शिव को अतिप्राचीन काल मे नर-बलि दी जाती थी, यह भी हम पहले देख चुके हैं।

समकालीन भारतीय धार्मिक परिपाटी का प्रभाव भी इन देशो पर धीरे-धीरे पड़ रहा था। यह इसी राजा के एक अन्य शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है जिसमे शिव को 'महेश्वर' कहा गया है और उनकी पत्नी उमा का भी उल्लेख किया गया है। इसके साथ ब्रह्मा और विष्णु की चर्चा भी की गई है और इनकी वन्दना की गई है[2]। पाँचवीं शती के अन्त और छठी शती के प्रारम्भ तक इस देश मे शैवमत का स्वरूप लगभग पौराणिक हो गया था और इसी समय के राजा 'शम्भुवर्मा' के 'माइसोन शिलालेख' में शिव को जगत्कर्ता, जगत्पालक और जगत्-संहर्ता—तीनो लोको का एक कारण, शुद्ध, केवल, सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्ञ बतलाया गया है। यह वर्णन लगभग उसी प्रकार किया गया है जैसा कि पुराणों

---

१. उदाहरणार्थ : 'अग्नये त्वा जुष्टं करिष्यामि'।

२. देखो परिशिष्ट नं० २।

में[1]। छठी शती के उत्तरार्द्ध में 'प्रकाशधर्मा' के अनेक शिलालेखों से हमें पता चलता है कि इस समय तक इस देश मे शिवलिंग की उपासना का भी खूब प्रचार हो गया था और स्वय 'प्रकाशधर्मा' ने एक मन्दिर में शिवलिंग की स्थापना की थी। इसी राजा के 'माइसोन शिलालेख' में शिव को परमब्रह्म और दृश्यजगत् का स्रोत माना गया है[2]। इसी शिलालेख मे शिव के 'कपाली' रूप की ओर इस रूप में उनके श्मशान-भूमि से सम्बन्ध की ओर भी सकेत किया गया है और जिस ढंग से यह सकेत किया गया है, वह भी ध्यान देने योग्य है। लेखकर्त्ता को अचम्भा होता है कि जिस देवता का ब्रह्मा और विष्णु सहित सब देवता सम्मान करते हैं, वह श्मशान-भूमि में नृत्य करना पसन्द करता है। यद्यपि उसके इस विचित्र आचरण मे भी मानव का कल्याण अवश्य निहित होगा, तथापि साधारण मनुष्यों की समझ में यह वात सुगमता से नहीं आती[3]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि लेखक शिव के इस कपाली रूप से अनभिज्ञ था और इस रूप का ज्ञान भारतीय पुराणों तथा अन्य भारतीय ग्रन्थों, मे जिनका यहाँ प्रचार था, शिव की कपाली स्वरूप-सम्बन्धी उपाधियों से प्राप्त हुआ था। आगे देखेंगे कि शिव के इस रूप का उल्लेख हिन्द-चीन के अभिलेखों में बहुत कम होता है, और कापालिक सम्प्रदाय की तो कभी कोई चर्चा आती ही नही। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस सम्प्रदाय का यहाँ प्रादुर्भाव नहीं हो सका। इसी शिलालेख के एक अन्य पद्य में शिव की अष्टमूर्ति का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि इनके विना सृष्टि का कार्य नही हो सकता। राजा 'प्रकाशधर्मा' को इसी स्थान में एक पत्थर की चौकी पर एक और लेख मिला है जिसमें कुवेर को शिव का सखा बताया गया है, और पार्वती की ओर देखने पर कुवेर के 'काना' हो जाने की, पौराणिक कथा की, ओर भी सकेत किया गया है[4]।

सातवीं शती के अभिलेखो में भी हमें 'चम्पा' में शैव धर्म का पौराणिक रूप दिखाई देता है। राजा 'विक्रान्तवर्मा' के 'माइसोन शिलालेख' में वृषभ को शिव का वाहन कहा गया है, और उपमन्यु की तपस्या तथा शिव द्वारा वर प्राप्त करने की कथा का भी उल्लेख किया गया है[5]। शिव की अष्टमूर्ति की चर्चा भी की गई है, और दूसरे पद्य में इन आठो मूर्तियो का सम्बन्ध शिव के आठ विभिन्न नामों से किया गया है। 'विक्रान्तवर्मा' के वाद विक्रान्तवर्मा द्वितीय राजा हुआ, और यह भी शैवमत का सरक्षक था। उसका 'माइसोन शिलालेख' आठवीं शती के प्रारम्भ का है, और उस शिव को ब्रह्मा और विष्णु से बड़ा माना गया है। इन दोनो देवताओ को शिव के चरणों की वन्दना करते हुए भी बताया गया है[6]। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध के राजा सत्यवर्मा के 'पो-नगर' वाले शिलालेख,

---

१ देखो परिशिष्ट में न० ३।
२. ,, ,, न० ६।
३ ,, ,, न० ६।
४ ,, ,, न० ७।
५ ,, ,, न० ६।
६ ,, ,, न० २०।

मे प्रथम वार 'मुखलिगो' का उल्लेख किया गया है। इसके साथ साथ देवी और गरोश की प्रतिमाओ की चर्चा भी की गई है। अत: इस समय तक इन सवका यहाँ प्रचार हो चुका था।

राजा 'सत्यवर्मा' के शिलालेख के वाद हमे नवीं शती के राजा 'इन्द्रवर्मा' का 'ग्लाई लामोव' शिलालेख मिलता है, जिसमे 'त्रिपुरदाह' की कथा का उल्लेख है[1]। इसी शिलालेख मे शिव के तीन नेत्रों तथा उनके शरीर पर मली भस्म की भी चर्चा की गई है तथा शिव-भक्तो के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे मृत्यु के पश्चात् सीधे रुद्रलोक को जाते हैं। इसी राजा के 'याग-तिकुह' शिलालेख मे जो ७९९ ईस्वी का है, शिव के मन्दिरो मे दास और दासियाँ समर्पण करने की प्रथा का उल्लेख किया गया है[2]। पहले अध्यायो मे हम देख चुके हैं कि यह प्रथा दक्षिण भारत मे प्रचलित थी, और सम्भवतः वहीं से यहाँ चम्पा मे भी लाई गई थी। यहाँ प्रतीत होता है कि इसका प्रचार खूव हो गया, क्योंकि अन्य भी अनेक शिलालेखो में इसकी चर्चा आई है[3]। इसी शिला-लेख मे शिव को 'पाताल प्रभव' कहा गया है। यह एक विलकुल नई उपाधि है, जिसकी ठीक-ठीक उत्पत्ति का पता हमको नहीं चलता।

नवीं शताब्दी के 'वकुल-शिला लेख' मे एक सामन्त का उल्लेख किया गया है, जिसने जैनो और शैवो दोनों को दान दिये थे[4]। इससे पता चलता है कि इस समय तक यहाँ कोई धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक सघर्ष नहीं था। वास्तव मे इस प्रकार के सघर्ष का नितान्त अभाव हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीपमडल के धार्मिक इतिहास का मुख्य लक्षण है। धार्मिक सहिष्णुता की यह भावना नवीं शती के उत्तरार्द्ध के राजा 'इन्द्रवर्मन' द्वितीय के 'दोग-दुओंग' शिलालेख मे भी दिखाई देती है[5]। यह शिलालेख वौद्ध है। राजा भी वौद्ध ही प्रतीत होता है; क्योंकि लेख में कहा गया है कि उसने 'स्वभयद' और 'लोकेश्वर' की मूर्तियो की स्थापना की थी। परन्तु इसी शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि इस राजा ने एक शिवलिंग का भी स्थापना की थी। इस धार्मिक सिहष्णुता का एक कारण यह भी हो सकता है कि महायान वौद्धमत ब्राह्मण-धर्म के वहुत निकट आ गया था और धीरे-धीरे वह अधिकाधिक इसके प्रभाव में आता ही चला गया। इस प्रकार महायान वौद्धमत के ब्राह्मण-धर्म विरोधी लक्षण मिट जाने पर इसको अव ब्राह्मण धर्मानुकूल मतो का प्रतिस्पर्धी नहीं, अपितु उन्हीं मे से एक माना जाने लगा था। इन मतो मे भी परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेप कभी नहीं हुआ। इसके विपरीत इन प्रदेशो मे, हम इन विभिन्न मतो में, एक दूसरे के विशिष्ट लक्षणो को आत्मसात् कर लेने की एक स्पष्ट प्रवृत्ति देखते हैं, जिसके फलस्वरूप इनकी अपनी-अपनी विशिष्टता अस्पष्ट होती जा रही थी। इस प्रवृत्ति का संकेत हमें उपर्युक्त शिलालेख मे ही मिलता है। प्रथम तो

१. देखो परिशिष्ट नं० १२।

२. ,, ,, ,, नं० ११।

३. ,, ,, ,, नं० १५।

४ ,, ,, ,, नं० १३।

५. ,, ,, ,, नं० १५।

इससे हमें यह ज्ञात होता है कि राजा ने बौद्ध 'लोकेश्वर' के मन्दिर को दास और दासियाँ ठीक उसी प्रकार समर्पण की थीं, जिस प्रकार शैव मन्दिरों को की जाती थीं। इससे पता चलता है कि बौद्धमत शैवमत के आचारों को ग्रहण कर रहा था। दूसरे इस शिलालेख में लोकेश्वर को सर्वत्र 'लक्ष्मीन्द्र' कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि बौद्धमत में वैष्णव देवताओं का भी समावेश हो रहा था। आगे चलकर हमें इस प्रवृत्ति के और भी संकेत मिलेंगे।

नवीं शताब्दी में हमें 'इन्द्रवर्मा' तृतीय और 'जयसिंहवर्मा' प्रथम के शिलालेख भी मिलते हैं, और इनसे तत्कालीन शैवमत का रूप कुछ और स्पष्ट होता है। इन्द्रवर्मा तृतीय के 'वो-माग' शिलालेख में 'मुखलिंगों' का उल्लेख किया गया है, जिनकी स्थापना इस राजा ने की और इसके साथ-साथ शिव की सहचरी देवी की प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनको शिव-मूर्तियों के साथ-साथ रखा गया था[1]। इसी शिलालेख से हमें यह भी ज्ञात होता है कि मन्दिरों को दास और दासियाँ इस कारण समर्पित की जाती थीं कि वह उन खेतों में काम करें जो मन्दिरों को चलाने के लिए दान में दिये जाते थे। जहाँ कहीं खेत नहीं होते थे, वहाँ ये दास-दासियाँ मन्दिर के कुछ और छोटे-मोटे काम करते थे।

'जयसिंहवर्मा' प्रथम के 'वाड-इयान्ह' शिलालेख, जो दसवीं शती के प्रारम्भ का है, ध्यान देने योग्य है। इसका कुछ भाग संस्कृत में और कुछ 'चाम' (चम्पा की भाषा) में लिखा गया है। संस्कृत भाग में शिव को 'गुहेश्वर' की असाधारण उपाधि दी गई है जो पुराणों में केवल कहीं-कहीं पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि पुराण-ग्रन्थों का खूब अच्छी तरह अध्ययन हुआ था। लेख का जो भाग चाम भाषा में लिखा हुआ है, उसमें एक संदर्भ इस प्रकार है—'जो लोग यह धर्मकार्य करेंगे जो अपने पुत्रों और पुत्रियों को मन्दिर की सम्पत्ति होकर रहने के लिए वहाँ छोड़ देंगे" इत्यादि। यहाँ दास-दासियों को नहीं, अपितु स्वयं अपनी सन्तान को मन्दिर में सेवार्थ समर्पण करने की ओर संकेत किया गया है। यह देव-दासी प्रथा भी नहीं है, क्योंकि उसमें केवल लड़कियों को ही देवता के सेवार्थ समर्पित किया जाता था। यह कहना कठिन है कि यहाँ इस विशेष प्रथा का जन्म कैसे हुआ? दाता के पुत्रों और पुत्रियों को यहाँ मन्दिर की सम्पत्ति माना गया है, इसका यह अर्थ हो सकता है कि वह मन्दिर में मंदिर के संरक्षकों के आदेशानुसार काम करते थे। परन्तु यह काम क्या होता था, इसका कोई संकेत नहीं मिलता।

उपर्युक्त शिलालेख से कुछ समय बाद का हमें ९०६ ई० का 'भद्रवर्मा' का 'होअ-न्ने' शिलालेख मिलता है, जिसमें 'लिंग पुराण' के ढंग पर शिवलिंग का उत्कर्ष किया गया है। शिवलिंग को शाश्वत, असीम इत्यादि कहा गया है और ब्रह्मा तथा विष्णु द्वारा शिव-लिंग का पार न पा सकने की कथा का उल्लेख इसके उदाहरणस्वरूप किया गया है। शिलालेख के अन्त में 'त्रिमूर्ति' का उल्लेख भी किया गया है जिसमें शिव के दक्षिण पक्ष में ब्रह्मा और वाम पक्ष में विष्णु हैं[2]। इसी राजा के 'वाग-अन्' शिलालेख में शिव को भस्म-

१ देखो परिशिष्ट नं० १६।
२ ,, ,, नं० १७।

पुंज पर समासीन वताया गया है, जहाँ अन्य सव देवता उनकी वन्दना करते हैं। इसी समय के एक और शिलालेख में जो रुद्रवर्मा तृतीय का है, मदन-दहन की कथा की ओर सकेत किया गया है। इसी समय के 'इन्द्रवर्मा' तृतीय के 'न्हन-विग्र' शिलालेख मे, एक राजकर्मचारी और उसके पुत्र द्वारा पहले एक शिवलिंग का प्रतिष्ठापन किये जाने और फिर उन्हीं के द्वारा अवलोकितेश्वर के वौद्ध-विहार की स्थापना किये जाने का उल्लेख किया गया है। इससे एक वार फिर शैव और वौद्धमतो के वीच किसी प्रकार के सघर्ष का अभाव सिद्ध होता है। इन्द्रवर्मा तृतीय के 'पो-नगर' शिलालेख से हमे पहली वार यहाँ शैव-श्रुतियों के अस्तित्व का पता चलता है। इनको यहाँ 'उत्तरकल्प' कहा गया है, और 'इन्द्रवर्मा' तृतीय को इनमें पारगत वताया गया है[1]। परन्तु इनके सम्वन्ध मे हमे न तो इस शिलालेख से न अन्य किसी स्रोत से कुछ और पता चलता है, अत' उनके स्वरूप और भारतीय शैव आगमों के साथ इनके सम्वन्ध के विपय मे कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

दसवीं और ग्यारहवीं शती के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि चम्पा मे शैवधर्म का अभी तक खूव प्रचार था। 'परमेश्वरवर्मा' प्रथम के 'पो-क्लम-गरई' शिलालेखो मे, जो लगभग १०५० ई० के हैं, वताया गया है कि एक वार जव कुछ विद्रोहियो को शिवलिंग और उसके चिह्न दिखाये गये, तव वह उनसे वहुत प्रभावित हुए। इसी राजा के 'पो-नगर' मन्दिर के शिलालेख से हमे इस समय यहाँ शक्ति-पूजा के अस्तित्व का भी पता चलता है। इस शिलालेख मे देवी को पराशक्ति कहकर उसकी स्तुति की गई है, और उसे शिव के साथ सयुक्त माना गया है। उसको 'यम्पु-नगर' की अधिष्ठातृ देवी कहा गया है[2]। इस स्थल पर इसी राजा के एक दूसरे शिलालेख में देवी का फिर उल्लेख किया गया हैं, जिसके मन्दिर मे विभिन्न जातियो के पचपन दास सेवार्थ समर्पित किये गये थे। इसी स्थल पर एक अपरकालीन शिलालेख में देवी को 'मलदकुठारा' कहा गया है[3], जो एक स्थानीय नाम मालूम होता है। इस शिलालेख मे फिर कहा गया है कि 'यम्पुनगर' मे देवी की वडी ख्याति थी। अतः यह स्थान देवी की उपासना का एक प्रधान केन्द्र रहा होगा।

यहाँ हमे एक वात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि यद्यपि उपर्युक्त शिलालेख मे देवी की उपासना का प्रथम वार उल्लेख किया गया है, फिर भी स्वय देवी का उल्लेख इससे पूर्वकालीन अभिलेखों मे भी हुआ है। शिव की सहचरी के नाम और उसकी प्रतिमाओं का उल्लेख हम ऊपर देख आये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य शिलालेखो मे भी शिव की शक्ति के रूप मे देवी का अनेक वार उल्लेख हुआ है, और इस रूप में उनका स्वरूप वही था जैसा भारत मे। उदाहरणार्थ नवीं शती के 'फ्नोम-प्राह' विहार के एक शिलालेख मे देवी को 'शिवशक्ति' कहा गया है और उनके उपासक का नाम भी शिवशक्ति ही था[4]। लगभग इसी

१ देखो परिशिष्ट न० १८।
२. ,, ,, न० २०।
३ ,, ,, न० २०।
४. ,, ,, न० २४।

मय के 'प्रिग्र-केत्र' शिलालेख में भी इसी प्रकार देवी को 'शम्भुशक्ति' कहा गया है[1]। दसवीं ताती के 'प्रिग्र-आइनकोसी' शिलालेख में देवी का सरस्वती के साथ तादात्म्य किया गया है, और उन्हें वागीश्वरी का नाम दिया गया है[2]। भारतीय तन्त्रों के समान ही यहाँ भी उनको सर्वश्रेष्ठ देवता माना गया है, जो सृष्टि-विलय के समय इस विश्व-रूपी कमल को तोडकर ऊपर चली जाती हैं, और तदनन्तर एक बार फिर सृष्टि का काम प्रारम्भ करने के लिए नीचे उतरती हैं। उनकी एक उपाधि 'भुवनेश्वरोदयकरी' है, जिसका संकेत उनको पुरुष की चेतन बुद्धि और क्रिया शक्ति होने की ओर है। इससे सिद्ध होता है कि देवी के स्वरूप के दार्शनिक पक्ष का भी चम्पा में पर्याप्त ज्ञान था। इसके साथ-साथ चम्पा-निवासी शैवमत के उस सिद्धान्त से भी अनभिज्ञ नहीं थे, जिसके अनुसार शिवजन्य अनेक शक्तियों के अस्तित्व को माना गया है। कम-से-कम एक शिलालेख में इसका उल्लेख किया गया है[3]।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के शिलालेखों में भी शैवमत का लगभग यही स्वरूप दिखाई देता है। सन् ११६३ ईस्वी के राजा 'इन्द्रवर्मा' चतुर्थ के 'माइसोन मन्दिर' के एक शिलालेख में शिव के चतुर्मुख और पंचमुख रूप का उल्लेख किया गया है। इसी राजा के एक अन्य 'माइसोन-शिलालेख' भी, जो कुछ समय बाद का है, शिव की वन्दना से प्रारम्भ होता है, परन्तु इसमें राजा द्वारा लोकेश्वर और देवी 'जय इन्द्रेश्वरी' की प्रतिमाओं की स्थापना का उल्लेख किया गया है तथा फिर अगले ही वाक्य में राजा को एक शैवभक्त बताया गया है। इससे एक बार फिर यह पता चलता है कि बौद्ध और शैवमतों में किसी प्रकार का विद्वेष नहीं था और राजा लोग प्रायः सभी धर्मों को प्रश्रय देते थे। सूर्यवर्मा के 'माइसोन-स्तम्भ' लेख में, जो तेरहवीं शती के प्रारम्भ का है, राजा स्वयं तो बौद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि उसे महायान धर्म का अनुयायी बताया गया है, परन्तु उसका पुत्र शैव था और उसने शिव की एक प्रतिमा का प्रतिष्ठापन किया था। तेरहवीं शती के ही 'जयपरमेश्वरवर्मा' द्वितीय के 'पो-नगर' मन्दिर के एक शिलालेख में शिव-मन्दिर को सब जातियों के दास-दासियों का समर्पण किये जाने का उल्लेख किया गया है। इसी राजा के 'पो-दिन्ह' के मन्दिर के एक शिलालेख में, शिव को 'स्वयमुत्पन्न' की उपाधि दी गई है जो शिव की प्रचलित उपाधि 'स्वयम्भू' का ही रूपान्तर है।

हिन्द-चीन में वहाँ की धार्मिक स्थिति का ज्ञान हमें मुख्यतः शिलालेखों से ही होता है। जो इमारतें और अन्य पुरातात्त्विक अभिलेख वहाँ हैं, उनसे इन शिलालेखों के प्रमाणों की ही पुष्टि होती है। किसी नई बात का उनसे हमें पता नहीं चलता। परन्तु जब हम पूर्वी द्वीपमण्डल में आते हैं, तब हमारे ज्ञान के मुख्य स्रोत येही इमारतें और प्रतिमाएँ होती हैं, शिलालेखों का यहाँ प्रायः अभाव है। इस द्वीपमंडल में यवद्वीप (जावा) ही प्रमुख है। अतः पहले हम इसी को लेते हैं।

जावा में भी ब्राह्मण-धर्म का प्रचार अति प्राचीन काल में हुआ था। जब पाँचवीं शती

[1] देखो परिशिष्ट न० २५।
[2] ,, ,, न० २३।
[3] प्रकाशधर्मा का माइसोन शिलालेख (छठी शती), परिशिष्ट न० ६।

मे चीनी यात्री 'फा-हियान' वहाँ पहुँचा था, तब ब्राह्मण-धर्म का ही वहाँ सर्वाधिक प्रचार था। और उसी के शब्दों मे बौद्धमत का प्रभाव तो वहाँ 'चर्चा करने योग्य भी नहीं था'[१]। सातवीं शती मे 'तुकमस' स्थान पर एक शिलालेख के नीचे शैव और वैष्णव प्रतीक दिखाई देते हैं। मध्य जावा मे 'तजागल' स्थान पर एक अन्य शिलालेख मे 'अगस्त्य' गोत्र के एक ब्राह्मण द्वारा एक शैव मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख किया गया है। इस मन्दिर को भारत मे 'कुंजरकोण' के शैव मन्दिर के ढग पर बनवाया गया था। इससे सिद्ध होता है कि जावा द्वीप का दक्षिण भारत से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध दीर्घकाल तक बना रहा और अपरकालीन जावा संस्कृति के अनेक लक्षणो की उत्पत्ति इसी सम्बन्ध के फलस्वरूप हुई।

जावा मे शैव मत के प्रचार का प्रथम दृश्य प्रमाण 'दिएग उच्चसमस्थल' (Dieng Plateau) मे सातवीं शती के अनेक शैव मन्दिर हैं। उनका आकार दक्षिण भारतीय पगोडा के समान ही है और दक्षिण भारत के जावा पर प्रभाव का यह एक और विशेष प्रमाण है। इनमे से 'चण्डी श्रीखण्डी' नाम के एक मन्दिर की मूर्तियो पर शिव, ब्रह्मा और विष्णु के चित्र अंकित हैं। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध अथवा नवीं शती के प्रारम्भ का 'चण्डी बनोन' नाम का एक और शैव मन्दिर है, जिसपर शिव, ब्रह्मा और विष्णु के ही नहीं, अपितु गणेश का चित्र भी अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक यहाँ गणेश की उपासना का भी प्रसार हो चुका था। इसी मन्दिर मे अगस्त्य मुनि की भी एक मूर्ति पाई गई है। कालान्तर में यह मुनि 'शिव गुरु' के नाम से प्रसिद्ध हुए और जावा मे यह माना जाता है कि इन्होंने ही इस द्वीप में पहला शैव मन्दिर बनवाया था। इस किंवदन्ती के पीछे ऐतिहासिक तथ्य यह था कि अगस्त्य गोत्र के एक ब्राह्मण ने यहाँ एक शैव मन्दिर बनवाया था, जैसा कि हम ऊपर 'तुकमस' के शिलालेख मे देख आये हैं। सम्भवतः यह मन्दिर जावा का प्रथम शैव मन्दिर था। इसी समय की (अर्थात् आठवीं शती के अन्त अथवा नवीं शती के प्रारम्भ की) एक दुर्गा की मूर्ति भी पाई गई है, जो आजकल हालैंड के 'लीडन' नगर के अजायबघर मे है। इसमें देवी 'अष्टभुजा' है और सर्वविध शस्त्र धारण किये हुए हैं। यह मूर्ति साधारणतया देवी की भारतीय प्रतिमाओं के समान ही है। इस मूर्ति से सिद्ध होता है कि आठवीं या नवीं शती तक जावा मे देवी की उपासना का भी प्रचार हो गया था। परन्तु जावा मे सबसे प्रसिद्ध शैव मन्दिर वह हैं, जो सामूहिक रूप से 'चण्डी लो-रो-जगरग' कहलाते हैं। यह नवीं शती के अन्त का है, और अपने गौरव और वैभव मे बौद्ध 'बोरोबुदूर' के तुल्य है। इनमे से केन्द्रीय मन्दिर शिव का है, और इसमें भगवान् शिव की जो मूर्ति है, उसमें उन्हें खड़े हुए और चतुर्भुज दिखाया गया है। इसी स्थल पर अष्टभुजा देवी की एक मूर्ति भी पाई गई है, जिसमे देवी को महिषासुर का वध करते हुए चित्रित किया गया है। इस मूर्ति की अभी तक पूजा की जाती है। इसी समय का काँसे की बनी हुई शिव की एक और मूर्ति भी मिली है जो आजकल 'एस्सेन' के अजायबघर मे है। इसमे शिव चतुर्भुज, त्रिनेत्र कमण्डलधारी हैं और उनकी

१. फा-हियान : यात्रा अध्याय ४०।

भुजाएँ सर्प-वेष्टित हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक शिव के इस योगी स्वरूप का भी जावा-निवासियो को ज्ञान था।

दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शतियों मे भी जावा मे शैवमत का प्रचार रहा, यद्यपि इस काल की इमारतें आदि अधिक संख्या मे नही मिलतीं। परन्तु तेरहवीं शती में ये फिर प्रचुरता से पाई जाती हैं। पूर्वी जावा में 'चण्डी किदन' नाम का एक शैव मन्दिर इसी समय का है, जिससे ज्ञात होता है कि इस समय तक शैवमत जावा की पूर्वी सीमा तक फैल गया था। इसी समय हमें इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि कुछ समय पहले जावा मे तान्त्रिक मत का भी प्रचार हो गया था और तेरहवीं शती तक वह यहाँ दृढ रूप से स्थापित हो गया था। 'सिगासुरी' स्थान पर 'चण्डी-जागो' नाम के मन्दिर में गणेश की एक मूर्ति पाई गई है, जिसमें गणेश के तान्त्रिक रूप को ही दिखाया गया है। उनके मस्तक और कानों के इर्द-गिर्द नरमुण्डो के चिह्न अंकित हैं और जिस आसन पर वह आसीन है, वह मुण्डमाला से परिवेष्टित है। इसके अतिरिक्त इसी स्थल पर और इसी समय की, शिव के भैरव रूप की भी, एक मूर्ति पाई गई है जिसमे शिव, दंष्ट्रिन् और मुण्डमाला से परिवेष्टित हैं। इस मूर्ति का यह विशेष लक्षण यह है कि इसमे भगवान् शिव को एक कुत्ते पर आरूढ दिखाया गया है। हम पहले ही देख आये हैं कि शिव के क्रूर रूप में कभी-कभी एक कुत्ते का उनके साथ साहचर्य रहता था। परन्तु शिव को इस प्रकार कुत्ते पर आरूढ भारत की किसी मूर्ति मे नही दिखाया गया है, और न तो इसका वर्णन किसी ग्रन्थ अथवा शिला-लेख मे किया गया है। अतः इसको हमे जावा मे शिव के स्वरूप का एक नया विकास मानना होगा। शिव और गणेश की इन मूर्तियों के साथ ही 'महिषमर्दिनी' रूप मे देवी की एक और मूर्ति भी मिली है। स्पष्टत देवी के इस रूप की जावा में सर्वाधिक उपासना होती थी। तेरहवीं शती की ही 'बारा' मे मिली गणेश की प्रख्यात प्रतिमा है जिसमें गणेश का वही तान्त्रिक रूप दिखाया गया है, और उनके भयावह रूप को पीछे की ओर भी एक मुख बना कर और भी भयानक बना दिया गया है।

तेरहवीं शती मे ही जावा मे 'मजपिट' साम्राज्य फैला हुआ था। प्रख्यात सम्राट् 'कृतनगर' इसी वंश का था। इस राजा का राज्यकाल कई दृष्टियो से बडे महत्त्व का है। वह साहित्य और कला का तो एक महान् प्रश्रय-दाता था ही, इसके राज्यकाल मे दोनों की ही खूब अभिवृद्धि हुई, परन्तु इसके साथ-साथ यह भी प्रसिद्ध है कि उसी राजा ने तान्त्रिक मत को भी राजाश्रय दिया था, और स्वय तान्त्रिक विधियो के अनुसार अनेक सस्कार कराये थे। परन्तु हमारे दृष्टिकोण मे इस राजा के राज्यकाल मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई थी कि शैव और बौद्ध मतो के परस्पर सम्मिश्रण की जो प्रक्रिया दीर्घकाल मे चल रही थी और जिसके अनेक संकेत हम हिन्द-चीन मे देख आये हैं, वह अब आकर पूर्ण हो गई। जावा मे अति प्राचीन काल से शैव और बौद्ध मन्दिर साथ-साथ बनाये जाते थे। शिव और गणेश की तान्त्रिक प्रतिमाएँ भी, जिनका उल्लेख किया गया है, एक बौद्ध-मन्दिर के पास ही पाई गई थीं। राजा 'कृतनगर' के राज्यकाल मे ये दोनों मत लगभग एक दूसरे से मिलकर एक ही गये। स्वय राजा अपने-आपको शिव और

गणेश की अनेक स्तुतियाँ मिलती हैं, जिनका रूप बिल्कुल पौराणिक है। अतः इनसे सिद्ध होता है कि बालि द्वीप में शैव धर्म का प्रचार लगभग आधुनिक समय तक रहा और उसका रूप साराशत. पौराणिक था। इन ग्रन्थों का सकलन प्रसिद्ध फ्रासीसी विद्वान् 'श्रीलेवी' ने किया है[१]।

पूर्वी द्वीप-मडल के अन्य द्वीपों और मलय प्रायद्वीप में शैव धर्म के प्रचार के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान केवल इतने तक ही सीमित है कि वहाँ भी शिव, गणेश और देवी की मूर्तियाँ पाई गई हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि यहाँ भी किसी समय शैवधर्म का प्रचार रहा होगा। सुमात्रा द्वीप को छोडकर अन्य प्रदेशो मे यह अभिलेख भी इतना आंशिक है कि इसके आधार पर वहाँ शैव धर्म के इतिहास का कोई क्रम-बद्ध विवरण देना सम्भव नहीं है। 'सुमात्राद्वीप' मे शैव मत का स्वरूप 'हिन्द-चीन' और 'जावा' से किसी भी रूप में भिन्न नहीं था। अत इस दिग्दर्शन की हम अब इति करते हैं।

परिशिष्ट-भाग

परिशिष्ट : प्रथम अध्याय

ऋग्वेद में रुद्र-सम्बन्धी सूक्त और मन्त्र[1]

मण्डल	सूक्त	मंत्र	अग्नि को रुद्र कहा गया है—
१	२७	१०	जरावोध तद् विविड्ढि, विशेविशे यज्ञियाय । स्तोम रुद्राय दृशीकम् ॥
			रुद्र-सोमसूक्त
,,	४३	१	कद् रुद्राय प्रचेतसे मीढ्‌ुष्टमाय तव्यसे । वोचेम शतमम् हृदे ॥
,,	,,	२	यथा नो अदितिः करत् पश्वे नृभ्यो यथा गवे । यथा तोकाय रुद्रियम् ॥
,,	,,	३	यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश्चिकेतति । यथा विश्वे सजोपसः ॥
,,	,,	४	गाथपतिं मेधपतिं रुद्र जलापभेपजम् । तच्छयोः सुम्नम् ईमहे ॥
,,	,,	५	य शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते । श्रेष्ठो देवाना वसु' ॥
,,	,,	६	श नः करत्यर्वते सुग मेपाय मेष्ये । नृभ्यो नारिभ्यो गवे ॥
			अगले तीन मंत्र सोम के हैं —
,,	,,	७	अस्मे सोमश्रियम् अधि निधेहि शतस्य नृणाम् । महिश्रवस्तुविनृम्णम् ॥
,,	,,	८	मा नः सोमपरिवाधो मारातयो जुहुरन्त । आ न इन्दो वाजे भज ॥
,,	,,	९	यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्, धामन् ऋतस्य । मूर्धा नाभा सोम वेन आभूपन्तीः सोम वेदः ॥
			रुद्र-सूक्त
,,	११४	१	इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः । यथा शम् असद् द्विपदे चतुष्पदे, विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ।
,,	,,	२	मृला नो रुद्रोत नो मयस्कृधि, क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते । यच्छम् च योश्च मनुरायेजे पिता, तदश्याम तव रुद्र प्रणीतीषु ॥
,,	,,	३	अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया, क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः । सुम्नायन्निद्विशो अस्माकम् आचरा-रिष्टवीरा जुहवाम ते हविः ॥
,,	,,	४	त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाध, वकु कविं, अवसे निह्वयामहे । आरे अस्मद् दैव्यं हेलो अस्यतु, सुमतिम् इद् वयम् अस्या वृणीमहे ॥

---

१. छपाई की सुविधा के लिए यहाँ वैदिक मंत्रों के स्वर-सकेत नहीं दिये गये हैं ।

म०	सू०	मं०	
१	११४	५	दिवो वराहम् अरुष कपर्दिन, त्वेष रूप नमसा निह्वयामहे । हस्ते विभ्रद् भेषजा वार्याणि, शर्म वर्म छर्दिरस्मभ्य यसत् ।।
,,	,,	६	इद पित्रे मरुताम् उच्यते वच, स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् । रास्वा च नो अमृत मर्त-भोजन, त्मने तोकाय तनयाय मृल ।।
,,	,,	७	मा नो महान्तम् उत मा नो अर्भक, मा न उत्तन्तम् उत मा न उक्षितम् । मा नो वधी• पितर मोत मातर, मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिप• ।
,,	,,	८	मा नस्तोके तनये मा न आयौ, मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिपः । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्त• सदम् इत्त्वाहवामहे ।।
,,	,	९	उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकर, रास्वा पितर् मरुतां सुम्नम् अस्मे । भद्रा हिते सुमतिर्मृलयत्तमाथा वय अव इत्ते वृणीमहे ।।
,,	,,	१०	आ रे ते गोघ्न मुत पुरुषघ्न, क्षयद्वीर सुम्न अस्मे ते अस्तु । मृला च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च न• शर्म यच्छ द्विवर्हा ।।
,	,,	११	अवोचाम नमो अस्मा अवस्यव, शृणोतु नो हव रुद्रो मरुत्वान् । तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम्, अदिति• सिन्धु पृथिवी उत द्यौ• ।।

विश्वे देवा मंत्र.

म०	सू०	मं०	
,,	१२२	१	प्र व• पान्त रघुमन्यवोऽन्धो यज्ञ रुद्राय मीढ्ळुषे भरध्वम् ।

तीन केशियो का उल्लेख

म०	सू०	मं०	
,,	१६४	४४	त्रय• केशिन ऋतुथा विचक्षते, सवत्सरे वपत एक एषाम् । विश्वम् एको अभिचष्टे शचीभि-र्ध्राजिरेकस्य दहशे न रूपम् ।।

अग्नि को रुद्र कहा गया है

म०	सू०	मं०	
२	१	६	त्वम् अग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्व शर्धो मारुत पृक्ष ईशिषे । त्व वातैररुणैर्यासि शगयस्त्व पूषा विधत• पासि नु त्मना ।।

रुद्र-सूक्त

म०	सू०	मं०	
,,	३३	१	आ ते पितर्मरुता सुम्नम् एतु, मा न सूर्यस्य सदृशो युयोथा• । अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत, प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभि• ।।
,,	,,	२	त्वा दत्तेभि रुद्र शन्तमेभि, शत हिमा अशीय भेषजेभि• । व्यस्मद् द्वेषो वितर व्यहो, व्यमीवाश्चातयस्वा विषूची• ।।
,,	,,	३	श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि, तवस्तमस्तवसा वज्रबाहो । पर्षि ण पार अहस स्वस्ति, विश्वा अभीती रपसो युयोधि ।।
,,	,,	४	मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती । उन्नो वीरान् अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तम त्वा भिषजा शृणोमि ।।

म०	सू०	मं०	
२	३३	५	हवीम् अभिर्हवते यो हविर्भिरव, स्तोमेभी रुद्र दिपीय । ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै वभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ॥
"	"	६	उन् मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्, त्वत्तीयसा वयसा नाधमानम् । घृणीव छायामरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥
"	"	७	क्वस्य ते रुद्र मृलयाकुर्हस्तो, यो अस्ति भेपजो जलापः । अपभर्ता रपसो दैव्यस्याऽभी नु मा वृपभ चत्तमीथाः ॥
"	"	८	प्रवभ्रवे वृपभाय शिवतीचे, महो महीं सुष्टुतिमीरयामि । नमस्या कल्मलीकिन नमोभिर्गृणीमसी त्वेप रुद्रस्य नाम ॥
"	"	९	स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो वभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः । ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योपद् रुद्राद् असुर्यम् ॥
"	"	१०	अर्हन् विभर्पि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्वरूपम् । अर्हन् इद दयसे विश्वम् अभ्व, न वा ओजियो रुद्र त्वदस्ति ॥
"	"	११	स्तुहि श्रुत गर्तं सद युवान, मृग न भीमम् उपहत्नुम् उग्रम् । मृला जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्य ते अस्मन् निवपन्तु सेनाः ॥
"	"	१२	कुमारश्चित् पितर वन्दमानं, प्रतिनानाम रुद्रोपयन्तम् । भूरे दातार सत्पतिं गृणीपे, स्तुतस्त्व भेपजा रास्यस्मे ॥
"	"	१३	या वो भेपजा मरुतः शुचीनि, या शंतमा वृपणो या मयोभु । यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता श च योश्च रुद्रस्य वश्मि ॥
"	"	१४	परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परित्वेपस्य दुर्मतिर्मही गात् । अवस्थिरा मघवद्भ्य स्तनुष्व, मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृल ॥
"	"	१५	एवा वभ्रो वृपभ चेकितान यथादेव न हृणीपे न हंसि । हवनश्रुन्नो रुद्रेह वोधि वृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥

मरुतों के प्रति

म०	सू०	मं०	
"	३४	२	द्यावो नस्तृभिश्चितयन्त खादिनो, व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः । रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो, वृपाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥

सविता के प्रति

म०	सू०	मं०	
"	३८	९	न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो, व्रतम् अर्यमा न मिनन्ति रुद्रः । नारातयस्तम् इद स्वस्ति, हुवे देवं सवितारं नमोभिः ।

अग्नि को रुद्र कहा गया है

म०	सू०	मं०	
३	२	५	अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जना, वाजश्रवसमिह वृक्तबर्हिपः । यतस्रुचः सुरुच विश्वदेव्य रुद्रं यज्ञाना साधद् इष्टिमपसाम् ॥
४	३	६	परिज्मने नासत्याय क्षे व्रव' कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥

म०	सू०	मं०	
४	३	७	कथामहे पुष्टिभराय पूष्णे, कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे । कद् विष्णव ऊरुगायाय रेतो, ब्रवकदग्ने शरवे बृहत्यै ॥

मित्रावरुण के प्रति

५	४१	२	ते नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुपन्त । नमोभिर्वा ये दधते सुवृक्तिं, स्तोम रुद्राय मील्हुषे सजोपा ।

रुद्र के प्रति

,,	४२	११	तमु ष्टुहि य' स्विषु सुधन्वा, यो विश्वस्य क्षयति भेपजस्य । यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्र नमोभिर्देवम् असुर दुवस्य ।
,,	४६	२	उभा नासत्या रुद्रो अधग्ना., पूपा भग सरस्वती जुपन्त ॥

स्वस्ति मन्त्र

,,	५१	१३	विश्वे देवा ना अद्या स्वस्तये, वश्वानरो वसुरग्निः स्वरतये । देवा अवन्त्वृभव' स्वस्तये, स्वरित नो रुद्रः पात्वहस. ।

रुद्र के प्रति

,,	५२	१६	प्र ये मे वन्ध्वेपे गा वोचन्त सूरय., पृश्नीं वोचन्त मातरम् । अधा पितरम् इष्मिण रुद्र वोचन्त शिक्वप. ॥

स्वस्ति मंत्र

,,	५६	८	मिमातु द्यौरदितिर्वितये न', स दानुचित्रा उपसा यतन्ताम् । आचुच्यवुर्दिव्य कोशमेत ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणानाः ॥

रुद्र के प्रति

,,	७०	३	पात नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथा सुत्रात्रा । तुर्याम दस्यून् तनूभि. ॥

आपस् के प्रति

६	२८	७	प्रजावती सूयवस रिशन्ती शुद्धा अप सुप्रपाणे पिवन्ती । मा व स्तेन ईशत माघशस परि वो हेती रुद्रस्य वृज्या ॥

रुद्र के प्रति

,,	४६	१०	भुवनस्य पितर गीर्भिराभि रुद्र, दिवावर्धया रुद्रमक्तौ । बृहन्तम् ऋष्वमजर सुपुम्न मृधग्घुवेम कविनेपितास. ॥

म०	सू०	मं०	
			सोमारौद्र सूक्त
६	७४	१	सोमारुद्रा धारयेथाम् असुर्यं प्र वाम् इष्टयोऽरमश्नुवन्तु । दमेदमे सप्तरत्ना दधाना शं नो भूत द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
,,	,,	२	सोमारुद्रा वि वृहत विषूचीं, अमीवा या नो गयमाविवेश । आरे बाधेथा निर्ऋतिं पराचै रस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ॥
,,	,,	३	सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे, विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् । अवस्यत मुञ्चत यन्नो अस्ति, तनूषु बद्ध कृतमेनो अस्मत् ॥
,,	,,	४	तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ, सोमारुद्राविह सुमृलत नः । प्र नो मुञ्चन्त वरुणस्य पाशाद् गोपायत नः सुमनस्यमाना ॥
			अग्नि और रुद्र में भेद
७	१०	४	इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा, रुद्रं रुद्रेभिरावहा बृहन्तम् ।
			ग्नाओं का उल्लेख
,,	३५	६	शं नो रुद्रो रुद्रभिर्जलाषः, शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ।
			रुद्र के प्रति
,,	३६	५	वि पृक्षो बाबधे नृभिः स्तवान इदं नमो रुद्राय प्रेष्ठम् ।
,,	४०	५	अस्य देवस्य मील्हुषो वया, विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः । वि देहि रुद्रो रुद्रिय महित्वम्, यासिष्ट वर्तिरश्विनाविरावत् ॥
			सह स्तुति
,,	४१	१	प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पति, प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ।
			रुद्र-सूक्त
,,	४६	१	इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने । अषाल्हाय सहमानाय वेधसे, तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ।
,,	,,	२	स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः, साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति । अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चरानमी वो रुद्र जासु नो भव ॥
,,	,,	३	या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि, क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः । सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा, मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिष ॥
,,	,,	४	मा नो वधी रुद्र मा परा दा, मा ते भूम प्रसितौ हीलितस्य । आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे, यूय पात स्वस्तिभिः सदा न. ॥
			इन्द्र के प्रति
८	१३	२०	तदिद् रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रत्नेषु धामसु । मनो यत्रा वितद्दधु र्विचेतसः ॥

म०	सू०	मं०	
			मुनिसखा इन्द्र
८	१७	१४	वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणाऽसत्र सोम्यानाम् । द्रप्सो भेत्ता पुरा शश्वतीनाम्, इन्द्रो मुनीनां सखा ॥
			रुद्र के प्रति
१०	६४	८	कृशानुमस्तॄन तिष्य सधस्थ आ रुद्र रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ॥
,,	६६	३	रुद्रो रुद्रेभिऽर्देवोमृलयाति न स्त्वष्टा नो ग्नाभि. सुविताय जिन्वतु ॥
,,	६२	५	प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धव-स्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे ।
,,	६३	४	कद्रुद्रो नृणा स्तुतो मरुत पूषणो भग' ।
			वाक् सूक्त मे रुद्र का उल्लेख
,,	१२५	६	अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
			रुद्र और अग्नि मे भेद
,,	१२६	५	उत मरुद्धो रुद्र हुवेमेन्द्रम् अग्नि स्वतये अति द्विष. ।
			रुद्र और केशी
,,	१३६	१	केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी । केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते ॥
,,	,,	२	मुनयो वात रशना पिशङ्गा वसते मला । वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
,,	,,	३	उन्मदिता मौनेयेन वातामातस्थिमा वयम् । शरीरेदस्माकं यूय मर्तासो अभिपश्यथ ॥
,,	,,	४	अन्तरिक्षेण पतति विश्वारूपावचाकशत् । मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हित ॥
,,	,,	५	वातस्याश्वो वायो सखाऽथो देवेषितो मुनि । उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापर ॥
,,	,,	६	अप्सरसा गन्धर्वाणा मृगाणा चरणे चरन् । केशी केतस्य विद्वान् त्सखा स्वादुर्मदिन्तम ॥
,,	,,	७	वायुरस्मा उपामन्थत् , पिनष्टि स्मा कुनन्नमा । केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिवत् सह ॥
			रुद्र के प्रति
,,	१६६	१	मयोभुर्वातो अभिवातूस्रा, ऊर्जस्वती रोषधीरारिशन्ताम् । पीवस्वतीर्जीवधन्या पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृल ॥

अथर्ववेद में रुद्र-सम्बन्धी सूक्त और मंत्र

काण्ड	सूक्त	मंत्र	रुद्र के प्रति
१	१६	३	यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ठ्यो यो अस्मा अभिदासति । रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ।
२	२७	६	रुद्र जलाप भेपज नीलशिखण्ड कर्मकृत । प्राश प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोपधे ॥

पशुपति रुद्र

,,	३४	१	य ईशे पशुपतिः पशूना चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् । निष्क्रीतः स यज्ञिय भागमेतु रायस्पोपा यजमान सचन्तात् ॥

सह-स्तुति

३	१६	१	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भग पूपण ब्रह्मणस्पति प्रातः सोममुत रुद्र हवामहे ॥

रुद्र के प्रति

३	२२	२	मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु । देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥
४	२१	७	परिवो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ।

भव और शर्व का उल्लेख

,,	२८	१	भवाशर्वौ मन्वे वा तस्य वित्त ययोर्वामिद प्रदिशि यद् विरोचते । यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुंचन्तमहस. ॥
,,	,,	२	ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद् यौ विदिताविपु भृतामसिष्ठौ । यावस्येशाथे ·····इत्यादि ।

वाक्सूक्त

,,	३०	१	अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
,,	,,	५	अह रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विपे शरवे हन्तवा उ ।

मरुत्पिता और पशुपति रुद्र

५	२४	१२	मरुता पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।

सह-स्तुति

६	२०	२	नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विपीमते ।

पिशाचहन्ता रुद्र

का०	सू०	मं०	
६	३२	२	रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः । वीरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत् ॥

ओषधि के प्रति

,,	४४	३	रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभि । विषाणका नाम वा असि पितृणा मूलादुत्थिता वातीकृतनाशना ॥

रुद्र का भेषज

,,	५७	१	इदमिद् वा उ भेषजमिद रुद्रस्य भेषजम् । येनेषुमेकतेजनाशतशल्यामपव्रवत् ॥

रुद्र का आतक

,,	५६	३	विश्वरूपा सुभगाम् अच्छावदामि जीवलाम् । सा नो रुद्रस्यास्यता हेति दूर नयतु गोभ्य. ।

सहस्तुति

,,	६८	१	आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ।

रुद्र सूक्त

,,	९०	१	या ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च । इद तामद्य त्वद् वय विषूची वि वृहामसि ॥
,,	,,	२	यास्ते शत धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः । तासा ते सर्वासा वय निर्विषाणि ह्वयामसि ॥
,,	,,	३	नमस्ते रुद्रास्यते नम प्रतिहितायै । नमो विसृज्य मानायै नमो निपतितायै ॥

नीलशिखण्ड रुद्र

,,	९३	१	यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो वभ्रु. शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।

शर्व और भव

,,	,,	२	मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय । नमस्येभ्यो नम एभ्य कृण्णोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥

अश्विनी सूक्त

,,	१४१	१	वायुरेना समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् । इन्द्र आभ्यां अधिब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥

का०	सू०	मं०	
			अग्नी सूक्त
७	७५	१	प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः । मा वस्तेन ईशत माघशसः परिवो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥
			रुद्र और अग्नि का तादात्म्य
७	८७	१	यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥
			अग्नि के प्रति
८	३	५	यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्त मग्न उत वा चरन्तम् । उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशान. ॥
			मणि-मंत्र
,,	५	१०	अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ॥ प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥
			भव और शर्व
,,	८	१७	घर्मः समिद्धो अग्निनाय होमः सहस्रहः । भवश्च पृश्निबाहुश्चशर्व सेनाममू हतम् ॥
,,	,,	१८	मृत्योरापमा पद्यन्ता क्षुध सेदिं वध भयम् । इन्द्रश्चाक्षु जालाभ्या शर्व सेनाममू हतम् ॥
			महादेव
९	७	७	मित्रश्च वरुणश्चासौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवा बाहू ।
			भव और शर्व
१०	१	२३	भवाशर्वावस्य पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युत देवहेतिम् ॥
			विविध नाम रुद्र
११	२	१	भवाशर्वौ मृडतं माभि यात भूतपती पशुपती नमोवाम् । प्रतिहितामायता मावि स्राष्ट मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पद. ॥
,,	,,	२	मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ।
,,	,,	३	क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः । नमस्ते रुद्र कृण्म. सहस्राक्षायामर्त्य ॥

का०	सू०	मं०	
११	२	५	मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव । त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥
,,	,,	७	अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना । रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥
,,	,,	९	चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते । तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषा अजावयः ॥
,,	,,	१०	तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम् । तवेदं सर्वात्मन् वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥
,,	,,	११	उरुः कोशो वसुधानस्तवाय यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः । स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥
,,	,,	१२	धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् । रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥
,,	,,	१४	भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय । ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥
,,	,,	१८	श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् । पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥
,,	,,	१९	मानोऽभिस्रा मत्यं देवहेतिं मानः क्रुधः पशुपते नमस्ते । अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥
,,	,,	२१	मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु । अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥
,,	,,	२२	यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति । अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥
,,	,,	२३	योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् । तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः ॥
,,	,,	२४	तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि । तव यक्षं पशुपते अप्स्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥
,,	,,	२५	शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि । न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् । परिपश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥
,,	,,	२७	भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम् । तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥
,,	,,	२८	भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पसुपतिर्बभूथ । यः श्रद्धाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥

का०	सू०	मं०	
११	२	३०	रुद्रस्यैलवकारेभ्योऽससूक्तगिलेभ्यः । इदं महासेभ्यः स्वभ्यो अकरं नमः ॥
,,	,,	३१	नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः । नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुञ्जन्तीभ्यः ॥

भव और शर्व

,,	६	६	भवाशर्वाविद ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्चयः । इषूर्या एषा सविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥

रुद्राः

१२	२	६	पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने । पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥
,,	,,	४७	तेपाप हत शरुमापतन्त तेन रुद्रस्य परिपातास्ताम् ।

भव और शर्व

,,	४	१७	य एनामवशामाह देवाना निहितं निधिं । उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥

रुद्र की हेति

,,	,,	५२	ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति । रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परियन्त्यचित्या ॥

अध्यात्म

१३	२	२	रश्मिभिर्नभ आभृत महेन्द्र एत्यावृत. ॥
,,	४	४	सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्र. स महादेव. ।
,,	,,	२६	स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनुसंहितः ॥
,,	,,	२७	तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥
,,	,,	२८	तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥

व्रात्यसूक्त

१५	१	१	व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ।
,,	,,	२	सः प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ।
,,	,,	३	तदेकमभवत् तल्ललामभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ।
,,	,,	४	सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ।
,,	,,	५	स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् ।

त्र्यम्बक होम

काण्ड	सूक्त	मंत्र	
,,	८	६	पशूना शर्मासि शर्म यजमानस्य शर्म मे यच्छक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थ। आखुस्ते रुद्र पशुस्त जुषस्वैष ते रुद्र भागः सह स्वस्रा अम्बिकया त जुपस्व। भेषज गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् अथो अस्मभ्य भेषज सुभेषज यथाऽसति। सुगं मेषाय मेष्या। अवाम्ब रुद्र अदि मह्यव-देव त्र्यम्बकम् इति। त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् इति। एष ते रुद्र भागस्त जुषस्व तेनावसेन परो मूजवतोऽति। अवतद् धन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः ' ।

सोमारौद्र चरु

२	२	१०	असावादित्यो न व्यरोचत तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्तस्मा एत सौमारौद्र चरु निरवपन् यो ब्रह्मवर्चसकाम॰ स्यात् तस्मा एत सोमारौद्र चरु निर्वपेत् तिष्यापूर्णमासे निर्वपेद् रुद्रो वै तिष्य॰ सोमारौद्र चरु निर्वपेत् प्रजाकामः सोमो वै रेतोधा अग्निः प्रजाना प्रजनयिता ' 'सोमारौद्र चरु निर्वपेदभिचरन्' ' '।

शतरुद्रिय सूक्त

४	५	१	(देखो वाजसनेयि सहिता, अध्याय १६)

वाजसनेयी संहिता

अध्याय	मंत्र	
३	५७ ६०	(देखो तैत्तिरीय सहिता 'त्र्यम्बक होम')
	६१	अवततधन्वा पिनाकावस कृत्तिवासा अहिं सन्नः शिवोऽतीहि।
,,	६२	त्र्यायुप जमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुपम्। यद्देवेषु त्र्यायुप तन्नोस्तु त्र्यायुपम्॥
,,	६३	शिवोनामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसी॰। निवर्तयाम्यायुपेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोपाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।
८	५८	विश्वेदेवाश्चमसेपून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृतो नृचक्षा॰ प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाण॰ पितरो नाराशसाः।
९	३९	वृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ट्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्र॰ सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्।
१०	२०	रुद्र यत्ते क्रवि पर नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा।
११	१५	प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्य मयोभुरेहि।

शतरुद्रिय सूक्त

काण्ड	सूक्त	मंत्र
१६	१	६६

नमस्ते रुद्र मान्यवऽउतो ताइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः। १
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीह। २
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवा गिरिश ता कुरु मा हिसीः पुरुषं जगत्। ३
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छावदामसि।
यथा नः सर्वा इज्जनः सगमे सुमनाऽअसत्। ४
अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहिंश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ५
असौ यस्ताम्रो अरुण उत वभ्रुः सुमंगलः।
ये चेमेरुद्राभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाᳫहेडईमहे ६
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। उतैन गोपाऽअदृश्रन्-
तैनमुदहार्यः। स दृष्टो मृडयातु नः। ७
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वान इद तेभ्योऽकर नमः। ८
प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्ताइषवः परा ता भगवो वप। ९
विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो वाणव उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधि। १०
या ते हेतिर्मीढुष्टम शिव वभूव ते धनुः।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज ११
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम्। १२
अवतत्य धनुष्ट्व सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानाम्मुख शिवो नः सुमना भव। १३
नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो वाहुभ्या तव धन्वने। १४
मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मान उक्षितम्
मा नो वधीः पितर मोत मातरं मा नः प्रियास्तनुवो रुद्र रीरिषः। १५
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे। १६
नमो हिरण्यवाहवे सेनान्येदिशा च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो
हरिकेशेभ्यः पशूना पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते
पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः। १७

नमो बभ्लुशाय विव्याधिनेऽन्नाना पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगता पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणा पतये नमो नमः सूतायाहन्त्याय वनाना पतये नम । १८

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणा पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीना पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणा पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीना पतये नम । १६

नम. कृत्स्नवीताय धावते सत्वाना पतये नमः नमः सहमानायनि व्याधिन आव्याधिनीना पतये नमो नमो निषंगिणे ककुभाय स्तेनाना पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्याना पतये नमः। २०

नमो वञ्चते स्तायूना पतये नमो नमो निषंगिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नम. सृकाविभ्यो जिघासद्भ्यो मुष्णता पतये नम'। नमोऽसिमद्भ्यो नक्त चरद्भ्यो विकृन्ताना पतये नम । २१

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चाना पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो धन्वाविभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्य. प्रतिदधानेभ्यश्च वो नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नम'। २२

नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो नम. स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो नम. शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नम । २३

नम सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नम उगणाभ्यस्तृꣳहतीभ्यश्च वो नम । २४

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नम । २५

नम' सेनाभ्य सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो नम क्षतृभ्य सग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नम । २६

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नम कुलालेभ्य कर्म्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्य पुञ्जिष्टेभ्यश्च वो नमो नम श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नम । २७

नम श्वभ्य श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नम शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकंठाय च। २८

नम कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नम सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च। २९

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो

वृद्धाय च सवृध्वने च नमो अग्रियाय च प्रथमाय च । ३०

नमऽआशवे चाजिराय च नमः शीघ्रियाय च शीभ्याय च
नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमोनादेयाय च द्वीप्याय च । ३१

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो
मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्नियाय च । ३२

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्य्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः
श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च । ३३

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम
आशुषेणाय चासुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च । ३४

नमो विल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः
श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च । ३५

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषगिणे चेषुधिमते च नम-
स्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च । ३६

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः
सूद्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च । ३७

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो ईध्रियाय चातप्याय च नमो
मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय । ३८

नमो वात्याय च रेष्मियाय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च
नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च । ३९

नमः शङ्गाय च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रे-
वधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो
हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय । ४०

नमः शम्भवे च मयोभवे च नमः शकराय च मयस्कराय
च नमः शिवाय च शिवतराय च । ४१

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय च नमस्तीर्थ्याय
च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च । ४२

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च
नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमऽहरिण्याय च प्रपथ्याय च । ४३

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमः तल्प्याय च गेह्याय च
नमो हृद्याय च निवेष्प्यायच च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ४४

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय
च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्म्याय च । ४५

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नमउपगुरमाणाय चाभिघ्नते च
नमऽआखिदते च प्रखिदते च नमऽइषुकृद्भयो धनुष्कृद्भयश्च
वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानांहृदयेभ्यो नमो विचिन्व-

लकेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमऽआनिर्हतेभ्यः । ४६
द्रापेऽअन्धसस्पते दरिद्रन्नीललोहित ।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मारोमो च नः किं चनाममत् । ४७
इमां रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीम्
यथा नः शमसद्‌द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । ४८
या ते रुद्र शिवा तनू' शिवा विश्वाहभेषजी ।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे । ४६
परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परित्वेषस्य दुर्मतिरघायो ।
अवस्थिरा मघवद्‌भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड । ५०
मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव ।
परमे वृक्षआयुधं कृत्ति वसान आचर पिनाकम्बिभ्रदा गहि । ५१
विकिरिद विलोहित्त नमस्ते अस्तु भगव. ।
यास्ते सहस्रᳪहेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ५२
सहस्राणि सहस्रशो वाह्वोस्तव हेतय' ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि । ५३
असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽधिभूम्याम् ।
तेषाᳪसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ५४
अस्मिन् महत्यर्णवेन्तरिक्षे भवाअधि ।
तेषाᳪसहस्रयोजनऽवधन्वानि तन्मसि । ५५
नीलग्रीवाः शितिकठा दिवᳪरुद्राऽउपश्रिताः ।
तेपाᳪसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ५६
नीलग्रीवाः शितिकठाः शर्वा अधःक्षमाचरा ।
तेपाᳪसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि । ५७
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिता' ।
तेपाᳪसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि । ५८
ये भूतानामधिपतयो विशिखास. कपर्दिन ।
तेपाᳪ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ५६
ये पथा पथिरक्षय ऐलवृदाऽ आयुर्युध ।
तेपाᳪमहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ६०
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निपङ्गिण. ।
तेपाᳪसहस्रयोजनेऽवधन्वनि तन्मसि ६२
यऽएतावन्तश्च भूयाᳪश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेपाᳪसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ६३
नमोऽस्तु रुद्रभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा ।

तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते य द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः। ६४

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा।
तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते य द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः। ६५

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा।
तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते य यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।

अध्याय	मंत्र	
		रुद्रानुवर्ती अश्विनीकुमार
१९	८२	तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशोऽन्तरम्।
		पशुपति रुद्र
२४	३	रुद्राय पशुपतये कर्णायामाऽवलिप्ता रौद्रा नभोरूपा पार्जन्याः।
		रुद्र और ग्ना
३३	४८	उमा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त।
		रुद्रानुवर्ती अश्विनीकुमार
३३	५८	दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः आयात रुद्रवर्तनी।
		सहस्तुति
३४	३४	प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम।
		रुद्र का दौर्म्रत्य के साथ सम्वन्ध
३९	९	उग्रं लोहितेन मित्रं सौम्रत्येन रुद्रं दौर्म्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेने मरुतो बलेन साध्यात् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यं रुद्रास्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र-सम्बन्धी संदर्भ

ऐतरेय ब्राह्मण

प्रजापति के पातक की कथा

पञ्चक	सूक्त	मंत्र	
३	१३	६	प्रजापतिर्वै स्वां दुहितर अभ्यधायद् दिवम् इत्यन्य आहुरुपसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहिता भूतामभ्यैत्। त देवा अपश्यन्नकृत वै प्रजापति॰ करोतीति ते तमैच्छन् य एनादिष्यत्येनमन्योन्यम् अस्मिन्न विन्दन्स्तेषा या एव घोरतमास्तन्व आसन्स्ता एकधा सम भरन्ता॰ सभृता एष देवोऽभवत्। तस्यैतद् भूतवन्नाम इति त देवा अब्रुवन् अय वै प्रजापतिरकृतम् अकारीम विध्येति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वर वृणा इति वृणीष्वेति स एतमेव वरमवृणीत पशूनामधिपत्य तदस्यैतत्पशुमन्नाम ॰ तान् वा एषो देवोऽभ्यवदत मम वा इद मम वै वास्तुहम् इति तमेत्यार्या निरवदन्त।

नाभानेदिष्ठ की कथा

पञ्चक	सूक्त	मंत्र	
५	२२	६	त स्वर्यन्तो ब्रुवन्नेतत् ते ब्राह्मण सहस्रम् इति तदेन समाकुर्वेण पुरुष कृष्णस्वाण्युत्तरत उपोत्यायाश्रावीन् मम वा इद ममै वै वास्तुहम् इति त पिताब्रवीत् तस्यैव पुत्रक तत् तत् तु स तुभ्य दास्यतीति।

कौशीतकि ब्राह्मण

अध्याय	मंत्र	
२	२	द्विरुदीचिं स्रुच उद्यच्छति रुद्रमेव तत् स्वाया दिशि प्रीत्वावसृजति तस्माद्धु गामानस्योत्तरतो न तिष्ठेत्
३	४	नेद रुद्रेण यजमानस्य पशून् प्रवृहाजनीति स्वाहा •
३	६	अथो रुद्रो वै स्विष्टिकृद् अन्तभाग वा एष तस्माद् एनम् अन्ततो यजति • •
५	५	इत्यथो यदु च परेत्य त्र्यम्बैश्चरति रुद्रमेव तत् स्वाया दिशि प्रीणन्ति

रुद्र जन्म की कथा

अध्याय	मंत्र	
६	१	प्रजापति प्रजाकामस्तपोऽतप्यत। तस्मात् तप्तात् पचाजायत अग्निर् वायुर् आदित्यश्चन्द्रमा ऊषा पञ्चमी। ऊषाः प्राजापत्यायाप्सरो रुप कृत्वा पुरस्तात् प्रत्युदैत्। तस्याम् एषा मन॰ समपतत्। ते रेतोऽसिञ्चन्त। ते प्रजापतिं पितरम् एत्याब्रुवन् रेतो वैऽसिञ्चामह इद नो मा अमुया भूद् इति। स प्रजापतिर्हिरण्मय चमसमकराद्

अध्याय	मंत्र	
६	१	इषुमातरमूर्ध्वमेव तिर्यंच। तस्मिन् रेतः समसिचत्। तत् उदतिष्ठत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रेण प्रतिहिताभिः। स प्रजापतिं पितरम भ्ययच्छत्। तम् अब्रवीत् कथा माभ्ययच्छसीति। नाम मे कुर्वीत्यब्रवीन्नवै इदम् अविहितेन नामान्नत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्यब्रवीद् भव एवेति यद् भवः आपः। तेन न ह वा एन भवो हिनस्ति नास्य प्रजा नाम्य पशून्नास्य ब्रुवाणं च न। अथ य एन द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एव वेद। तस्य व्रत आइम् एव वासः परिदधितेति ·· ·· स वै त्वम् इत्यब्रवीच्छर्व एवेति यच्छर्वोऽग्निः ·····तस्य व्रत सर्वमेव नाश्नीयद् इति ········ स वै त्वमित्यब्रवीत् पशुपति रेवेति यत्पशुपतिर्वायु.·· तस्य व्रत ब्राह्मणम् एव न परिवेददिति · ·· ··· · स वै त्वमित्यब्रवीद् उग्र एव देव इति यदुग्रो देव ओषधयो वनस्पतयः तस्य व्रत स्त्रिया एव विवर नेक्षेतेति।········· स वै त्वमित्यब्रवीन् महादेव इति। यन्महान् देव आदित्यः ····· तस्य व्रतम् उदयन्तमेव नेक्षेतास्तमयन्त चेति ···· ··· स वै त्वमित्यब्रवीद् रुद्र एवेति यद्रुद्रश्चन्द्रमाः····· तस्य व्रत विमूर्तमेव नाश्नीयान् मज्जन चेति। · ······ स वै त्वमित्यब्रवीद् ईशान एवेति यदीशानोऽन्नम्······तस्य व्रतम् अन्नमेवेच्छमान न प्रत्याचक्षीतेति········ स वै त्वमित्यब्रवीद् अशनिरेवेति यदशनिरिन्द्रः······ 'तस्य व्रत सत्यमेव वदेद् हिरण्य च विभ्रियाद् इति···········स एषाऽष्टनामाष्टविहितो महान् देव।

८	४	अर्हन्विभर्षि सायकानि धन्वेति पौष्णीं च रौद्रीं चाभिरूपे अभिष्टौति पौष्ण चैव रौद्र च स्वाहा कारावेताभ्यामनुवदति।
२१	३	पशून् पचमेनाह्नाप्नुवन्ति रुद्र देवं देवताना यशोऽधिभूतं वीर्यम् आत्मन् दधते।
२३	३	पशून् पचमेनाह्नाप्नुवन्ति पंक्ति छन्दस्त्रिणवं स्तोमशक्वरसामावांर्ची दिशं हेमन्तम् ऋतूना मरुतो देवान् देवयजतं रुद्रमधिपतिम्।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

त्र्यम्बक हवि

का०	सू०	मंत्र	
१	६	१०	प्रतिपूरुषम् एककपालं निर्वपति। जात एव प्रजा रुद्रान्निरवदयते। एकमातृकम्। जनिष्यमान एव प्रजा रुद्रान्निरवदयते। एककपाल

का०	सू०	मंत्र	
१	६	१०	भवन्ति। एकधैव रुद्र निरवदयते। नाभिधारयति। यदभि धारयेत्। अन्तरवचारिण रुद्र कुर्यात्। एकोल्मुकेन यान्ति। एषा वै रुद्रस्य दिक्। स्वयमेव दिशि रुद्र निरवदयते। रुद्रो वा अपशुकाया आहुत्यै नातिष्ठत्। असौ ते पशुरिति निर्दिशेद् य द्विष्यात्। यमेव द्वेष्टि तमस्मै पशु निर्दिशति। यदि न द्विष्यात्, आखुस्ते पशुरिति ब्रूयात्। न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान्। चतुष्पथे जुहोति अन्तमेनैव होतव्यम्। अन्तत एव रुद्र निरवदयते। एष ते रुद्र भाग सह स्वस्राम्बिकयेत्याह। शरद्वा अस्याम्बिका स्वसा। तया वा एष हिनस्ति य हिनस्ति। तयैवैन सह शमयति। भेषज गव इत्याह। यावन्त एव ग्राम्या पशव। तेभ्यो भेषज करोति। अवाम्ब रुद्रम् इदमित्याह। आशिष-मेवैतस्माशास्ते। त्र्यम्बक यजामह इत्याह। मृत्योर्मुक्षीय मामृता-दिति वावैतदाह। उत्किरन्ति भागस्य लिप्सन्ते एष ते रुद्र भाग इत्याह निरवत्यै। अप्रतीक्षमा यान्ति। आप परिषिंचन्ति रुद्रस्यान्तर्हित्यै। प्र वा अस्माल्लोकाच्च्यवन्ते। य त्र्यम्बकैश्चरति। आदित्य चरु पुनरेत्य निर्वपति। इय वा अदिति। अस्यामेव प्रतितिष्ठन्ति।
३	२	५	रुद्रस्य हेति परिणो वृणक्त्वित्याह। रुद्रदेवैनास्त्रायते।
३	३	२	यस्यैतान्यग्नौ परिहरन्ति। तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत्। यतर स्तस्मिन्समृज्यात्। पशूना धृत्यै। यो भूतानामधिपति, रुद्रस्त-न्तिचरो वृषा पशून् अस्माक मा हिंसी। एतदस्तु हुत तव स्वाहेत्य-ग्निसम्मार्जनान्यग्नौ प्रहरन्ति। [यहाँ रुद्र और अग्नि का तादात्म्य प्रतीत होता है]
३	६	१७	रौद्र चरु निर्वपेत्। यदि महति देवताभिमन्येत। एतद् देवत्यो वा अश्वह। स्वयैवैन देवत्याभिपद्यति।
३	११	२	त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिव। त्व शर्धो मरुता पृक्ष ईशिषे।

तलवकार अथवा जैमिनीय ब्राह्मण

रुद्र का पशुओं से साहचर्य

अध्याय	मंत्र	
१	१३३	यदीशानम् इन्द्रेति प्रतिहरेद् ईशानो यजमानस्य पशूनाम् अभिमानक स्याद् ... नेशानो यजमानस्य पशून् अभिमन्यते शान्ता प्रजा एधन्ते।

रुद्र जन्म की कथा

३ २६१ ६३ तासु आयन्तीयम्। देवा वै, सत्रमुपयन्तोऽब्रुवन् यन्नः क्रूरम् आत्मनस्तन्निर्मिमामहै, मा सक्रूरा उपगमामेति। तद्यदेषा क्रूरम् आत्मन आसीत् तौ निर्माय शरावयो॰ सम्मार्ज न्यदधुः। अतः सत्र मुपायन्स्तत एषोऽखलो देवोऽजायत तद्यच्छरावाभ्याम् अजायत तस्यैतन्नामैष हा वाव सोऽग्निर्जज्ञे। न हैनम् एष हिनरित य एन वेद। स देवानब्रवीत्। कस्मै मामजीन्त्येत्यौषहष्य्यायेत्यब्रुवन्। योऽतिपादयात् त हनासा इति। प्रजापतिर्होपस स्वा दुहितरम् अभ्य- धायत्। स हताम् अभ्यायत्यविध्यत्। ततः स एतद्रूप पर्यस्योर्ध्व उदक्रामत्। स एष इषु त्रिकाण्डस्तमात् पृषतो स्वादुतमः······ ।

ताण्ड्य अथवा पंचविंश ब्राह्मण

६ ६ ७-६ या समा महादेव॰ पशून् हन्यात् स नः पवस्य संगव इति चतुष्पदे मेषज करोति ···विषेण वा ता समाम् ओषधयोक्ता भवन्ति या समा महादेवः पशून् हन्ति यच्छ राजन्नोषधीभ्य इत्याहौषधीरेवस्मै स्वदयति।

७ ६ १६-१८ देवा वै पशून् व्यभजन्त ते रुद्रमन्तरायन्स्तान् वामदेवस्य स्तोत्र उपेक्षते ······यन्निराह रुद्राय पशूनमि दधाति रुद्रस्ता समा पशून् धातुको भवन्ति।

शतपथ ब्राह्मण

१ ७ ३ १८ यज्ञेन वै देवाः। दिवमुपोदक्रामान्नथायोऽय देवः पशूनामभीष्टे स इहाहियत तस्माद् वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तद् अहीयत् ···· सोऽनु चक्राम स आयतयोत्तरत उपोत्पेदे। स एष स्विष्टकृतः कालः। तद्वा अग्नय इति क्रियते। अग्निर्वै स देवस्तस्येतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः। पशूना पति रुद्रोऽग्निरिति तानस्याशान्तान्येवेतरातराणि नामान्यग्निरित्येव शान्त तमं तस्माद् अग्नय इत् क्रियते स्विष्टकृत इति।

गवेधुक होम

५ ३ १ १० अथ श्वो भूते अक्षावपास्य च गृहेभ्यो गोविकर्तस्य च गवेधुकाः संभृत्य सूयमानस्य गृहे रौद्रं गवेधुक चरुं निर्वपति। ते वा एते द्वे सति रत्ने एकं करोति संपदः कामाय तद् यद् एतेनं यजते या वा इमां सभाया घ्नन्ति रुद्रो हैता अभिमन्यतेऽग्निर्वै रुद्रो······ ।

५ ३ ३ ७ अथ रुद्राय पशुपतये रौद्र गवेधुक चरु निर्वपति । तदेन रुद्र एव पशुपति पशुभ्यः सुवत्यथ यद् गेवधुको भवति वास्तव्यो वा एप देवो वास्तव्या गवेधुकास्तस्माद् गावेधुको भवति ।

५ ४ ४ १२ ब्रह्मन्नित्येव चतुर्थम् आमन्त्रयते त्व ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याह रुद्रोऽसि सुशेव इति तद्वीर्यान्येवास्मिन्नेतत् पूर्वाणि दधात्यथैनम् एतच्छमयत्येत तस्माद् एप सर्वस्येशानो मृडयति यदेन शमयति ।

रुद्र जन्म की कथा

६ १ ३ १-८ प्रजापतिर्वा इदमग्रे आसीत् । एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत स तथोऽतप्यत तस्माद् आपोऽसृजन्त' 'आपोऽब्रुवन् क्व वयभवामेति । तप्यध्वमित्यब्रवीत् ता॰ फेनमसृजन्त । फेनोऽब्रवीत् क्वाह भवानीति स मृदमसृजत ''मृद् अब्रवीत् क्वाह भवानीति ' '' स सिकता असृजत ' सिकताभ्यः शर्करामसृज्यत शर्कराया अश्मानम् अश्मनोऽयस् ' तद् यदसृजता क्षरत् । यदष्टो कृत्वोऽक्षरत् सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत् । अभूद्वा इय प्रतिष्ठेति । तद्भूमिरभवत् तामप्रथयत् । सा पृथिव्यभवत् । तस्यामस्या प्रतिष्ठाया भूतानि भूताना च पति' । सवत्सरायादीक्षन्त भूताना पति गृहपतिरासीद् उपा' पत्नी । तद् यानि तानि भूतानि ऋतवस्तेऽथ य' स भूतानः पति॰ सवत्सर॰ सोऽथ य॰ सोपाः पत्न्योपसि स तानीमानि भूतानि भूतानां च पति' सवत्सर उपसि रेतोऽसिंचन्त्स सवत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरोदीत् । त प्रजापतिर् अब्रवीत् । कुमार किं रोदिपि सोऽब्रवीद् अनपहतपाप्म वास्म्यहितनामा नाम मे देहीति तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात् ।''' तमब्रीवद् रुद्रोऽसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोद् अग्निस्तद्रूपमभवद् अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत् तस्माद्रुद्र तमब्रवीत् शर्वोऽस्मीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोद् आपस्तद्रूपम् अभवन्नापो वै शर्वोऽद्भ्यो हीद सर्व जायते तमब्रवीत् पशुपतिरसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोद् ओपधयस्तद्रूपम् अभवन्नोपधयो वै पशुपतिस्तस्माद् यदा पशव ओपधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति तमब्रवीदुग्रोऽस्मीति वायुस्तद्रूपम् अभवद् वायुर्वा उग्रस्तस्माद् यदा वलवद् वात्युग्रो वात्यित्याहु ' तमब्रवीद् अशनिरसीति ' विद्युत्तद्रूपमभवद् विद्युद्वा अशनिस्तस्माद् य विद्युद् हन्त्यशनिरवधीद् इत्याहु॰ ''' तमब्रवीद् भवोऽसीति '' पर्जन्यस्तद्रूपमभवत् पर्जन्यो वै भव पर्जन्याद् हीद सर्व भवति तमब्रवीन्महादेवोऽसीति चन्द्रमस्तद्रूपम् अभवत् प्रजापतिर्व चन्द्रमा प्रजापतिर्वै महान् देव॰

परिशिष्ट : तृतीय अध्याय

उपनिषदों में रुद्र-सम्बन्धी संदर्भ

वृहदारण्यक उपनिषद्

१ ४ ११ ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव तदेक सन्न व्यभवत्। तत् श्रेयो रूपम् अत्यसृजत क्षत्र यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति।

२ २ २ तद् या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेन रुद्रोऽन्वायत्तः।

५ २ ३ तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति।

केन उपनिषद्

३ १२ स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमा हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति।

मैत्रायणी उपनिषद्

४ ५ यो ह खलु वावस्य तामसोऽशोऽसौ स योऽयम्। रुद्रोऽथ यो ह खलु वावस्य सात्विकोऽशोऽसौ स एव विष्णुः।

भर्ग और रुद्र का तादात्म्य

५ ७ भर्गाख्यो भाभिर्गतिस्य हीति भर्गो भर्ज इति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनो··· ।

रुद्र और प्रजापति का तादात्म्य

५ ८ एष हि खल्वात्मेशान शम्भुर्वो रुद्र· प्रजापतिर्विश्वसृड्‌हिरण्यगर्भः सत्य प्राणो हस· शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्क· सविता धाता सम्राड इन्द्र ह इन्दुरिति य एष · ।

प्रश्न उपनिषद्

२ ९ इन्द्रस्त्व प्राणतेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।*

श्वेताश्वतर उपनिषद्

२ १७ यो देवो ऽग्नौ यो ऽप्सु यो विश्व भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः।

---

*यह प्रजापति के प्रति है।

३ २ एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य
इमाँल्लोकान् ईशत ईशनीभिः
प्रत्यञ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

„ ३ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।

„ ४ यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्
स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ॥

„ ५ या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

„ ६ यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवा गिरित्र ता कुरु माहिंसीः पुरुष जगत् ॥

„ ७ ततः पर ब्रह्म परं बृहन्तम् ·· · ·· ·· ··

„ ११ सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिव. ॥

४ १ य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्, वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति ।

„ ५ अजमेका लोहितशुक्लकृष्णा, बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः ।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येना भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः ॥

„ ६ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

„ ९ अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्, तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ।

„ १० माया तु प्रकृतिं विद्यात् मायिन तु महेश्वरम् ।

„ ११ यो योनिं योनिम् अधितिष्ठत्येको, यस्मिन्निदं सच विचैति सर्वम् ।
तमीशान वरद देवमीड्य, निचाय्येमा शान्तिमत्यन्तमेति ॥

„ १४ सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिलस्य मध्ये, विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं, ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति ॥

„ २१ अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रतिपद्यते
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुख तेन मा पाहि नित्यम् ।

„ २२ वीरान् मा नो रुद्र भामितोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमि त्वा हवामहे ।

५ १४ भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देव ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥

६ १३ तत्कारण साङ्ख्ययोगाधिगम्यं. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

सूत्र ग्रन्थों में रुद्रसम्बन्धी संदर्भ

शाखायन श्रौतसूत्र

३ ४ ८ व्याधिप्लाय रुद्राय '' ६

३ १७ १०-११ त्र्यम्बक सस्थाप्य मैत्रश्चरु। आदित्ये वा

शूलगव होम

४ १७-२० रुद्र गवा यजते स्वस्त्ययनाय। शूलगव इत्याचक्षते। शुद्धपक्ष उपोष्य पुण्ये नक्षत्रे प्रागुदीच्या दिशि। अग्नि मथित्वा प्राञ्च प्रणीय। पुरस्तात् पलाशशाखा सपलाशा निखाय तया उत्तरत. पशुम् उपस्थाप्य, रुद्राय त्वा जष्टमुपकरोमि रुद्रायत्वा जुष्ट प्रोक्षामि रुद्राय त्वा जुष्ट नियुजन्मि इति नियुनक्ति पलाशशाखायाम्। पर्यग्निकृतम् उदञ्च नयन्ति। त सज्ञापयन्ति प्राक् शिरस उदक्पाद प्रत्यक्शिरस वोदक्पादम् अरवमाणम्।

यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते।
अग्निर्मा तस्मादेनसो जादवेदः प्रमु चतु ॥

स्वाहेति रवमाणे जुहोति। वपामुद्धृत्य प्रक्षाल्य पूर्वेऽग्नौ श्रपयित्वा-८ भिघार्योद्वास्य शिव शिवमिति त्रिः पर्युक्ष्याज्याहुतिर्जुहोति।

या तिरश्ची निपद्यते अह विधरणीति।
त घृतस्य धारया युजे समर्धमिमऽह स्वाहा ॥
यस्येद सर्वं हतमिम हवामहे।
स मे कामान् कामपति' प्र यच्छतु ॥

स्वाहेति द्वितीयायाम्। अग्ने पृथिव्या अधिपति इति तृतीयायाम्। प्रजापत इति चतुर्थ्याम्। त्रीणि पलाशपलाशानि मध्यमानि सत्रयो-पस्तीर्य वपामवधायाभिधार्य।

यावन्तमहमीशे यावन्तो मे अमात्या।
तेभ्यस्त्वा देव वन्दे ते भ्यो नो देव मृल ॥

वेद ते पितर वेद मातर, द्यौस्ते पिता पृथिवी माता। तस्मै ते देव भवाय शर्वाय पशुपतय उग्राय देवाय महते देवाय रुद्रायेशानाया श्नये स्वाहेति वपा हुत्वा ' पश्चिमेऽग्नौ स्थालीपाक श्रपयति ' उत्तरतोऽवदानानि। स्थालीपाक यूष मांसमाज्यमिति सन्निनीय शयोरिति त्रिः पर्युक्ष्य जुहोति।

भवाय स्वाहा शर्वाय स्वाहा रुद्राय स्वाहेशानाय स्वाहाग्नये स्वाहा स्विष्टिकृते स्वाहेति। तथैव पर्युक्ष्य। तान्येव सन्निनीय। अग्नौ पश्चिमे। भवान्यै स्वाहा शर्वाण्यै स्वाहा रुद्राण्यै स्वाहेशान्यै

स्वाहाग्नाय्यै स्वाहेति··· ··रुद्रसेनाभ्योऽनुदिशति। अघोपिन्यः प्रतिघोपिन्यः सघोपिन्यो विचिन्वत्यः श्वसनाः क्रव्याद एप वो भागस्त जुपध्व स्वाहेति। यजमानश्चोपतिष्ठते।
भूपते भुवपते भुवनपते भूतपते भूताना पते महतो भूतस्य पते मृल नो द्विपदे चतुष्पदे च पशवे मृल नश्च द्विपदश्च चतुष्पदश्च पशून् योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्मो दुरापूरोऽसि सच्छायोऽधिनामेन। तस्य ते धनुः हृदय मन इपवश्चक्षुविसर्गस्त त्वा तथा वेद नमस्ते अस्तु सोमस्त्वावतु मा मा हिंसीः।
यावरण्ये पतयतो वृकौ जञ्जभताविव।
महादेवस्य पुत्राभ्या भवशर्वाभ्या नमः॥
अग्नये गृहपतये सोमाय वनस्पतये सवित्रे सत्यप्रसवाय रुद्राय पशुपतये वृहस्पतये वाचस्पतये इन्द्राय ज्येष्ठाय मित्राय सत्याय वरुणाय धर्मपतये।

आश्वलायन श्रौतसूत्र

यस्माद् भीपा निपिदसि ततो नो अभयं कृधि।
पशून्नः सर्वान् गोपाय नमो रुद्राय मील्हुप इति॥
यदि देवाना हवींष्यन्वायतपेयुरग्निर्गृहपतिः सोमो वनस्पतिः······ रुद्रः पशूमान् पशुपतिर्वा।

लाट्यायन श्रौतसूत्र

त्र्यम्बक होम

त्रैयम्बक नामापूपा भवन्त्येकप्मपालाः। तेपा यम् अध्वर्युर् अखूत्कर उपोपेत् तत्राप ह्यपस्पृशेयुः। शिवा नः शतमा भव सुमृडीका सरस्वती मा ते व्योम सदृशा इति · ···
हुते तिष्टन्तो जपेयुर्वा वारुद्रम् अयक्ष्म ह्यवदेव त्र्यम्बकं यथा नः श्रेयस्करद् यथा नो वशीयस्करद् यथा नः पशुमद्करद् यथा नो व्यवासयद् भेपजमसि भेपज गवेऽश्वाय पुरुपाय भेपज सुग मपाय मेष्यैस्तु भेपजं यथा सद् इति।
तत्र ब्रह्मा पर्यञ्जपेद् इति धानञ्जप्यस्तिष्टन्निति शाण्डिल्यस्त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनमुर्वारुकमिव बन्धान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति। ···· ·
यत्रैनान् अध्वर्युरानञ्जेत् तत्रोपतिष्ठेरन्नेपा ते रुद्र भागस्तेनावसेन परोमूजवतोऽतीहि कृत्तिवासा पिनाकहस्तोऽवतत धन्वोमित्यातमितोरपेयुः।

बौधायन धर्मसूत्र

२	५	६	ओ भव देव तर्पयामि। ओं शिव देव तपयामि ओम् ईशान ··ओं पशुपतिं । ओं रुद्र । ओमुग्र । ओ भीम ·। ओ महान्त । ओ भवस्य देवस्य पत्नीं इत्यादि। ओ भवस्य देवस्य सुत ·· इत्यादि। ओं रुद्रपार्षदास्तर्पयामि। ओ रुद्रपार्षदींश्च तर्पयामि।
२	५	७	ओ स्कन्द तर्पयामि। ओ षण्मुख · ·। ओ जयन्त···। ओ विशाख । ओ महासेन । ओ सुब्रह्मण्य ·। ओ स्कन्द पार्षदान् तर्पयामि। ओ स्कन्दपार्षदीश्व तर्पयामि।
२	७	१०	प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो न विशान्तक·।
३	६	६	अप्यमाणे रक्षा कुर्यात्। नमो रुद्राय भूताधिपतये।

मानव गृह्यसूत्र

१	१३	६-१४	अमगल्य चेद् अतिक्रामति अनुमायन्त्विति जपति। नमो रुद्राय ग्रामसद इति ग्रामे। इमा रुद्रायेति च। नमो रुद्रायैकवृक्षासद् इत्येकवृक्षे। ये वृक्षेषु शश्पिजरा इति च। नमो रुद्राय श्मशानसद इति श्मशाने। ये भूतानामधिपतय इति च। नमो रुद्राय चतुष्पथसद इति चतुष्पथे। ये पथा पथि रक्षथ इहि च। नमो रुद्राय तीर्थसद इति तीर्थे। ये तीर्थानि प्रचरन्तीति।
२	३	५	तस्याग्नि रुद्र पशुपतिम् ईशान त्र्यम्बक शरद पृपातक गा इति यजति।

शूलगव होम

२	५	रौद्र शरदि शूलगवः। प्रागुदीच्या दिशि ग्रामस्यासकाशे निशि गर्त्तां मध्ये तष्टो यूप·। प्राक् स्विष्टिकृतोऽष्टौ शोणितपूतान् पूरयित्वा नमस्ते रुद्र मन्यव इति प्रभृतिभिरष्टाभिरनुवाकैर्दिक्ष्वन्तर्दिक्षु चोपहरेत्। नाशृत ग्राममाहरेत्। शेष भूमौ निखनेद् अपि चर्म।
२	१०	फाल्गुन्या पौर्णमास्या पुरस्ताद धानपूपाभ्यां भग चार्यमनञ्च यजेत् इन्द्राण्या हविष्यान् पिष्ट्वा पिष्टानि समुत्पूय यावन्ति पशुजातानि तावता मिथुनान् प्रतिरूपान् अर्पयित्वाकास्येऽध्याज्यान् कृत्वा तेनैव रुद्राय स्वाहेति जुहोति। ईशानायेत्येके।

विनायक

२	१४	अथातो विनायकान् विख्याष्यामः। शालकटकटश्च कूष्माण्डराजपुत्रश्चोस्मितश्च देवयजनश्चेति। एतैरधिगतानाम् इमानि

रूपाणि भवन्ति लोष्ठ मृद्नाति। तृणानि छिनत्ति। अगेषु लेखान् लिखति। अपस्वप्न पश्यति। जटिलान् पश्यति। कषायवासान् पश्यति। उष्ट्रान् शूकरान् गर्दभान् दिवाकीर्त्यादीन् अन्यांश्चाप्रयातान् स्वप्नान् पश्यति। अन्तरिक्ष क्रामति। अध्वानं व्रजन् मन्यते पृष्ठतो मे कश्चिद् व्रजति। एतैः खलु विनायकैराविष्टा राजपुत्रा लक्षणवन्तो राज्य न लभन्ते। कन्याः पतिकामा लक्षणवत्यो भर्तॄन् न लभन्ते। स्त्रियः प्रजाकामा लक्षणवत्यः प्रजा न लभन्ते। स्त्रीणाम् आचारवतीनाम् अपत्यानि म्रियन्ते। श्रोत्रियोऽध्यापक आचार्यत्व न प्राप्नोति। अध्येतॄणाम् अध्ययने महाविघ्नानि भवन्ति। वणिजा वाणिज्यपथो विनश्यति। कृषिकराणां कृषिरल्पफला भवति। तेपा प्रायश्चित्तं ········

नमस्तेऽस्तु भगवन् शतरश्मे तमोनुद।
जहि मे दौर्भाग्य सौभाग्येन मा संयोजय॥

मधुपर्क

१२ उत्तमायाः प्रदोषे चतुष्पथेऽगशो गा कारयेत्। यो य आगच्छेत् तस्मै तस्मै दद्यात्॥

आश्वलायन गृह्यसूत्र

१-२ आश्वयुज्याम् आश्वयुजीकर्म। निवेशनम् अलंकृत्य स्नाताः शुचिवाससः पशुपतये स्थालीपाक निरूप्य जुहुयुः। पशुपतये शिवाय शकराय पृषातकाय स्वाहेति।

शूलगव होम

२ शरदि वसन्ते वा·········

६ रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्वेति।

१७ हराय मृडाय। शर्वाय शिवाय भवाय महादेवायोग्राय भीमाय पशुपतये रुद्राय शकरायेशानाय स्वाहेति।

बोधायन गृह्यसूत्र

शूलगव होम

१-३० अरण्येऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य प्रणीताभ्य. कृत्वा बर्हिरादाय गाम् उपकरोति·····ईशानाय त्वा जुष्टम् उपकरोमि इति। तूष्णीम् इत्येके। अथैनाम् अद्भिः प्रोक्षति। ·· ·· ईशानाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि इति। तूष्णीम् इत्येके। तामत्रैव प्रतिचीन-

शिरसीमुदीचीनपदीं सञ्ज्ञापयन्ति। तस्यै सञ्ज्ञप्तायाः अद्भिरभिषेकम्। प्राणानामप्यायति। तूष्णीं वपाम् उत्खिद्य हृदयमुद्धरति। प्रज्ञातानि चावदानानि। तान्येतेष्वेव शूलेषूपनिक्षिप्य तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयन्ति। ·· ··परिधाना-प्रभृत्यग्निमुखात् कृत्वा दैवतम् आह्वायति।· ·
आ त्वा वहन्तु हरयः सचेतसः श्वेतैरश्वैस्सहकेतुमद्भिर्वाताजिरैर्बलवद्भिर्मनोजवैरायाहि शीघ्र मम हव्याय सर्वोमिति। अथ स्रुवेणोपस्तीर्णम् अभिघारित। वपा जुहोति सहस्राणि सहस्रश· इति। पुरोऽनुवाक्यमूच्य ईशान त्वा भुवनानाम् अभिश्रियम् इति यज्यया जुहोति। अत्रैतान्यवदानानि कुदासूने प्रछिद्यौदन मास यूषमित्याज्येन समुदायुत्य मेत्तेनोपघात पूर्वार्द्धे जुहोति ··· भवाय देवाय स्वाहा, उग्राय देवाय स्वाहा, महते देवाय स्वाहा इति। अथ मध्ये जुहोति। भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा, शर्वस्य देवस्य पत्न्ये स्वाहा, ईशानस्य पशुपतेर् ···रुद्रस्य······उग्रस्य · · · भीमस्य · महतो इति। अथ परार्द्धे जुहोति, भवस्य देवस्य सुताय स्वाहा· 'पशुपतेर् रुद्रस्य · उग्रस्य · ·· भीमस्य ·· महतो · इति। अथापरार्द्धे जुहोति। भवस्य देवस्य सुताय स्वाहा· · (इत्यादि)। अथाज्याहुतिरुपजुहोति ·· नमस्ते रुद्र मन्यव इत्यन्तादनुवाकस्य। स्विष्टिकृत् प्रभृति सिद्धमाधेनु वर प्रदानात्। अथाग्रेणाग्निमर्कपर्णेषु हुतशेष निदधाति ·· · यो रुद्रोऽग्नौ योऽप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु इति।
अपि यदि गा न लभेत मेषमज वा लभेत। ईशानाय स्थालीपाक वा श्रपयन्ति तस्मादेतत् सर्वं करोति यद्गवा कार्यं ·· · एवम् अष्टम्यां प्रदोषे क्रियेतैतावदेव नाना नात्रोपकरण पशोः।

रुद्र-मूर्ति की स्थापना

३ २ १६ १-४३ चतुर्थ्याम् अष्टम्याम् अपभरण्या वा चतुर्दश्या वा यानि चान्यानि शुभनक्षत्राणि तेषु पूर्वेद्यु रेव युग्मान् ब्राह्मणानेव परिविष्य पुण्याह स्वस्ति ऋद्धिम् इति वाचयित्वा समागताया निशाया कपिलपञ्च गव्येन सहिरण्य-यव-दूर्वाङ्कुराश्वत्थ-पलाशपर्णेन सुवर्णोपधाना प्रतिकृतिं कृत्वाभिषिञ्चति। आपो हिष्ठा मयोभुव· इति तिसृभिः · हिरण्यवर्णा शुचयः पावकाः इति चतसृभि पवमानः सुवर्चानः इत्येतेनानुवाकेन व्याहृतीभिश्च। पुष्पफलाक्षतमिस्रयवदूर्वाङ्कुर पादपीठे निक्षिपति नमस्ते रुद्र मन्यव इति तेन 'नमस्ते अस्तु धन्वने इत्यष्टाभि स्नापयति· हिरण्येन तेजसा चक्षु र्विमोचयेत्।

तेजोऽसीति लिंगो चेन्निवर्तते चक्षुषोरभावात् ।······अथ त्र्यम्बकं यजामहे मा नो महान्त मा न स्तोके, आर्द्राय रुद्रः, हेतिः रुद्रस्य आरात्ते अग्निः, विकिरदविलोहितसहस्राणि सहस्रधा सहस्रशः इति द्वादशनामभिः शिवाय शंकराय सहमानाय शितिकण्ठाय कपर्दिने ताम्राय अरुणाय अपगुरमानाय हिरण्यवाहवे शष्पिंजराय बभ्लुशाय हिरण्याय स्वाहा इति ।···हविषाबलिमुपाहरति···त्वमेकमाद्य पुरुष पुरातन रुद्र शिव विश्वसृज यजामहे । त्वामेव यज्ञो विहितो विधेयस्त्वमात्मनात्मन् प्रतिगृह्णीष्व हव्यम् इति ।

रुद्र-प्रतिमा का स्नान

१८ अथैनं प्रसादयति·······

आराधितो मनुष्यैस्त्वं सिद्धैर्देवासुरादिभिः ।
आराधयामि शक्त्या त्वाऽनुगृहाण महेश्वर ॥

त्र्यम्बकं यजामहे इति च ······
अथ रुद्रगायत्रीं जपेत्, 'तत्पुरुषाय विद्महे' इत्येतां रौद्रीं सहस्रकृत्वावर्तयेत् ।········

दुर्गा

२ यज्ञोपवीत रक्तपुष्पपद्म सभारानुकल्प्य मासि मासि कृत्तिका पूर्वाह्णे गोमयेन गोचर्ममात्र चतुरस्र स्थण्डिल कृत्वा प्रोक्ष्य शौचेन सुव्रतस्तिष्ठन् भगवतीम् आह्वयेत्· जातवेदसे इति । 'ओम् आर्यां रौद्रीमाह्वयामीत्याहूय तमग्निवर्णाम् इति कूर्चं दत्वा अग्ने त्वां पारय इति यज्ञोपवीतं दत्वाथैनां स्नपयति । आपो हिष्ठा मयोभुवः इति तिसृभिः हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानाः इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा आर्यायै रौद्रायै महाकाल्यै महायोगिन्यै सुवर्णपुष्प्यै, देवसकीर्त्यै महायज्ञ्यै (यक्ष्यै) महावैष्णव्यै महापृथिव्यै मनोगम्यै शङ्खधरिण्यै नमः इति ·सावित्र्यै··भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविर्निवेदयामि इति हविर्निवेद्य शेषम् एकादशनामधेयैर्हुत्वा पञ्चदुर्गां जपेद् दशस्वरितं जपेत् ।

ज्येष्ठा

६ अथ श्वो भूते ज्येष्ठामनुस्मरन्नुत्थाय देवागारे रहस्यप्रदेशे वा यत्र रोचते मनस्तत्र स्थण्डिलं कृत्वा ·····ज्येष्ठा-देवीमाह्वयति······

यस्याः सिंहा रथे युक्ता व्याघ्राश्चाप्यनुगामिनः ।
तामिमां पुण्डरीकाक्षीं ज्येष्ठामाह्वयाम्यहम् ॥

इत्याहूय··ज्येष्ठायै नमः ······हस्तिमुखायै नमः ···· विघ्नपार्षदायै नमः, विघ्नपार्षद्यै नमः इति ।

विनायक

३ ३ १०

मासि मासि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षस्य पचम्या वाभ्युदशैः सिद्धिकाम· ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत् ·

विघ्न-विघ्नेश्वरागच्छ विघ्नित्येव नमस्कृत ।
अविघ्नाय भवान् सम्यक् सदस्माक भव प्रभो ॥

अथ तूष्णीं वा गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्य उपतिष्ठते· ··· भूपतये नमो भुवनपतये नमो भूतानां पतये नमः इति ।

उपस्थाय तिस्रो विनायकाहुतिर्जुहोति विनाकाय भूपतये नमो, विनायकाय स्वाहा । विनायकाय भुवनपतये नमो विनायकाय स्वाहा विनायकायभूतानां पतये नमो, विनायकाय स्वाहा इति जय प्रभृतिसिद्धिम् आधेनुवरप्रदानात् । अपूप करम्भोदकं सक्तून् पयसम् इत्यथास्मा उपाहरति· विघ्नाय स्वाहा विनायकाय स्वाहा वीराय स्वाहा शूराय स्वाहा उग्राय स्वाहा भीमाय स्वाहा हस्तिमुखाय स्वाहा वरदाय स्वाहा विघ्नपार्षदेभ्यः स्वाहा विघ्नपार्ष-दीभ्यः स्वाहा इति ।

अथ भूतेभ्यो बलिम् उपहरेत् ये भूताः प्रचरन्तीति ।

अथ पञ्चसूत्र कङ्कण हस्ते व्याहृतीभिर्बध्नाति ·· विनायक महा-बाहो विघ्नेशभवदाज्ञया कामा मे साधिताः सर्वे इद बध्नामि ककणम् इति ।

अथ साग्निक विनायक प्रदक्षिणा कृत्वा प्रणम्याभिवाद्य विनायक विसर्जयति—

कृत यदि मया प्राप्त श्रद्धया वा गणेश्वर ।
उत्तिष्ठ सगणः साधो याहि भद्र प्रसीदताम् ॥

परिशिष्ट : चतुर्थ अध्याय

रामायण (बम्बई संस्करण, निर्णयसागर प्रेस)

मदन-दहन

काण्ड	सर्ग	श्लोक	
बाल	२३	१०	कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः । तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम् ॥
,,	,,	११	कृतोद्वाह तु देवेशं गच्छन्त समरुद्गणम् । धर्षयामास दुर्मेधा हुकृतश्च महात्मना ।
,,	,,	१२	अवध्यातश्च रुद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन । व्यशीर्यन्त शरीरात्स्वात् सर्वगात्राणि दुर्मतेः ॥
,,	,,	१३	तत्र गात्र हत तस्य निर्दग्धस्य महात्मनः । अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद्देवेश्वरेण ह ॥
,,	,,	१४	अनग इतिविख्यातस्तदा-प्रभृति राघव । स चाङ्गविषय. श्रीमान्यत्राग स मुमोच ह ॥
,,	३५	१५	तस्या गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता । उमा नाम द्वितीयाऽभूत् कन्या तस्यैव राघव ॥
,,	,,	१६	या चान्या शैलदुहिता कन्यासीद् रघुनन्दन ॥
,,	,,	२०	उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवर· सुताम् । रुद्राय प्रतिरूपाय उमा लोकनमस्कृताम्

कार्त्तिकेय का जन्म

काण्ड	सर्ग	श्लोक	
,,	३६	५	पुरा राम कृतोद्वाहः शितिकण्ठो महातपाः ।
,,	,,	६	दृष्ट्वा च भगवान् देवीं मैथुनायोपचक्रमे । तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमत· । शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ।
,,	,,	७	न चापि तनयो राम तस्यामासीत् परतप । सर्वे देवा· समुद्युक्ताः पितामहपुरोगमा ॥
,,	,,	८	यदि होत्पद्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यति । अभिगम्य सुरा· सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ।

का०	सर्ग	श्लो०	
वाल	३६	६	देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत। सुराणा प्रणिपातेन प्रसाद कर्तुमर्हसि ॥
,,	,,	१०	न लोका धारयिष्यन्ति तव तेज. सुरोत्तम। ब्राह्मण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥
,,	,,	११	त्रैलोक्य हितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय। रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान् नालोक कर्तुमर्हसि ॥
,,	,,	१२	देवताना वच. श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः। बाढमित्यब्रवीत् सर्वान् पुनश्चेदमुवाच ह ॥
,,	,,	१३	धारयिष्याम्यह तेजस्तेजसैव सहोमया। त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥
,,	,,	१४	यदिद क्षुभित स्थानान् मम तेजोह्यनुत्तमम्। धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमा. ॥
,,	,,	१५	एवमुक्तास्ततो देवा. प्रत्युचुर्वृपभध्वजम्। यत्तेज. क्षुभित ह्यद्य तद् धरा धारयिष्यति ॥
,,	,,	१६	एवमुक्तः सुरपति. प्रमुमोच महावलः। तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥
,,	,,	१७	ततो देवा. पुनरिदमूचुश्चापि हुताशनम्। आविश त्व महातेजो रौद्र वायुसमन्वित ॥
,,	,,	१८	तदग्निना पुनर्व्याप्त सञ्जात श्वेतपर्वतम्। दिव्य शरवण चैव पावकादित्यसन्निभम् ॥
,,	,	१६	यत्र जातो महातेजा' कार्त्तिकेयोऽग्निसम्भव। अथोमा च शिव चैव देवा सर्पिगणास्तथा ॥
,,	,,	२०	पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्तदा। अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥
,,	,,	२१	समन्युरशपत्सर्वान्क्रोधसरक्तलोचना। यस्मान्निवारिता चाह सगता पुत्रकाम्यया ॥
,	,	२२	अपत्य स्वेपु दारेपु नोत्पादयितुमर्हथ। अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजा सन्तु पत्नय' ॥
,,	,,	२३	एवमुक्त्वा सुरान्सर्वान्शशाप पृथिवीमपि। अवने नैकरूपा त्व वहुभार्या भविष्यसि ॥
,,	,,	२४	न च पुत्रकृता प्रीतिं मत्क्रोधकलुपीकृता। प्राप्स्यसे त्व सुदुर्मेधो मम पुत्रमनिच्छती ॥
,,	,,	२५	तान् सर्वान् पीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा। गमनायोपचक्राम दिश वरुणपालिताम् ॥

का०	सर्ग	श्लो०	
वाल	३६	२६	स गत्वा तप आतिष्ठत्पाश्र्वे तस्योत्तरे गिरेः । हिमवत्प्रभवे शृंगे सह देव्या महेश्वरः ॥

गंगावतरण

,,	४३	२	अथ सवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः । उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥
,,	,,	३	प्रीतस्तेऽह नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् । शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥
,,	,,	४	ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता । तदा साति महद्रूप कृत्वा वेग च दुःसहम् ॥
,,	,,	५	आकाशादपतद्राम शिवे शिवशिरस्युत । अचिन्तयच्च सा देवी गगापरमदुर्द्धरा ॥
,,	,,	६	विशाम्यह हि पाताल स्रोतसा गृह्य शंकरम् । तस्यावलेपन ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हर· ॥
,,	,,	७	तिरोभावयितु बुद्धिं चक्रे त्रिनयनस्तदा । सा तस्मिन् पतिता पुण्ये पुण्ये रुद्रस्य मूर्द्धनि ॥
,,	,,	८	हिमवत्प्रतिमे राम जटामडलगह्वरे । सा कथञ्चिन्मही गन्तु नाशक्नोद्यत्नमास्थिता ॥
,,	,,	९	नैव सा निर्गम लेभे जटामण्डलमन्ततः । तत्रैवावभ्रमद्देवी सवत्सरगणान्बहून् ॥
,,	,,	१०	तामपश्यत् पुनस्तत्र तप· परममास्थितः । स तेन तोपितश्चासीदत्यन्त रघुनन्दन ॥
,,	,,	११	विससर्ज ततो गङ्गा हरो विन्दुसरः प्रति । तस्या विसृज्यमानाया सप्तस्रोतासि जज्ञिरे ॥

शिव द्वारा विषपान

,,	४५	१८	ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् । मन्थान मन्दर कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥
,,	,,	१९	अथ वर्षसहस्रेण योक्त्रसर्पशिरासि च । वमन्तोऽति विषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥
,,	,,	२०	उत्पपाताग्निसकाश हालाहलमहाविषम् । तेन दग्ध जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥
,,	,,	२१	अथ देवा महादेव शकर शरणार्थिन· । जग्मुः पशुपतिं रुद्रं त्राहि त्राहीति तुष्टुवु· ॥

का०	सर्ग	श्लो०	
वाल	४५	२२	एवमुक्तस्ततो देवैर्देवदेवेश्वरः प्रभुः । प्रादुरासीत्ततोऽत्रैव शखचक्रधरो हरिः ॥
,,	,,	२३	उवाचैन स्मित कृत्वा रुद्र शूलभृतं हरिः । दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम् ॥
,,	,,	२४	तत्त्वदीय सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतोहि यत् । अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेद विष प्रभो ॥
,,	,,	२५	इत्युक्त्वा च सुरश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत । देवतानां भय दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्य तु शार्ङ्गिण ॥
,,	,,	२६	हालाहल विष घोर सजग्राहामृतोपमम् । देवान्विसृज्य देवेशो जगाम भगवान् हरः ॥

विश्वामित्र द्वारा शिव-पूजा

,,	५५	१२	स गत्वा हिमवत्पार्श्वे किन्नरोरगसेविते । महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥
,,	,,	१३	केनचित्त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः । दर्शयामास वरदो विश्वामित्र महामुनिम् ॥

शिव-धनुष

,,	६६	८	देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः । न्यासोऽय तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मन ॥
,,	,,	९	दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् । विध्वस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत् ॥
,,	,,	१०	यस्माद्भागार्थिनो भागान्नाकल्पयत मे सुराः । वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि व ॥
,,	,,	११	ततो विमनस सर्वे देवा वै मुनिपुगव । प्रसादयन्ति देवेश तेषा प्रीतो भवद्भवः ॥
,,	,,	१२	प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम् । तदेतद्देव देवस्य धनूरत्न महात्मनः ॥
,,	,,	१३	न्यासभूत तदा न्यस्तमस्माक पूर्वजे विभौ । अथ मे कृषत क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता तत ॥
,,	,,	१४	क्षेत्र शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता । भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥

शिव-धनुष

१	७५	११	इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते । दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥

का०	सर्ग	श्लो०	
बाल	७५	१२	अनुसृष्ट सुरैरेक त्र्यम्बकाय युयुत्सवे । त्रिपुरघ्न नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥

अन्धक-वध

किष्किं०	४३	५५	भगवांस्तत्रविश्वात्मा शम्भुरेहकादशात्मकः । ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्पि परिवारितः ॥

शिवादि की राम से विनती

युद्ध	११७	२	ततो वैश्रवणो राजा यमश्च पितृभिः सह । सहस्राक्षश्च देवेशो वरुणश्च जलेश्वर ॥
,,	,,	३	षडर्धनयन. श्रीमान् महादेवो वृषध्वजः । कर्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा वेदविदा वरः ॥
,,	,,	५	अब्रुवस्त्रिदशश्रेष्ठा' राघव प्राजलिं स्थितम् ॥
,,	,,	६	उपेक्षसे कथ सीता पतन्तीं हव्यवाहने ॥

सीता-ग्रहण करने पर शिव का साधु-वाक्य

,,	११९	१	एतच्छ्रुत्वा शुभ वाक्य राघवेणानुभाषितम् । ततः शुभतर वाक्य व्याजहार महेश्वरः ॥
,,	,,	२	पुष्कराक्ष महाबाहो महावक्षः परतप । दिष्ट्या कृतमिदं कर्म त्वया धर्मभृता वर ॥

विद्युत्केश के पुत्र की कथा

उत्त०	४	२७	ततो वृषभमास्थाय पार्वत्या सहितः शिवः । वायुमार्गेण गच्छन् वै शुश्राव रुदितस्वनम् ॥
,,	,,	२८	अपश्यदुमया सार्द्धं रुदन्त राक्षसात्मजम् । कारुण्यभावात्पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ॥
,,	,,	२९	त राक्षसात्मज चक्रे मातुरेव वयः समम् । अमर चैव त कृत्वा महादेवो क्षरोव्ययः ॥
,,	,,	३०	पुरमाकाशग प्रादात् पार्वत्याः प्रियकाम्यया । उमयापि वरो दत्तो राक्षसीना नृपात्मज ॥
,,	,,	३१	सद्योपलब्धिर्गर्भस्य प्रसूतिः सद्य एव च । सद्य एव वयः प्राप्तिर्मातुरेव वयः समम् ॥

शिव का असुरवध करने से इनकार

,,	६	६	इत्युक्तस्तु सुरैः सर्वैः कपर्दी नीललोहितः ।

कुबेर द्वारा शिव-पूजा

का०	सर्ग	श्लो०	
उत्त०	१३	२१	अह तु हिमवत्पृष्ठ गतो धर्ममुपासितुम् । रौद्र व्रत समास्थाय नियतो नियतेन्द्रियः ॥
,,	,,	२२	तत्र देवो मया दृष्ट उमया सहित' प्रभुः । सव्य चक्षुर्मया दैवात्तत्र देव्या निपातितम् ॥
,,	,,	२३	का न्वेषेति महाराज न खल्वन्येन हेतुना । रूप चानुपम कृत्वा रुद्राणी तत्र तिष्ठति ॥
,,	,,	२४	देव्या दिव्यप्रभावेण दग्ध सव्य ममेक्षणम् । रेणुध्वस्तमिव ज्योतिः पिंगलत्वमुपागतम् ॥
,,	,,	२५	ततोहमन्यद्विस्तीर्ण गत्वा तस्य गिरेस्तटम् । तूष्णी वर्षशतान्यष्टौ समधार महाव्रतम् ॥
,,	,,	२६	समाप्ते नियमे तस्मिँस्तत्र देवो महेश्वर. । ततः प्रीतेन मनसा प्राह वाक्यमिद प्रभुः ॥
,,	,,	२७	प्रीतोस्मि तव धर्मज्ञ तपसानेन सुव्रत । मया चैतद् व्रत चीर्ण त्वया चैव धनाधिप ॥
,,	,,	३०	देव्या दग्ध प्रभावेण यच्च सव्य तवेक्षणम् । पैङ्गल्य यदवाप्त हि देव्या रूपनिरीक्षणात् ॥
,,	,,	३१	एकाक्षिपिंगलीत्येव नाम स्थास्यति शाश्वतम् । एव तेन सखित्व च प्राप्यानुज्ञा च शकरात् ॥

नन्दी और रावण का मानमर्दन

का०	सर्ग	श्लो०	
,,	१६	८	इति वाक्यान्तरे तस्य कराल. कृष्णपिंगलः । वामनो विकटो मुडी नन्दी ह्रस्वभुजो बली ॥
,,	,,	९	तत. पार्श्वमुपागम्य भवस्यानुचरोऽब्रवीत् । नन्दीश्वरो वचश्चेद राक्षसेन्द्रमशकित' ॥
,,	,,	१०	निवर्तस्व दशग्रीव शैले क्रीडति शकर. । सुपर्णनागयक्षाणा देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥
,	,,	११	सर्वेषामेव भूतानामगम्य' पर्वतः कृतः । इति नन्दिवच. श्रुत्वा क्रोधात् कम्पितकुण्डल. ॥
,,	,,	१२	रोषात्तु ताम्रनयनः पुष्पकादवरुह्य स. । कोऽय शकर इत्युक्त्वा शैलमूलमुपागतः ॥
,,	,,	१३	सोऽपश्यन्नन्दिन तत्र देवस्यादूरत स्थितम् । दीप्त शूलमवष्टभ्य द्वितीयमिव शकरम् ॥
,,	,,	१५	त क्रुद्धो भगवान्नन्दी शकरस्यापरा तनु । अब्रवीत्तत्र तद्रक्षो दशाननमुपस्थितम् ॥

का०	सर्ग	श्लो०	
उत्त०	१६	२२	अचिन्तयित्वा स तदा नन्दिवाक्य महाबलः । पर्वत तु समासाद्य वाक्यमाह दशाननः ॥
,,	,,	२३	पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः तमिम शैलमुन्मूल करोमि तव गोपते ॥
,,	,,	२४	केन प्रभावेण भवो नित्य क्रीडति राजवत् । विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम् ॥
,,	,,	२५	एवमुक्त्वा ततो राम भुजान् विक्षिप्य पर्वते । तोलयामास त शीघ्र स शैल· समकम्पत ॥
,,	,,	२६	चालनात्पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिताः । चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ॥
,	,,	२७	ततो राम महादेवो देवाना प्रवरो हरः । पादाङ्गुष्ठेन तं शैल पीडयामास लीलया ॥
,,	,,	२८	रक्षसा तेन रोषाच्च भुजाना पीडनात्तथा । मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्य येन कम्पितम् ॥
,,	,	३०	मेनिरे वज्रनिष्पेपं तस्यामात्या युगक्षये । तदा वर्त्मसु चलिता देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥
,,	,,	३१	समुद्राश्चापि सक्षुब्धाश्चलिताश्चापि पर्वता· । यथा विद्याधराः सिद्धाः किमेतदिति चाब्रुवन् ॥
,,	,,	३२	तोषयस्व महादेव नीलकठमुमापतिम् । तमृते शरण नान्य पश्यामोऽत्र दशानन ॥
,,	,,	३३	स्तुतिभिः प्रणतो भूत्वा तमेव शरण व्रज । कृपालुः शकरस्तुष्टः प्रसादं ते विधास्यति ॥
,,	,,	३४	एवमुक्तस्तदामात्यैस्तुष्टाव वृषभध्वजम् । सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः ॥ संवत्सरसहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम् ।
,,	,,	३५	ततः प्रीतो महादेव शैलाग्रे विष्ठितं प्रभु· । मुक्त्वा चास्य भुजान् राम प्राह वाक्य दशाननम् ॥
,,	,,	४०	एवमुक्तस्तु लकेश· शम्भुना स्वयमब्रवीत् । प्रीतो यदि महादेव वर मे देहि याचत· ॥
,,	,,	४३	एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शंकर· । ददौ खड्गं महादीप्त चन्द्रहासमिति श्रुतम् ॥

शिव का स्त्रीरूप धारण करना

,,	८७	११	तस्मिन् प्रदेशे देवेश शैलराजसुता हरः ।

का०	सर्ग	श्लो०	
उत्त०	८७	१२	कृत्वा स्त्रीरूपमात्मानमुमेशो गोपतिध्वज. । देव्या॰ प्रियचिकीर्षु. सँस्तस्मिन् पर्वतनिर्झरे ॥
,,	,,	१३	यत्र यत्र वनोद्देशे सत्त्वा. पुरुषवादिन । वृक्षा॰ पुरुषनामानस्ते सर्वे स्त्रीजनाभवन् ॥
,,	,,	१४	यच्च किंचन तत्सर्वं नारीसंज्ञ बभूव ह । एतस्मिन्नन्तरे राजा स इल. कर्दमात्मज. ॥
,,	,,	१५	निघ्नन् मृगसहस्राणि त देशमुपचक्रमे । स दृष्ट्वा स्त्रीकृत सर्वं सव्यालमृगपक्षिणम् ॥
,,	,,	१६	आत्मन स्त्रीकृत चैव सानुग रघुनन्दन । तस्य दु.ख महच्चासीद्दृष्ट्वात्मान तथागतम ॥
,,	,,	१७	उमापतेश्च तत्कर्म ज्ञात्वा त्रासमुपागमत् । ततो देव महात्मान शितिकठ कपर्दिनम् ॥
,,	,	१८	जगाम शरण राजा सभृत्यवलवाहन. । तत॰ प्रहस्य वरद. सह देव्या महेश्वर ॥

शिव का भैषज

,,	६०	१२	नान्य पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम् । नाश्वमेधात्परो यज्ञ॰ प्रियश्चैव महात्मन ॥

रामायण (गोरेसियो संस्करण)

४	५	३०	यथा क्रुद्धस्य रुद्रस्य त्रिपुर वै विजिघ्नु प ।
,,	४४	४६	रुद्रस्य किल सस्थान शरो वै सार्वमेधिकम् । *तमतिक्रम्य शैलेन्द्र महादेवाभिपालितम् ॥*
५	८६	६	तत॰ सभाया देवस्य राज्ञो वैश्रवणस्य स । धनाध्यक्षस्य सभा देव प्राप्तो हि वृषध्वज ॥
६	५१	१७	रुद्रवनाहत घोर यथा त्रिपुरगोपुरम् ।
,,	६४	५५	आक्रीड इव रुद्रस्य क्रुद्धस्य निघ्नत पशून् ।
,,	६५	८८	ईश्वरेणाभिपन्नस्य रूप पशुपतेरिव ।

महाभारत (दक्षिण संस्करण)

सागर-मन्थन

पर्व	अध्या०	श्लो०	
आदि	१३	२२	एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा दध्यौ लोकेश्वर हरम् । त्र्यक्ष त्रिशूलिन रुद्र देवदेवमुमापतिम् ॥
,,	,,	२३	तदथ चिन्तितो देवस्तज्ज्ञात्वा द्रुतमाययौ

पर्व	अध्या०	श्लो०	
आदि	१३	२४	तस्याथ देवस्तत् सर्वमाचचक्ष प्रजापति. । तच्छ्रुत्वा देवदेवेशो लोकस्यास्य हितेप्सया ॥
,,	,,	२५	अपिबद् तत् विषं रुद्र. कालानलसमप्रभम् ।
,,	,,	२६	यस्मात्तु नीलिता कण्ठे नीलकण्ठस्ततः स्मृतः ।

शिव के चार मुख

,,	२००	८४	द्रष्टुकामस्य रुद्रस्य गताया पार्श्वतस्ततः । अन्यदञ्चितपक्ष्मान्त पश्चिम नि.सृत मुखम् ॥
,,	,,	८५	गतायाश्चोत्तरं पार्श्वमुत्तर निःसृत. मुखम् । पृष्ठतः परिवर्तिन्याः दक्षिण निःसृत मुखम् ॥
,,	,,	८७	एव चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत् पुरा ।

जरासध का नरमेध

सभा	२१	९८	तान् राज्ञः समुपगृह्य त्व रुद्रायोपजिहीर्षसे ।
,,	,,	१००	मनुष्याणा समालम्भो न हि दृष्टः कदाचन ।
,,	,,	१०१	स कथ मनुषैर्देव यष्टुमिच्छसि शकरम् । सवर्णो हि सवर्णाना कथ कुर्याद्विहिंसनम् ॥

अर्जुन की तपस्या

वन	३३	८७	यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्ष शूलधर शिवम् । तदा दातासि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वत ।

किरात रूप मे शिव

,,	३५	१	गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु । पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हर. ॥
,,	,,	२	कैरात वेशमास्थाय काचनद्रुम सन्निभम् ।
,,	,,	४	देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेशया । नानावामधरैर्हृष्टैर्भूतैरन्वनुगतस्तथा ॥
,,	,,	५	किरातवेशसछन्न स्त्रीभिश्चानुसहस्रशः । अशोभत महाराज स देवोऽतीव भारत ॥
,,	,,	१३	अनुमोचाशनिप्रख्य शार्ङ्गग्निशिखोपमम् ।

गंगावतरण

,,	८५	२२	करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र सशय. । वेग तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाच्च्युताम् ।

पर्व	अध्या०	श्लो०	
वन	८५	२३	न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद्धारयितुं नृप । अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥
,,	,,	२५	तपसाराधितः शंभुर्भगवान् लोकभावनः ।
,,	८६	२	धारयिष्ये महाबाहो गगनात् प्रच्युतां शिवाम् । दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥
,,	,,	३	एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत् । संवृतः पार्षदैर्घोरैर्नाना प्रहरणोद्यतैः ॥
,,	,,	५	एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ।
,,	,,	१०	तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् । ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ॥

स्कन्द-जन्म

पर्व	अध्या०	श्लो०	
वन	१८३	५	देवासुराः पुरायत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् । तत्राजयन् सदा देवान् दानवा घोररूपिणः ॥
,,	,,	३३	समवाये तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रो व्यचिन्तयत् ।
,,	,,	३५	जनयेद् यं सुतं सोमं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् । अग्निश्चैभिर्गुणैः सर्वैरग्निः सर्वाश्च देवताः ॥
,,	,,	४०	तत्राभ्यगच्छद् देवेन्द्रो यत्र सप्तर्षयोऽभवन् ।
,,	,,	४२	पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः ॥
,,	,,	४४	समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमण्डलात् । विनिःसृत्य ययौ वह्निः पार्श्वतो विधिवत् प्रभुः ॥
,,	,,	४६	निश्चक्रामश्चापश्यत् स पत्नीस्तेषां महात्मनाम् । पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥
,,	,,	५३	अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणां वह्निर्वनमुपागमत् । स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमाकामयत् तदा ॥
,,	,,	५५	सा तं ज्ञात्वा यथावत्तु वह्निं वनमुपागतम् । तत्त्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भामिनी ॥
,,	,,	५६	अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् । कामयिष्यामि कामार्तं तासां रूपेण मोहितम् ॥
,,	१८४	१	शिवाभार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता । तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥
,,	,,	८	ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतः उदाहरत् । प्रीत्या देहीति संयुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥
,,	,,	११	सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्गत्य महतो वनात् । अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्भैः सुसंवृतम् ॥

पर्व	अध्या०	श्लो०	
वन	१८४	१४	प्राक्षिपत् काचने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता सती ॥
,,	,,	१५	शिष्टानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् । पत्नीसरूपता कृत्वा रमयामास पावकम् ॥
,,	,,	१६	दिव्यरूपम् अरुन्धत्याः कर्तुं न शकितं तया । तस्यास्तपः प्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ॥
,,	,,	१७	षट्कृत्वस्तत्र निक्षिप्तमग्ने रेतः करूत्तमम् । तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ॥
,,	,,	१८	तत्र स्कन्नं तेजसा तत्र सहृत जनयत् सुतम् । ऋषिभिः पूजितं स्कन्दं जनयत् स्कन्दनात् तु तत् ॥
,,	१८५	४७	ततः कुमार संजातं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ।
,,	१८६	३०	सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैः देवगणैः सह । अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ॥
,,	,,	३४	रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्र सूनुस्ततस्तु सः । कीर्तयते सुमहातेजः कुमारोऽद्भुतदर्शनः ॥
,,	,,	३६	पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः । रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥
,,	,,	३७	अनुप्रविश्य जातेन वह्निं जातोऽप्ययं शिशुः । तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥

शिवपुत्र रूप में स्कन्द

,,	१८८	८	अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् । रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ॥
,,	,,	९	हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वम् अपराजितः ॥
,,	,,	१०	उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना । आस्ते गिरौ निपतितं मुञ्जिको मुञ्जिका ततः ।
,,	,,	११	मिथुनं वै महाभाग तत्र तद् रुद्रसंभवम् । भूतं लोकं हितोद्देशे शुक्रशेषमवापतत् ॥
,,	,,	१२	सूर्यरश्मीषु चाप्यन्यद् अन्यच्चैवापतद् भुवि । आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेव पञ्चधाऽभवत् ॥
,,	,,	१७	तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः । त एव पार्षदा घोरा य एते पिशिताशनः ॥
,,	,,	५०	स गृहीत्वा पताकां तु यात्यग्रे रक्तमो ग्रहः । क्रीडतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ॥

पर्व	अध्या०	श्लो०	
वन	२२६	२६	स देव शरण गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ।
		२७	बलिं स्वय प्रत्यगृह्णात् प्रियमानस् त्रिलोचन. ।।
उद्यो०	६	४६	अथ सवत्सरेपूर्णेभूताः पशुपते. प्रभो ।
			समाक्रोशन्त मघवान् न. प्रभुर्ब्रह्महा इति ।।

शिव के अनेक नाम

,,	१७७	७	त देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापति' ।
,,	,,	८	तत' स पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
,,	,,	११	यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृपध्वज ।
,,	१७८	४	अपत्यार्थे महाराज तोपयामास शकरम् ।
द्रोण	४१	१५	भक्तानुकम्पी भगवान् तस्मिंश्चक्रे ततो दयाम् ।

मृत्यु की उत्पत्ति

,,	४६	४४	प्रजा सृष्ट्वा महाराज प्रजासर्गे पितामह. ।
			असहृत महातेजा दृष्ट्वा जगदिद प्रभु. ।।
,,	,,	४५	चिन्तयन्नाससादैव सहार वसुधाधिप ।
,,	,,	४६	तस्य रोषान्महाराज मुखेभ्योऽग्निरजायत ।
,,	,,	४७	ततो भुव दिव चैव सर्वं ज्वालाभिरावृतम् ।
			चराचर जगत्सर्वं ब्रह्मण परवीरहन् ।।
,,	,,	४६	ततो हरो जटी स्थाणुर्निशाचरपति शिव ।
			जगाम शरण देव ब्रह्माण परवीरहन् ।।
,,	,,	५०	तस्मिन् निपतिते स्थाणौ प्रजाना हितकामया ।
			अब्रवीत् परमो देवो ज्वलन्निव महाद्युति ।।
		५१	करिष्ये ते प्रिय काम ब्रूहि स्थाणो यदिच्छसि ।
,,	७३	४८	तत स्पृष्टोदक पार्थं विनीतपरिचारकम् ।
			नैत्यक दर्शयाञ्चक्रे नैश त्र्यम्बक वलिम् ।।

शिव-वर्णन

,,	७४	३५	समापन्नस्तु त देश शैलाग्रे तु समवस्थितम् ।
			तपोनित्य महात्मानम् अपश्यद्वानरध्वज ।।
,,	,,	३६	सहस्रमिव सूर्याणा दीप्यमान स्वतेजसा ।
			शूलिन जटिल शीर्णवल्कलाजिनवाससम् ।।
,,	,,	३७	नयनाना सहस्रैश्च विचित्राङ्ग महौजसम् ।
			पार्वत्या सहित देव भूतसंघैश्च भास्वरम् ।।

पर्व	अध्या०	श्लो०	
द्रोण	७४	३८	गीत-वादित्र संवादैस्ताल-नर्तन-लासितैः । वल्गितास्फोटितोत्क्रुष्टैः पुण्यगन्धैश्चसेवितम् ॥
,,	,,	३९	वासुदेवस्तु तं दृष्ट्वा जगाम शिरसा क्षितिम् । पार्थेन सह धर्मात्मा गृणन् ब्रह्म सनातनम् ॥
,,	,,	४१	लोकादिंविश्वकर्माणम् अजमीशानमव्ययम् । तमसः परम ज्योतिः ख वायु ज्योतिषा गतिम् ॥
,,	,,	४२	योगिना परमं ब्रह्माव्यक्त वेदविदा निधिम् । चराचरस्य स्रष्टार प्रतिहर्तारमेव च ॥
,,	,,	४३	कालकोपं महात्मान शक्रसूर्यगुणोदयम् । ववन्दे त तदा कृष्णो वाङ्मनोबुद्धिकर्मभिः ॥
,,	,,	४४	य प्रपश्यन्ति विद्वास. सूक्ष्माध्यात्मनिदर्शनात् ॥ तमज कारणात्मान जग्मतुः शरण भवम् ।

कृष्ण और अर्जुन द्वारा शिवस्तुति

,,	,,	५२	नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च । पशूना पतये नित्यमुग्राय च कपर्दिने ॥
,,	,,	५३	कुमारगुरवे नित्य नीलग्रीवाय वेधसे । विलोहिताय धूम्राय व्यालयज्ञोपवीतिने ॥
,,	,,	५४	महादेवाय भीमाय त्र्यम्बकाय शिवाय च । ईशानाय मखघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥
,,	,,	५६	अचिन्त्यायाम्बिकाभर्त्रे सर्वदेवस्तुताय च । वृषध्वजाय मुण्डाय जटिने ब्रह्मचारिणे ॥
,,	,,	५७	तपसे तप्यमानाय ब्रह्मण्यायामिताय च । विश्वात्मने विश्वसृजे विश्वमावृत्य तिष्ठते ॥
,,	,,	६०	नम. सहस्रशिरसे सहस्रभुजमन्यवे ।
,,	,,	६१	सहस्रनेत्रपादाय नमोऽसंख्येयकर्मणे । नमोहिरण्यवर्णाय हिरण्यकवचाय च ॥
,,	,,	६२	नमोऽस्तु देवदेवायमहाभूतधराय च । भक्तानुकम्पिने नित्य सिध्यता नो वर· प्रभो ॥

कृष्ण द्वारा शिव की स्तुति

,,	१९९	२९	दिव्यमालापरिक्षिप्त तेजसा परमं निधिम् । रुद्र नारायणो दृष्ट्वा ववन्दे विश्वमीश्वरम् ॥
,,	,,	३०	वरदं सह पार्वत्या प्रियया दयिताप्रियम् । क्रीडमानं महात्मानं भूतसङ्घगणैर्वृतम् ॥

पर्व	अध्या०	श्लो०	
द्रोण	१६६	३१	अजमीशानमव्यक्त कारणात्मानमव्ययम् ।
			स्वजानुभ्या महीं गत्वा कृत्वा शिरसाञ्जलिम् ॥
,,	,,	३२	पश्चात्तस्त विरूपाक्षम् अभिस्तुष्टाव भक्तिमान् ।

त्रिपुरदाह

पर्व	अध्या०	श्लो०	
कर्ण	२४	५८	अनगमथन सर्वे भव सर्वात्मना गताः ।
,,	,,	६०	सर्वात्मान महात्मान येनाप्त विश्वमात्मना ।
			तपोविशेषैर्विविधैयोग यो वेद चात्मनः ॥
,,	,,	६१	यः साख्यमात्मनो वेत्ति यस्य चात्मा वशे सदा ।
			त ते ददृशुरीशान तेजोराशिं उमापतिम् ॥
,,	,,	६३	एकश्च भगवाँस्तत्र नाना रूपाण्यकल्पयन् ।
			आत्मनः प्रतिरूपाणि रूपाण्यथ महात्मनि ॥
,,	,,	६७	नमो देवाधिदेवाय प्रियधाम्नेऽतिमन्यवे ।
			प्रजापतिमखघ्नाय प्रजापतिभिरीड्यते ॥
,,	,,	६८	नम' स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय शभवे ।
			विलोहिताय धूम्राय नीलग्रीवाय शूलिने ॥
,,	,,	७०	ईशानायाप्रमेयाय निहन्त्रे चर्मवाससे ।
			तपो रताय पिंगाय व्रतिने कृत्तिवाससे ॥
,,	,,	७१	कुमारपित्रे त्र्यक्षाय प्रवरायुधयोधिने ।
			प्रपन्नार्तिविनाशाय ब्रह्मद्विट्-सघघातिने ॥
,	,	७२	वनस्पतीना पतये वनाना पतये नमः ।
			गवा च पतये नित्य यज्ञाना पतये नम॰ ॥
,,	,	७३	नमो नमस्ते सौम्याय त्र्यम्बकायोग्रतेजसे ।
			मनोवाक्कर्मभिर्देव त्वां प्रपन्नान् भजस्व न' ॥
,	२५	१७	साहाय्य व करिष्यामि निहनिष्यामि वो रिपून् ।
,,	,,	१८	दीयतां च बलार्धं मे सर्वैरपि पृथक् पृथक् ।
,,	,,	१९	पशुत्व चैव मे लोका' सर्वे कल्पन्तु पीडिता'
			पशूना च पतित्व मे भवत्वाद्य दिवौकस॰ ॥
,,	,,	२४	यो व पशुपतेश्चर्या चरिष्यति स मोक्ष्यते ।
			पशुत्वाद् इति सत्य वः प्रतिजाने समागमे ।
,,	,,	२५	ये चान्येऽपि चरिष्यन्ति व्रत मोक्ष्यन्ते तेऽप्युत ।
			नैष्ठिक द्वादशाब्द वा योऽब्दमर्धम् ऋतुत्रयम् ।
			मास द्वादशरात्र वा स पशुत्वाद् विमुच्यते ॥
,,	,,	२६	तस्मात् परमिद गुह्य व्रत दिव्य चरिष्यथ ।

पर्व	अध्या०	श्लो०	स्कन्द-जन्म
शल्य०	४४	६	तेजो माहेश्वर स्कन्नमग्नौ प्रणिहितं पुरा । तत्सर्वं भगवान् अग्निर्नाशकद् धर्तुमक्षयम् ॥
,,	,,	८	स गंगामुपसगम्य नियोगाद् ब्रह्मण. प्रभुः । गर्भमाहितवान् दिव्य भास्करोपमतेजस. ॥
,,	,,	६	अथ गङ्गापि तं गर्भम् असहन्ती च धारणे ॥ उत्ससर्ज गिरौ तस्मिन हिमवत्यमरार्चिते ॥
,,	,,	१०	स तत्र ववृधे लोकान् आवृत्य ज्वलनात्मजः । ददृशुर्ज्वलनाकार त गर्भम् अथ कृत्तिकाः ॥
,	,,	११	शरस्तम्बे महात्मानम् अनलात्मजमीश्वरम् । ममायमिति सर्वास्ता. पुत्रार्थिन्यो विचुक्रुशुः ॥
,,	,,	१२	तासा विदित्वा भाव त मातृणा भगवान् प्रभुः । प्रस्नुताना पयः पड्भिराननैरपिवत् तदा ।
,,	,,	१६	कुमारस्तु महावीर्यः कार्तिकेय इति स्मृत. । गाङ्गेय पूर्वमभवन् महाकायो बलान्वितः ॥
,,	,	२३	स ददर्श महात्मान देवदेवमुमापतिम् । शैलपुत्र्या समागम्य भूतसघैः समावृतम् ॥
,,	,,	२४	निकाया भूतसघाना परमाद्भ तदर्शनाः । विकृता विकृताकारा विकृताभरणध्वजा. ॥
,,	,,	२५	व्याघ्रसिंहर्क्षवदना बिडालमकराननाः । वृषदशमुखाश्चान्ये खरोष्ट्रवदनास्तथा ॥
,,	,,	२६	उलूकवदनाः केचिद् गृध्रगोमायुदर्शना । क्रौञ्चपारावतनिभैर्वादनैर्भैरवैरपि ॥
,,	,,	२७	श्वाविच्छल्यकगोधानामजैडकगवामपि । सदृशानि वपूंष्यन्ये तत्र तत्र व्यधारयन् ॥
,,	,,	२८	केचिच्छैलाम्बुदप्रख्याश्चक्रोद्यतगदायुधा' । केचिदञ्जनपुञ्जाभा' केचिच्छ्वेताचलप्रभाः ।
,,	,,	३४	तमाव्रजन्तमालोक्य शिवस्यासीन्मनोगतम् । युगपच्छैलपुत्र्याश्च गङ्गायाः पावकस्य च ॥
,,	,,	३५	क नु पूर्वमय बालो गौरवादभ्युपैति च । अपि माम् इति सर्वेषा तेषामासीन् मनोगतम् ॥
,,	,,	३६	तेषामेवम् अभिप्राय चतुर्णामुपलक्ष्य स. ॥ युगपद् योगमास्थाय ससर्ज विविधास्तनूः ॥
,,	,,	३७	ततोऽभवच्चतुर्मूर्तिः क्षणेन भगवान् प्रभुः ।

अश्वत्थामा द्वारा शिव के काल्पनिक रूप की आराधना

पर्व	अध्या०	श्लो०	
सौप्तिक	६	३२	सोऽहमद्य महादेवं प्रपद्ये शरणं प्रभुम्। दैवदण्डमिमं घोरं स हि मे नाशयिष्यति ॥
,,	,,	३३	कपर्दिनं प्रपद्येऽहं देवदेवमुमापतिम्। कपालमालिनं रुद्रं भगनेत्रहरं हरम् ॥
,,	७	२	उग्रं स्थाणुं शिवं रुद्रं शर्वमीशानमीश्वरम्।
,,	,,	३	शितिकण्ठमजं रुद्रं दक्षक्रतुहरं हरम् ॥
,,	,,	४	श्मशाननिलयं दृप्तं महागणपतिं विभुम्। खट्वांगधारिणं मुण्डं जटिलं ब्रह्मचारिणम् ॥
,,	,,	८	धनाध्यक्षप्रियसखं गौरीहृदयवल्लभम्। कृत्तिवाससमत्युग्र •
,,	,,	१०	परपरेभ्यः परमं परं यस्मान्न विद्यते। इष्वस्त्रोत्तमभर्तारं दिगन्तं देशरक्षिणम् इत्यादि ॥

दक्षयज्ञ-ध्वंस

पर्व	अध्या०	श्लो०	
,,	१८	१	ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन्। यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद् यष्टुमिप्सवः ॥
,,	,,	३	ता वै रुद्रमजानन्त्यो यातातथ्येन भारत। नाकल्पयन्त देवस्य स्थाणोर्भागं नराधिप ॥
,,	,,	४	सोऽकल्प्यमाने भागे तु कृत्तिवासा मखेऽमरैः। तपसा यज्ञमन्विच्छन् धनुरग्रे ससर्ज ह ॥
,,	,,	८	ततः क्रुद्धो महादेवस्तदुपादाय कार्मुकम्। आजगामाथ तत्रैव यत्र देवा समीजिरे ॥
,,	,,	९	तमात्तकार्मुकं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमव्ययम् ॥ विव्यथे पृथिवी देवी पर्वताश्च चकम्पिरे ॥
,,	,,	१०	न ववौ पवनश्चैव नाग्निर्जज्वाल वैधितः। व्यभ्रमच्चापि संविग्नं दिवि नक्षत्रमण्डलम् ॥
,,	,,	१२	अभिभूतास्ततो देवा विषयान् न प्रजज्ञिरे। न प्रत्यभाच्च यज्ञः स देवतास्त्रेसिरे तथा ॥
,,	,,	१३	ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा। अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा स पावकः ॥
,,	,,	१५	अपक्रान्ते ततो यज्ञे संज्ञा न प्रत्यभात् सुरान्। नष्टसंज्ञेषु देवेषु न प्रज्ञायत कश्चन।

पर्व	अध्या०	श्लो०	
सौप्ति०	१८	१६	त्र्यम्बकः सवितुर्बाहू भगस्य नयने तथा ।
			पूष्णश्च दशनान् सर्वान् धनुष्कोटया व्यशातयत् ॥
,,	,,	१७	प्राद्रवन्त ततो देवा यज्ञागानि च सर्वशः ।
			केचित् तत्रैव घूर्णन्तो गतासव इवाभवन् ॥
,,	,,	१८	स तु विद्राव्य तत् सर्वं शितिकण्ठोवहस्य तु ।
			अवष्टभ्य धनुष्कोटिं रुरोध विबुधान्स्तथा ॥
,,	,,	१९	ततो वाग् अमरैरुक्ता ज्या तस्य धनुषोऽछिनत् ।
			अथ तत् सहसा राजन् छिन्नज्य विस्फुरत् धनुः ॥
,,	,,	२०	ततो विधनुषं देवा देवश्रेष्ठमुपागमन् ।
			शरणं सह यज्ञेन प्रसाद चाकरोत् प्रभुः ॥
,,	,,	२३	सर्वाणि च हर्वाण्यस्य देवा भागमकल्पयन् ।
शान्ति	१८६	६	रुद्रादित्यवसूना च तथान्येषा दिवौकस ।
			एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मन. ॥
शान्ति	१९१		वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम् ।
			भूतमातृगणाध्यक्षा विरूपाक्षं च सोऽसृजत् ॥

कृष्ण द्वारा शिव का महिमागान

अनुशा०	२२	२२	न शक्या कर्मणा वेत्तु गतिमीशस्य तत्त्वतः ।
			हिरण्यगर्भप्रमुखाः सेन्द्रा देवा महर्षयः ॥
,,	,,	२३	न विदुर्यस्य निधनमादिं वा सूक्ष्मदर्शिन' ।
			स कथ नाममात्रेण शक्यो ज्ञातु सता गतिः ।

उपमन्यु द्वारा शिव का महिमा-गान

अनुशा०	,,	९६	एष एव महान् हेतुरीशः कारणकारणम् ।
			शुश्रुमो न यदन्यस्य देवमभ्यर्चित सुरै. ॥
,,	,,	९७	कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिंगं मुक्त्वा महेश्वरम् ॥
			अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः ॥
,,	,,	९८	यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं च शक्रमहामरैः ।
			अर्चयध्व मदा लिंगं तस्माच्छ्रेष्ठवरो हि स. ॥
,,	,,	९९	दिवसकरशशाङ्कवह्निनेत्र, त्रिभुवनसारमपारमीशमाद्यम् ॥
			अजरममरमप्रसाद्यरुद्र जगति पुमान् इह को लभेत शान्तिम् ॥

शिव का वर्णन

,,	,,	११५	प्रशान्तमनव देवं त्रिहेतुमपराजितम् ।

पर्व	अध्या०	श्लो०	
अनु०	२२	११६	नीलकण्ठ महात्मान हर्यक्ष तेजसा निधिम् । अष्टादशभुज देव सर्वाभरणभूषितम् ॥
,,	,,	११७	शुक्लाम्बरधर देव शुक्लमाल्यानुलेपनम् । शुक्लध्वजमनाधृश्य शुल्कयज्ञोपवीतिनम् ॥
,,	,,	११८	वृत पार्श्वचरैर्दिव्यै रात्मतुल्यपराक्रमै. ॥
,,	,,	११६	त्रिभिर्नेत्रै. कृतोद्योत त्रिभि' सूर्यैरिवोदितैः ।
,,	,,	१२१	अशोभतास्य देवस्य माला गात्रे सितप्रभा । जातरूपमयै. पद्मै र्ग्रथिता रत्नभूषिता ॥
,,	,,	१२३	इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मन । पिनाकमिति विख्यात स च वै पन्नगो महान् ॥
,,	,,	१४३	असख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमत । प्राधान्यतो मयैतानि कीर्त्तितानि तवानघ ॥
,,	,,	१४४	सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मालोक पितामह । दिव्य विमानमास्थाय हसयुक्त मवस्थित ॥
,,	,,	१४५	वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थित. । वैनतेय समास्थाय स्थितो देव्या समीपत' ॥
,,	,,	१४६	शक्तिकण्ठे समास्थाय द्वितीय इव पावक. ।

उपमन्यु द्वारा शिवस्तुति

,,	,,	१५४	नमो देवाधिदेवाय महादेवाय ते नम । शक्राय शक्ररूपाय शक्रवेशधराय च ॥
,,	,,	१५६	नमोस्तु कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे । कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च ॥
,,	,,	१५८	त्व ब्रह्मा सर्वदेवाना रुद्राणा नीललोहित. । आत्मा च सर्वभूताना साख्ये पुरुप उच्यते ॥
,,	,,	१५६	ऋपभस्त्व पवित्राणा योगिनां कपिलः शिव ।
,,	,,	१६४	सनत्कुमारो योगाना साख्याना कपिलो मुनिः ॥
,,	,,	१६६	आदिस्त्वमसि लोकाना सहर्ता काल एव च ।
,,	,,	१८८	योऽसृजद् दक्षिणाद् अगाद् ब्रह्माण लोकसभवम् । वामपार्श्वात् तथा विष्णु लोकरक्षार्थमीश्वर ॥
,,	,,	१८६	युगान्ते समनुप्राप्ते रुद्र प्रभुरथासृजत् ।
,,	,,	१६०	स रुद्र सहरन् कृत्स्न जगत्स्थावरजगमम् । कालो भूत्वा पर ब्रह्म याति सवर्तकानल. ॥
,,	,,	१६२	सर्वग सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भव । आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्य सर्वदेवतै ॥

पर्व	अध्या०	श्लो०	
			कृष्ण द्वारा शिवस्तुति
अनु०	२२	२२७	त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः । धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥
			पार्वती का वर्णन
,,	२३	३	ततो मां जगतो माता धारणी सर्वपावनी । उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसा निधिः ॥
			देवता और मनुष्य शिव को नहीं जानते
,,	,,	४०	अय ब्रह्मादिभिः सिद्धै र्गुहाया सेवितः प्रभुः । देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेद् इति ॥
,,	,,	४१	तेन देवासुरनरा भूतेश न विदुर्भवम् । मोहिता खल्वनेनैव हृच्छयेन प्रचोदिताः ॥
,,	,,	४२	ये चैनं सम्प्रपद्यन्ते भक्तियोगेन भारत । तेषामेवात्मनात्मानं दर्शयत्येव हृच्छयः ॥
,,	,,	४३	यं सांख्य गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः । सूक्ष्मज्ञानरता सर्वे ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥
			जिज्ञासु शिव
,,	६८	७	उपससर्प भगवन्तमाचार्यं भगवान् आचार्यो रुद्रः ।
,,	,,	८	इत्युक्ते चासीनो भगवान् अनन्तरूपो रुद्रस्त प्रोवाच ।
,,	,,	१२	यश्च तत्पुरुष शुद्धम् इत्युक्त योग-सांख्ययोः ।
,,	,,	१८	सर्वमेतद् यथा तत्त्वम् आख्याहि मुनिसत्तम ॥
,,	,,	१६	चतुर्थस्त्व त्रयाणां तु ये गता परमां गतिम् ।
,,	,,	२०	ज्ञानेन तु प्राकृतेन निर्मुक्तो मृत्युबन्धनात् ।
,,	,,	२१	वयं तु वैकृतं मार्गमाश्रिता वै हर सदा । परमुत्सृज्य पन्थानम् अमृताक्षरमेव तु ॥
,,	,,	२२	न्यूने पथि निमग्नास्तु ऐश्वर्येऽष्टगुणे तथा । महिमानं प्रगृह्येमं देवदेवं सनातनम् ॥
			हिमालयवासी शिव
,,	११२	१७	तत्र देवो गिरितटे हेमधातुविभूषिते । पर्यंकइव बभ्राजन्नुपविष्टो महाद्युतिः ॥
,,	,,	१८	व्याघ्रचर्मपरिधानो गजचर्मोत्तरच्छदः । व्यालयज्ञोपवीतीच लोहितांगदभूषित ॥
,,	,,	१६	भयहेतुरभक्तानां भक्तानामभयंकर ॥

शिव का तृतीय नेत्र

पर्व	अध्या०	श्लो०	
अनु०	११२	२६	ततस्तस्मिन् क्षणे देवी भूतस्त्रीगणसंवृता ।
			हरतुल्याम्बरधरा समानव्रतचारिणी ॥
"	"	२८	सरित्स्वाभिः सर्वाभिः पृष्ठतोऽनुगता वरा ।
			सेवितु भगवत्पार्श्वम् आजगाम शुचिस्मिता ॥
"	"	३४	तृतीय चास्य संभूत ललाटे नेत्रमायतम् ।
			द्वादशादित्यसंकाश लोकान् भासावभासयत् ॥

शिव की महिमा

पर्व	अध्या०	श्लो०	
"	११२	५२	सर्वेश हि लोकाना कूटस्थ विद्धि मां प्रिये ।
"	"	५३	मदाधीनास्त्रयो लोका यथा विष्णौ तथा मयि ॥
"	"	५४	स्रष्टा विष्णुरह गोप्ता इत्येतद् विद्धि भामिनि ।
			तस्माद् यदा मां स्पृशति शुभ वा यदि वेतरात् ।
			तथैवेद जगत्सर्वं तत्तत् भवति शोभने ॥

शिव और तिलोत्तमा

पर्व	अध्या०	श्लो०	
"	११३	६	पुरासुरौ महाघोरौ लोकाद्वेगकरौ भृशम् ।
			सुन्दोपसुन्दनामानावासतुः बलगर्वितौ ॥
"	"	७	तयोरेव विनाशाय निर्मिता विश्वकर्मणा ।
			तिलोत्तमेति
"	"	९	सा तपस्यन्तमागम्य रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
			मया बहुमता चेय देवकार्यं करिष्यति ॥
"	"	१०	इति मत्वा तदा चाह कुर्वन्तीं मा प्रदक्षिणाम् ।
			तथैव तां दिदृक्षुश्च चतुर्वक्त्रोऽभव प्रिये ॥
"	"	११	ऐन्द्र मुखमिद पूर्वं तपश्चर्यापर सदा ।
			दक्षिण मे मुख दिव्य रौद्र संहरति प्रजाः ॥
"	"	१२	लोककार्यपर नित्य पश्चिमं मे मुख प्रिये ।
			वेदान् अधीते सततम् अद्भुत चोत्तर मुखम् ॥

कापालिक शिव

पर्व	अध्या०	श्लो०	
"	११४	५	आवासार्थं पुरा देवि शुद्धान्वेषी शुचिस्मिते ।
			नाध्यगच्छं चिर काल देशं शुचितमं शुभे ॥
"	"	६	एष मेऽभिनिवेशोऽभूत् तस्मिन् काले प्रजापतिः ।
"	"	७	आकुल सुमहाघोर प्रादुरासीत् समन्ततः ।
			संभूता भूतसृष्टिश्च घोरा लोकभयावहा ॥

पर्व	अध्या०	श्लो०	
अनु०	११४	८	नाना वर्णा विरूपाश्च तीक्ष्णदंष्ट्राः प्रहारिणः । पिशाचरक्षोवदनाः प्राणिना प्राणहारिणः । इतश्चरन्ति निघ्नन्तः प्राणिनो भृशमेव च ॥
,,	,,	९	एवं लोके प्राणिहीने क्षयं याते पितामहः । चिन्तयस्तत्प्रतीकारे मां च शक्तं हि निग्रहे ॥
,,	,,	१०	एवं ज्ञात्वा ततो ब्रह्मा तस्मिन् कर्मण्ययोजयत् ॥
,,	,,	११	तच्च प्रणिहितार्थं तु मयाप्यनुमतं प्रिये । तस्मात् संरक्षिता देवि भूतेभ्यो प्राणिनो भयात् ॥
,,	,,	१२	अस्माच्छ्मशानान्मेध्यं तु नास्ति किंचिद् अनिन्दिते । निःसंपातान् मनुष्याणां तस्माच्छुचितमं स्मृतम् ॥
,,	,,	१३	भूतसृष्टिं च तां चाहं श्मशाने सन्यवेशयम् । तत्रस्थसर्वभूतानां विनिहन्मि प्रिये भयम् ॥
,,	,,	१४	न च भूतगणेनाहमपि नाशितुमुत्सहे । तस्मान्मे सन्निवासाय श्मशाने रोचते मनः ॥
,,	,,	१५	मेध्यकामैर्द्विजैर्नित्यं मेध्यमित्यभिधीयते । अर्चद्भिर्व्रतं रौद्रं मोक्षकामैश्च सेव्यते ॥

शिव का उग्र रूप

,,	,,	२०	पिंगलं विकृतं भाति रूपं ते तु भयानकम् । भस्मदिग्धं विरूपाक्षं तीक्ष्णदंष्ट्रं जटाकुलम् ॥
,,	,,	२१	व्याघ्रोदरत्वक्संवीतं कपिलश्मश्रुसंततम् । रौद्रं भयानकं घोरं शूलपट्टिससंयुतम् ॥
,,	,,	२२	किमर्थं त्वीदृशं रूपं तन्मे शंसितुमर्हसि ।
,,	,,	२३	द्विविधो लौकिको भावः सितमुष्णमिति प्रिये ॥
,,	,,	२४	तयोर्हि ग्रथितं सर्वं सौम्याग्नेयमिदं जगत् ॥
,,	,,	२५	सौम्यत्वं सततं विष्णौ मय्याग्नेयं प्रतिष्ठितम् । अनेन वपुषा नित्यं सर्वलोकान् बिभर्म्यहम् ॥
,,	,,	२६	रौद्राकृतिं विरूपाक्षं शूलपट्टिससंयुतम् । आग्नेयमिति मे रूपं देवि लोकहितेरतम् ॥
,,	,,	२७	यद्यहं विपरीतं स्यामेतत् त्यक्त्वा शुभानने । तदैव सर्वलोकानां विपरीतं प्रवर्तते ॥
,,	,,	२८	तस्मान् मयेदं ध्रियते रूपं लोकहितैषिणा ॥

दक्षयज्ञ-विध्वंस

,,	१५०	५	शिवः सर्वगतो रुद्रः स्रष्टा यस्त शृणुष्व मे । प्रजापतिस्त्विमद्भजत् तपसोऽन्ते महातप ।

पर्व०	अध्या०	श्लो०	
अनु०	१५०	८	शकरस्त्वसृजत् तात प्रजा स्थावरजगमाः ॥
			नास्ति किंचित् पर भूत महादेवाद् विशापतेः ।
,,	,,	१२	इह त्रिष्वेपि लोकेपु भूताना प्रभवो हि सः ॥
			प्रजापतेस्तु दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ ।
,,	,,	१४	विव्याध कुपितो यज्ञ निर्भयस्तु भवस्तदा ॥
			तेन ज्यातलघोपेण सर्वे लोकाः समाकुला. ।
,,	,,	१८	वभूवुरवशा. पार्थ विपेदुश्च सुरासुराः ॥
			तत. सोऽभ्यद्रवद् देवान् क्रुद्धो भीमपराक्रमः ।

त्रिपुरदाह

,,	,,	२५	असुराणा पुराण्यासन् त्रीणि वीर्यवता दिवि ।
,,	,,	२६	नाशकत्तानि भगवान् भेत्तु सर्वायुधैरपि ।
			अथ सर्वेमरा रुद्र जग्मु. शरणमर्दिता. ॥
			स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा विष्णु कृत्वा शरोत्तमम् ।
			शल्यमग्नि तथा कृत्वा पुखे सोममपांपतिम् ॥
,,	,,	३०	ओंकार च धनु कृत्वा ज्या च सावित्रीमुत्तमाम् ।
			वेदान् रथवर कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः ॥
,,	,,	३१	शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
			तेऽसुरा' सपुरास्तत्र दग्धा रौद्रेण तेजसा ॥

इन्द्र का मानमर्दन

,,	,,	३२	देव्याश्चाकगत दृष्ट्वा वाल पचशिख पुनः ।
			उमा जिज्ञासमान. स कोऽयमित्यब्रवीद् वरः ॥
,,	,,	३३	असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यत. ।
			सवज्र सस्तभयामास ता वाहु परिघोपमाम् ॥

देवताओं का अज्ञान

,,	,,	३४	न सबुबुधिरे चैव देवास्त भुवनेश्वरम् ।
			स प्रजापतय सर्वे तस्मिन् मुमुहुरीश्वरे ॥
,,	,,	३५	ततो ध्यात्वा तु भगवान् ब्रह्मा तममितौजसम् ।
			अय श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तमुमापतिम् ॥
,,	,,	३६	ततः प्रसादयामासुरुमा रुद्र च ते सुरा. ॥

पर्व	सर्ग	श्लो०	
			शिव के दो रूप और उनके नाम
मनु०	१२१	३	द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः । घोरामन्या शिवामन्या ते तनू बहुधा पुनः ॥
,,	,,	६	यस्य घोरतरा मूर्तिर्जगत् संहरते तथा । ईश्वरत्वान्महत्त्वाच्च महेश्वर इति स्मृतः ॥
,,	,,	७	यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत्प्रतापवान् । मांसशोणितमज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते ॥
,,	,,	८	यच्च विश्वं जगत्पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥
,,	,,	९	स मेध्यति यन्नित्यं स सर्वान् सर्वकर्मभिः । शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्मादेव शिवः स्मृतः ॥
,,	,,	१०	दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् प्रेरयते च यत् । स्थिरलिंगं च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः ॥
,,	,,	१२	धूम्ररूपजटा यस्माद् धूर्जटिः पुनरुच्यते । विश्वे देवाश्च यद्रून् विश्वरूपस्ततः स्मृतः ॥
,,	,,	१३	सहस्राक्षोऽच्युताक्षश्च सर्वतोऽक्षिमयोपि च । चक्षुषः प्रभवं तेजः सर्वतश्चक्षुरेव च ॥
,,	,,	१४	सर्वथा यत् पशून् पातितैश्च यद्रमते पुनः । तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात् पशुपतिरुच्यते ॥
,,	,,	१५	नित्येन ब्रह्मचर्येण लिंगमस्य सदा स्थितम् । भक्तानुग्रहार्थाय गूढलिंगस्ततः स्मृतः ॥
			शिव की प्रतिमाएँ
,,	,,	१६	विग्रहं पूजयेद् यो वै लिंगं वापि महात्मनः । पूज्यमाने सदा तस्मिन् मोदते स महेश्वरः ॥
			शिव का सौम्य और उग्र रूप
,,	,,	१९	तस्याघोराणि रूपाणि दीप्तानि च शुभानि च । लोके यानि स्म पूज्यन्ते विप्रास्तानि विदुर्बुधाः ॥
,,	,,	२१	वेदे चास्य विदुर्विप्राः शतरुद्रियमुत्तमम् । व्यासेनोक्तं च यच्चास्योपस्थानं महात्मनः ॥

परिशिष्ट : पंचम अध्याय

(साहित्य-ग्रन्थ)

'बुद्ध-चरित'

सर्ग	श्लोक	
१	६१	धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैन । देव्यंकसंविष्टमिवाग्निसूनुम् ॥
१	८८	भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो । भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीत' ॥
१०	३	विसिस्मिये तत्र जनस्तदानीं स्थाणुव्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥

'सौन्दरानन्द'

१०	६	सतप्तचामीकरभक्तिचित्र रूप्यागद शीर्णमिवाम्बिकाया' ॥

'मृच्छकटिकम्'

१	१५	के बाद का गद्य भाग.— तद् वयस्य कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलि । गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर ।
१	४१	एशाशि वाशू शिलशि ग्गहिदा केशेशु वालेशु शिलोलुहेशु । आक्कोश विक्कोश लवाहिचण्ड शभु शिव शकलमीशल वा ॥
३	१२	के बाद का गद्य भाग — प्रथममेतत् स्कन्दपुत्राणा सिद्धिलक्षणम् । अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशम् इदानीं सधिमुत्पादयामि ? इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विध सन्ध्युपायो दर्शित ।
६	२७	अभअ तुह देउ हरो विण्हू बम्हा रवी अ चदो अ । हत्तूण सत्तुवक्ख सुभणिसुभे जधा देवी ॥
१०	४५	जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता । तदनु जयति भेत्ता षण्मुख क्रौंचशत्रु ॥

'मनुस्मृतिः'

अध्या०	श्लो०	
३	१५२	चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा । विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥
४	३६	मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधुचतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञाताश्च वनस्पतीन् ॥
४	१३०	देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा । नाक्रमेत् कामतश्छाया बभ्रूणो दीक्षितस्य च । [टीका : देवतानां पाषाणादिमयीनाम्]
४	१५३	दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥

'नाट्यशास्त्रम्'

१	१	प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ । नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥
१	४५	दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः । कैशिकीश्लक्ष्णनैपथ्या शृङ्गाररससंभवा ॥
१	६०	सूर्यश्छत्रं शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यजनमेव च ॥
१	६३	तृतीयं च स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥
२	२४	आदौ निवेश्यो भगवान् सार्धं भूतगणैर्भवः ॥
४	१७	ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः ॥
४	१४	प्रयोगमङ्गहाराणाम् आचक्ष्व भरताय वै ॥

'मालविकाग्निमित्रम्'

१	१	एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः । कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद् यतीनाम् । अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः । सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स नस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥

'विक्रमोर्वशीयम्'

१	१	वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी । यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः । अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते । स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥

अध्या०	श्लो०	
५४	३	ततो दारुमय पुण्य दारुजाच्छैलज वरम् ॥
		शैलाद् वर तु मुक्ताज ततो लौह सुवर्णजम् ॥
,,	७	पूज्यो हरस्तु सर्वत्र लिंगे पूर्णार्चन भवेत् ॥
,,	८	चलमगुलमानेन द्वारगर्भकरै स्थितम् ।
		अगुलाद् गृहलिंग स्याद् यावत् पचदशागुलम् ॥

गणेश

अध्या०	श्लो०	
७१	१	गणाय स्वाहा हृदयम् एकदष्ट्राय वै शिरः ॥
,,	२	गजकर्णिने च शिखा गजवक्त्राय वर्म च ।
		महोदराय स्वदन्तहरतायादि तथाऽस्त्रकम् ॥
,,	३	गणो गुर पादुका च शक्त्यनन्तौ च धर्मकः ।
		मुख्यास्थिमण्डल चाधश्चोर्ध्वछदनमर्चयेत् ॥
,,	४	पद्मकर्णिकवीजाँश्च ज्वालिनी नन्दयार्चयेत् ॥
		सूर्येशाकामरूपा च उदया कामवर्त्तिनी ॥
,,	५	सत्या च विघ्ननाशा च आसन गन्धमृत्तिका ।
		य शोपो र च दहन प्लवो ल व तथाऽमृतम् ॥
,,	६	लम्वोदराय विद्महे महोदराय धीमहि ।
		तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ॥
,,	७	गणपतिर्गणाधिपो गणेशो गणनायक ।
		गणक्रीडो वक्रतुण्ड एकदष्ट्रो महोदर ॥
,,	८	गजवक्त्रो लम्बकुक्षिर्विकटो विघ्ननाशन ।
		धूम्रवर्णो महेन्द्राद्या पूज्या गणपते स्मृता ॥

रौद्री

अध्या०	श्लो०	
७२	२६	रौद्री ध्यायेद् वृषाब्जस्था त्रिनेत्रा शशिभूषिताम् ।
		त्रिशूलाक्षधरा दक्षे वामे साभयशक्तिकाम् ॥

शिवार्चन-विधि

अध्या०	श्लो०	
७४	४२	प्रक्षाल्य पिण्डिकालिंगे अस्त्रतोये ततो हृदा ।
		अर्घ्यपात्राम्बुना सिंचेद् इति लिंगविशोधनम् ॥
,,	४३	आत्मद्रव्यमन्त्रलिंगशुद्धो सर्वान् सुरान् यजेत् ।
		वायव्ये गणपतये हा गुरुभ्योऽर्चयेच्छिवे ॥
,,	५०	न्यसेत् सिंहासने देव शुक्ल पचमुख विभुम् ।
		दशबाहु च खण्डेन्दु दधान दक्षिणै करै ।

अध्या०	श्लो०	
७४	५१	शक्त्यृष्टिशूलखट्वाङ्गवरदं वामकैः करैः । डमरुं वीजपूरं च नीलाब्जं सूत्रमुत्पलम् ॥
,,	८१	तन्मे शिवपदस्थस्य हुं क्षः क्षेपय शंकर । शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत् ॥ शिवो जयति सर्वत्र यः शिवः सोऽहमेव च । श्लोकद्वयमधीत्यैव जपं देवाय चार्पयेत् ॥

चण्ड

७६	१	ततः शिवान्तिकं गत्वा पूजाहोमादिकं मम । गृहाण भगवन् पुण्यफलमित्यभिधाय च ॥
,,	४	संहृत्य दिव्यया लिंगं मूर्तिमन्त्रेण योजयेत् । स्थण्डिले त्वर्चिते देवे मन्त्रसंघातमात्मनि ॥
,,	५	नियोज्य विधिनोक्तेन विदध्याच्चण्डपूजनम् ॥
,,	६	ओं धूलिचण्डेश्वराय हुं फट् स्वाहा तमाह्वयेत् ॥
,,	८	चण्डास्त्राय तथा हुं फट् चण्डं रुद्राग्निजं स्मरेत् । शूलटंकधरं कृष्णं साक्षसूत्रकमण्डलुम् ॥
,,	६	टंकाकारेऽर्धचन्द्रे वा चतुर्वक्त्रं प्रपूजयेत् । यथाशक्ति जपं कुर्यादंगानां तु दशांशतः ॥

शिवार्चना

७६	७	सन्निधाने ततः शंभोरुपविश्य निजासने । पवित्रमात्मने दद्याद् गणाय गुरुवह्नये ॥
,,	१५	स्वाहान्तं वा नमोऽन्तं वा मंत्रमेषामुदीरयेत् ॥
,,	१६	ओं हां आत्मतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा । ओं हां विद्यातत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा ॥
,,	१७	अन्तश्चारेण भूतानां द्रष्टा त्वं परमेश्वर । कर्मणा मनसा वाचा त्वत्तो नान्या गतिर्मम ॥
,,	३३	पवित्राणि समारोप्य प्रणम्याग्नौ शिवं यजेत् ।
,,	३४	भुक्तिकामः शिवायाथ कुर्यात् कर्मसमर्पणम् ।
,,	३८	विसृज्य लोकपालादीन् आदायेशात् पवित्रकम् । सति चण्डेश्वरे पूजां कृत्वा दत्त्वा पवित्रकम् ॥

शिववन्दना

८६		ओं नमः शिवाय सर्वप्रभवे ह शिवाय ईशानमूर्धाय । तत्पुरुषवक्त्राय अघोरहृदयाय वामदेवाय गुह्याय ॥

अध्या०	श्लो०	
८६		सद्योजातमूर्त्तये ओ नमो नमो गुह्यातिगुह्याय । गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वाधिपाय ज्योतीरूपाय परमेश्वराय भावेन ओ व्योम ॥

शिव और शक्ति

८८	२	उभौ शक्तिशिवौ तत्त्वे भुवनाष्टकसिद्धिकम् ॥
,,	६	हेतुः सदाशिवो देव इति तत्त्वादिसंचयम् । संचिंत्य शान्त्यतीताख्य विदध्यात् ताडनादिकम् ॥

लिंग-पूजा

९६	२०	*मूर्तीस्तदीश्वरांस्तत्र पूर्ववद् विनिवेशयेत् ।* तद्व्यापक शिव साग शिवहस्त च मूर्धनि ॥
,,	२१	ब्रह्मरंध्रप्रविष्टेन तेजसा बाह्यमन्तरम् । तम पटलमाधूय प्रद्योतितदिगन्तरम् ॥
,,	२२	आत्मान मूर्तिपै. सार्धं स्रग्वस्त्रमुकुटादिभि' । भूषयित्वा शिवोऽस्मीति ध्यात्वा बोधासिमुद्धरेत् ॥
,,	६३	अर्चयेच्च ततो लिंग स्नापयित्वा मृदादिभिः । शिल्पिन तोषयित्वा तु दद्याद् गा गुरवे तत. ॥
,,	६४	लिंग धूपादिभि प्रार्च्य गायेयुर्भर्तृ गा स्त्रिय । सव्येन चापसव्येन सूत्रेणाथ कुशेन वा ॥
,,	६५	स्पृष्ट्वा च रोचनं दत्त्वा कुर्यान्निर्मन्थनादिकम् । गुडलवणधान्याकदानेन विसृजेच्च ता. ॥

लिंगमूर्ति-प्रतिष्ठापन

९७ प्रथम 'द्वारपालो', 'दिक्पतियो' और 'शिवकुम्भ' की पूजा की जाती है। फिर अग्नि और लिंगमूर्ति को आठ मुट्ठी चावल चढाये जाते हैं। तदनन्तर मगलमन्त्रोच्चारण करता हुआ प्रतिष्ठापक मन्दिर में प्रवेश करता है और लिंगमूर्ति की स्थापना करता है—

,,	८	न मध्ये स्थापयेल्लिंग वेधदोषविशकया । तस्मान् मध्य परित्यज्य यवार्धेन यवेन वा ॥
,,	७	ओं नमो व्यापिनि भगवति स्थिरेऽचले ध्रुवे ॥

तब उपासक मणियो, विभिन्न धातुओं और अनेक अन्नों का ध्यान करता है, जिनसे समग्र सौन्दर्य, ऊर्जम्, सुन्दर आकृति और बल मिलता है। तब विभिन्न कलशों को

उपयुक्त मंत्रों के उच्चारण के साथ यथास्थान रखा जाता है। तब 'वास्तु देवताओं' को उपहार देकर उपासक लिंगमूर्ति को उठाता है और उचित प्रदक्षिणा करने के पश्चात् 'भद्र' द्वार के सम्मुख उसकी स्थापना करता है। तदनन्तर 'महापाशुपत' स्तोत्र का जप किया जाता है।

पुरानी लिंग-मूर्त्तियों का जीर्णोद्धार

अध्या०	श्लो०	
१०३	१	लक्ष्मोज्झित च भग्नं च स्थूल वज्रहत तथा। सपुट स्फुटित व्यग लिंगमित्येवमादिकम्॥
,,	२	इत्यादि दुष्टलिंगाना योज्या पिण्डी तथा वृष.।
,,	६	असुरैर्मुनिभिर्गोत्रस्तत्रविद्धि प्रतिष्ठितम्। जीर्णं वाप्यथवा भग्न विधिनापि न चालयेत्॥

काशी का माहात्म्य

अध्या०	श्लो०	
११२	१	वाराणसी पर तीर्थं गौर्यै प्राह महेश्वरः। भुक्तिमुक्तिप्रद पुण्य वसता गृणता हरिम्॥
,,	२	गौरीक्षेत्र न मुक्त वै अविमुक्तं ततः स्मृतम्। जप्त तप्त हुत दत्त अविमुक्ते किलाक्षयम्॥
,,	५	गुह्याना परम गुह्यम् अविमुक्त पर मम।

नर्मदा का माहात्म्य

अध्या०	श्लो०	
११३	१	सद्य' पुनाति गाङ्गेय दर्शनाद् वारि नार्मदम्॥
,,	४	गौरी श्रीरूपिणी तेपे तपस्ताम् अब्रवीद् हरि.। अवाप्स्यसि त्वमाध्यात्म्य नाम्ना श्रीपर्वतस्तव॥
,,	६	मरणं शिवलोकाय सर्वद तीर्थमुत्तमम्। हरोऽत्र क्रीडते देव्या हिरण्यकशिपुस्तथा॥

माघ शुक्ल चतुर्थी को गणेश-पूजा

अध्या०	श्लो०	
१७६	३	उल्कान्तैर्गादिगन्धाद्यैः पूजयेन्मोदकादिभिः। ओं महोल्काय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

शिवरात्रि को पूजा

अध्या०	श्लो०	
१९३	१	माघफाल्गुनयोर्मध्ये कृष्णा या तु चतुर्दशी।
,,	२	कामयुक्ता तु सोपोष्या कुर्वन् जागरणं व्रती।

अध्या०	श्लो०	
१६३	३	आवाहयाम्यह शम्भु भुक्ति-मुक्ति-प्रदायकम् ।
,,	४	नरकार्णवकोत्तारनाव शिव नमोऽस्तु ते ।
		नम शिवाय शान्ताय प्रजाराज्यादिदायिने ॥ इत्यादि ।

विनायक गण

२६५	१	विनायकोपसृष्टाना स्नान सर्वकर वदे ।
		विनायक कर्मविघ्न-सिद्ध्यर्थं विनियोजित ॥
,,	२	गणानामाधिपत्ये च केशवेशपितामहै ।
		स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जल मुण्डाश्च पश्यति ॥
,,	३	विनायकोपसृष्टस्तु क्रव्यादान् अधिरोहति ।
		व्रजमाणस्तथात्मान मन्यतेऽनुगत परैः ॥
,,	५	विमना विफलारम्भ ससीदत्यनिमित्तत. ।
		कन्या वर न चाप्नोति न चापत्य वराङ्गना ॥

सोम और तारा

२७३	२	सोमश्चक्रे राजसूय त्रैलोक्यं दक्षिणा ददौ ।
		समाप्तेऽवभृथे सोम तद्रूपालोकनेच्छवः ॥
,,	३	कामवाणाभितप्ताग्यो नरदेव्य. सिषेविरे ।
		लक्ष्मी नारायण त्यक्त्वा सिनीवाली च कर्दमम् ॥
,,	५	धृतिस्त्यक्त्वा पतिं नन्दीं सोममेवाभजत् तदा ॥
,,	७	स्वकीया एव सोमोऽपि कामयामास तास्तदा ॥
,,	८	बृहस्पते. स वै भार्या तारा नाम यशस्विनीम् ॥
,,	६	जहार तरसा सोमो ह्यवमन्याङ्गिर सुतम् ।
		ततस्तद् युद्धमभवत् प्रख्यात ताराकामयम् ॥
,,	१०	देवाना दानवाना च लोकक्षयकर महत् ।
		ब्रह्मा निर्वार्योशनस ताराम् अङ्गिरसे ददौ ॥
,,	११	तामन्त प्रसवा दृष्ट्वा गर्भं त्यजाब्रवीद् गुरु. ॥
		गर्भस्त्यक्त प्रदीप्तोऽथ प्राहाह सोम सभव ॥
,,	१२	एव सोमाद् बुध पुत्र

विनायक अथवा गणेश

३१२	१	ओं विनायकार्चन वक्ष्ये . .
,,	३	गणमूर्त्ति गणपतिं हृदय स्याद् गणजय ।
		एकदन्तोत्कटशिर शिखायाचलकर्णिने ॥

अध्या०	श्लो०	
३१२	४	गजवक्त्राय कवच्च हु फडन्त तथाष्टकम् । महोदरो दण्डहस्तः पूर्वादौ मध्यतो यजेत् ॥ जयो गणाधिपो गणनायकोऽथ गणेश्वर' । वक्रतुण्ड एकदन्तोत्कटलम्बोदरो गजः ॥
,,	६	वक्त्रो विकटाननोऽथ हु पूर्वो विघ्ननाशनः । धूम्रवर्णो महेन्द्राद्यो वाह्ये विघ्नेशपूजनम् ॥

शिवगायत्री

३१७	७	तन्महेशाय विद्महे महादेवाय धीमहि । तन्नः शिवः प्रचोदयात् ॥

गणेश की विघ्ननिवारणार्थ पूजा

,,	८	यात्राय। विजयादौ च यजेत् पूर्वं गण श्रिये ।
,,	१३	शिरोहत तत्पुरुषेण ओमाद्य च नमोऽन्तकम् ॥
,,	१५	गजाव्य गजशिरस च गाङ्गेय गणनायकम् । त्रिरावर्तं गगनग गोपतिं पूर्वपत्तिगम् ॥
,,	१६	विचित्राश महाकाय लम्वोष्ट लम्वकर्णकम् । लम्वोदर महाभागं विकृतं पार्वतीप्रियम् ॥
,,	१८	महानाद भास्वर च विघ्नराज गणाधिपम् ॥ उद्धटस्वानभश्चण्डी महाशुण्डं च भीमकम् ॥
,,	२०	लय नृत्यप्रिय लौल्यं विकर्णं वत्सलं तथा । कृतान्त कालदण्डं च यजेत्कुम्भ च पूर्ववत् ॥

३२१

पाशुपतशान्ति

ओं नमो भगवते महापाशुपताय ·· ·· त्रिपञ्चनयनाय·········
सर्वाङ्गरक्ताय · श्मशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिकृन्तनरताय···
भक्तानुकम्पिनेऽसंख्यवक्त्रभुजपादाय · वेतालवित्रासिने शाकिनीक्षोभ
जनकाय व्याधिनिग्रह-कारिणे · ·· दुष्टनागक्षयकारिणे क्रूराय···
वज्रहस्ताय······ मुण्डास्त्राय ·· ··ककालास्त्राय ··योगिन्यस्त्राय ··
शिवास्त्राय · · सर्वलोकाय · इत्यादि···

रुद्रशान्ति

३२३	१३	ओं रुद्राय च ते ओं वृषभाय नमोऽविमुक्ताय अशभवाय पुरुषाय च पूज्याय ईशपुत्राय पौरुपाय पच चोत्तरे विश्वरूपाय करालाय विकृत-रूपाय ·

अध्या०	श्लो०	
३२३	१५	एकपिंगलाय श्वेतपिंगलाय कृष्णपिंगलाय नमः।
,,	१६	मधुपिंगलाय नम नियतावनन्तायार्द्राय शुष्काय पयोगणाय कालतत्त्वे करालाय विकरालाय द्वौ मायातत्त्वे सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय •
,,	१८	भूपतये पशुपतये उमापतये कालाधिपतये • ••
,,	२५	शाश्वताय योगपीठसस्थिताय नित्य योगिने•••सर्वप्रभवे •• तत्पुरुपाय पचवक्त्राय।
,,	३१	ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-पर। अनर्चित। अस्तुतस्तु ••

लिंगपूजा

३२६	१०	यदो नम शिवायेति एतावत् परम पदम्। अनेन पूजयेल्लिग लिंगे यस्मात् स्थित' शिव•॥
,,	१२	लिंगार्च्चनाद् भुक्तिमुक्तिर्यावज्जीवमतो यजेत्। वर प्राणपरित्यागो भुजीतापूज्यनैव तम्॥
,,	१४	सर्वयज्ञतपोदाने तीर्थे वेदेपु यत्फलम्। तत्फल कोटिगुणित स्थाप्य लिंग लभेन्नर।
,,	१५	त्रिसन्ध्य योऽर्चयेल्लिग कृत्वा विल्वेन पार्थिवम्। शतैकादशिक यावत् कुलमुद्धृत्य नाकभाक्॥

गणेशमन्त्र

३४७	२१	ओ ग स्वाहा मूल मन्त्रोऽय ग वा गणपतये नम। पटगो रक्तशुक्लश्च दन्ताक्षपरशूत्कट'॥
,,	२३	कूष्माण्डाय एकदन्ताय त्रिपुरान्तकायेति मेघोल्काय विघ्नेश्वराय भुजगेन्द्रहाराय शशाकधराय गणाधिपतये स्वाहा।

गणेश पुराण

एकेश्वर गणेश

१	२०	शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप। योऽभेदबुद्धिर्योग स सम्यग् योगतमो मत॥
१	२१	अहमेव जगद् यस्मात् सृजामि पालयामि च। कृत्वा नानाविध वेश सहरामि स्वलीलया॥
,,	२२	अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिव। मोहयत्यखिलान माया श्रेष्ठान मम नरान अमून्॥

अध्या०	श्लो०	
		गणेश के अवतार
३	६	अनेकानि च ते जन्मान्यतीतानि ममापि च । संस्मरे तानि सर्वाणि न स्मृतिस्तव वर्तते ॥
,,	७	मत्त एव महाबाहो जाता विष्ण्वादयः सुरा. । मय्येव च लयं यान्ति प्रलयेषु युगे युगे ॥
,,	८	अहमेवापरो ब्रह्मा महारुद्रोऽहमेव च । अहमेक जगत् सर्वं स्थावर जगम च यत् ॥
		गणेश की महिमा
६	११	न मा विदन्ति पापिष्ठा मायामोहितचेतसः । त्रिविकारा मोहयति प्रकृतिर्मम जगत्त्रयम् ॥
,,	१६	ब्रह्मा-विष्णु-शिवेन्द्राढयान् लोकान् प्राप्य पुनः पतेत् । यो मामुपैत्यसदिग्धः पतन तस्य न क्वचित् ॥
		गणेश की उपासना का फल
७	२३	योऽसितोऽथ दुराचाराः पापास्त्रैवर्णिकास्तथा । मदाश्रये विमुच्यन्ते किं मद्भक्ता द्विजातय. ॥
		गणेश का विश्वरूप
८	८	वीक्षेऽह तव देहेऽस्मिन् देवान् ऋषिगणान् पितॄन् ।
,,	६	पातालाना समुद्राणा द्वीपाना चापि भूभृतान् ।
,,	१०	ब्रह्म-विष्णु-महेशेन्द्रान् देवान् जन्तून् अनेकधा ।
,,	२०	त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमश्चैव निर्ऋतिर्वरुणो मरुत् । गुह्यै काव्शस्तथेशानः सोमः सूर्योऽखिल जगत् ॥
		गरुड पुराण
७	५२	मध्ये पितामह चैव तथा देव महेश्वरम । पूजयेच्च विधानेन गन्धपुष्पादिभिः पृथक् ॥
१२	६	उत्तरस्या रुद्रकुम्भ पूरित मधुसर्पिषा । श्रीरुद्रं स्थापयेत्तत्र श्वेतवस्त्रेण वेष्टितम् ॥
१६	६	अस्ति देवः परब्रह्मस्वरूपी निष्कलः शिवः । सर्वज्ञ. सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलो द्वयः ॥
,,	७	स्वय ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकार. परात्परः । निर्गुणः सच्चिदानन्दः तदंशाज्जीवसंज्ञकः ॥

अध्या०	श्लो०	
३२३	१५	एकपिंगलाय श्वेतपिंगलाय कृष्णपिंगलाय नम ।
,,	१६	मधुपिंगलाय नम नियतावनन्तायार्द्राय शुष्काय पयोगणाय कालतत्त्वे करालाय विकरालाय द्वौ मायातत्त्वे सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय
,,	१६	भूपतये पशुपतये उमापतये कालाधिपतये ·· ··
,,	२५	शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्य योगिने ''सर्वप्रभवे तत्पुरुपाय पचवक्त्राय।
,,	३१	ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-पर। अनर्चित। अस्तुतस्तु ··

लिंगपूजा

३२६	१०	यदों नम शिवायेति एतावत् परम पदम्। अनेन पूजयेल्लिग लिंगे यस्मात् स्थित· शिव· ॥
,,	१२	लिंगार्चनाद् भुक्तिमुक्तिर्यावज्जीवमतो यजेत्। वर प्राणपरित्यागो भुजीतापूज्यनैव तम् ॥
,,	१४	सर्वयज्ञतपोदाने तीर्थे वेदेपु यत्फलम् । तत्फल कोटिगुणित स्थाप्य लिंग लभेन्नर· ।
,,	१५	त्रिसन्ध्य योऽर्चयेल्लिग कृत्वा विल्वेन पार्थिवम्। शतैकादशिक यावत् कुलमुद्धृत्य नाकभाक् ॥

गणेशमन्त्र

३४७	२१	ओं ग स्वाहा मूल मन्त्रोऽय ग वा गणपतये नम । पटगो रक्तशुक्लश्च दन्ताक्षपरशूत्कट· ॥
,,	२३	कूष्माण्डाय एकदन्ताय त्रिपुरान्तकायेति मेघोल्काय विघ्नेश्वराय भुजगेन्द्रहाराय शशाकधराय गणाधिपतये स्वाहा।

गणेश पुराण

एकेश्वर गणेश

१	२०	शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप। योऽभेदबुद्धिर्योग स सम्यग् योगतमो मत ॥
१	२१	अहमेव जगद् यस्मात् सृजामि पालयामि च। कृत्वा नानाविध वेश सहरामि स्वलीलया॥
,,	२२	अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिव । मोहयत्यखिलान माया श्रेष्ठान मम नरान् अमून्॥

नीलमतपुराण

शिव चतुर्दशी

अध्या०	श्लो०	
४	५०८	घृतकम्वलहीनं तु लिंग सस्नापयेद् बुध' ॥
,,	५११	श्रोतव्य शिवधर्मश्च प्रादुर्भावश्च तत्कृतः ॥
,,	५१२	पैष्टाश्च पशवः कार्या नैवेद्ये शंकरस्य च ॥
,,	५५८	ता रात्री लक्षणं काय वलाकाना गृहे गृहे ॥
,,	५५९	पुंश्चलीसहितैर्नेया क्रीडमानैर्निशा तु सा । ब्रह्मचर्येण गीतेन नृत्यैर्वाद्यैर्मनोहरै ॥

इन्द्र का प्रश्न

,	१०८७	सर्वमेतत् त्वमेवैक. त्वत्त किमपर विभो । यन्नतोऽसि महाभाग एतान् मे सशयो महान् ॥

ब्रह्मा का उत्तर

,,	१२४३	मा मा शक्र वदेदेवमविज्ञातोऽसि पुत्रक ।
,,	१३४४	एप सर्वेश्वर शक्र एपः कारणकारणम् । एप चाचिन्त्यमहिमा एप ब्रह्म सनातनम् ॥
,,	१२४५	स एप सर्वकर्त्ता च सर्वज्ञश्च महेश्वर । यदिच्छया जगदिति वर्वर्ति सचराचरम् ॥

ब्रह्मपुराण

सोम और तारा

९	२१	उशना तस्य जग्राह पार्ष्णीमङ्गिरसस्तथा । रुद्रश्च पार्ष्णी जग्राह गृहीत्वाजगव धनुः ॥
,,	२३	तत्र तद् युद्धमभवत् प्रख्यात तारकामयम् । देवाना दानवाना च लोकक्षयकर महत् ॥
,,	२४	तत्र शिष्टास्तु ये देवा स्तुपिताश्चैव ये द्विजा । ब्रह्माण शरण जग्मुरादिदेव सनातनम् ॥
९	२५	तदानिवार्योशनस त वै रुद्र च शकरम् । ददावाङ्गिरसे तारा स्वयमेव पितामह ॥

'रामेश्वर' तीर्थ

२८	५६	आस्ते तत्र महादेवस्तीरे नदनदीपते । रामेश्वर इति ख्यात सर्वकामफलप्रद ॥

अध्या०	श्लो०	
		इन्द्र का भुजस्तम्भन और शिव का दार्शनिक स्वरूप
३६	३३	स वाहुरुत्थितस्तस्य तथैव समतिष्ठत । स्तम्भित शिशुरूपेण देवदेवेन शंभुना ॥
,,	३६	पुराणै. सामसंगीतै. पुण्याख्यैर्गुह्यनामभि । अजस्त्वमजरो देव. स्रष्टा विभु परापरम् ॥
,,	४०	प्रधानपुरुषो यस्त्व ब्रह्मध्येय तदक्षरम् । अमृत परमात्मा च ईश्वर कारण महत् ॥
,,	४१	ब्रह्मसृक् प्रकृते स्रष्टा सर्वकृत् प्रकृते. परः । इय च प्रकृतिर्देवी सदा ते सृष्टिकारणम् ॥
,,	४२	पत्नीरूप समास्थाय जगत्कारणमागता । नमस्तुभ्य महादेव देव्या वै सहिताय च ॥
,,	४३	देवाद्यास्तु इमा सृष्टा मूढास्त्वद्योगमायया ॥
,,	४५	मूढाश्च देवता सर्वा नैन बुध्यत शकरम् ॥
,,	४७	ततस्ते स्तभिता सर्वे तथैव त्रिदिवौकस । प्रणेमुर्मनसा शर्व भावशुद्धेन चेतसा ॥
		देवताओं द्वारा शिवस्तुति
३७	२	नम पर्वतलिंगाय पवनवेगाय विरूपाय जिताय च
,	३	नीलशिखण्डायाम्बिकापतये शतरूपाय
,,	७	कपालमालाय कपालसूत्रधारिणे कपालहस्ताय दण्डिने गदिने
,,	८	त्रैलोक्यनाथाय पशुलोकरताय खट्वागहस्ताय
,,	६	कृष्णकेशापहारिणे
,,	१०	कालकालाय
,,	१२	दैत्याना योगनाशाय योगिना गुरवे
,,	१३	श्मशानरतये श्मशानवरदाय
,,	१४	गृहस्थसाधवे जटिले ब्रह्मचारिणे मुण्डार्धमुण्डाय पशूनांपतये
,,	१७	साख्याम्
,,	१६	प्रधानायाप्रमेयाय कार्याय कारणाय
,,	२०	पुरुषसयोगप्रधानगुणकारिणे
		उमा की माता द्वारा शिव की निन्दा
३०	२६	दरिद्रा क्रीटनैस्त्व हि भर्त्रा क्रीडसि सगता ॥
,,	२७	ये दरिद्रा भवन्ति स्म तथैव च निराश्रया । उमे त एव क्रीडन्ति यथा तव पति शुभे ॥

अध्या० श्लो०

शिव का उत्तर

३० ३६ एवमेव न सदेहः कस्मान्मन्युरभूत् तव ।
कृत्तिवासा ह्यवासाश्च श्मशाननिलयश्च ह ॥

,, ३७ अनिकेतो हिरण्येषु पर्वताना गुहासु च ।
विचरामि गणैर्नग्नै वृ तोऽम्भोजविलोचने ॥

,, ३८ मा क्रुधो देवि मात्रे त्व तथ्य मातावदत् तव ॥

दक्षयज्ञविध्वस

३९ ३१ सन्ति मे वहवो रुद्राः शूलहस्ता' कपर्दिनः ।
एकादशस्थानगता नान्यं विद्मो महेश्वरम् ॥

दधीचि का कथन

,, ३२ सर्वेपामेकमन्त्रोऽयं ममेशो न निमन्त्रितः ।
यथाह शकराद् ऊर्ध्वं नान्य पश्यामि दैवतम् ॥

शिव द्वारा सती के प्रश्न का समाधान

,, ३८ सुरैरेव महाभागे सर्वमेतदनुष्ठितम् ।
यज्ञेपु मम सर्वेपु न भाग उपकल्पितः ॥

,, ३९ पूर्वागतेन गन्तव्यं मार्गेण वरवर्णिनि ।
न मे सुरा प्रयच्छन्ति भाग यज्ञस्य धर्मतः ॥

वीरभद्र को शिव का आदेश

,, ४९ तमुवाच मख गच्छ दक्षस्य त्वं महेश्वरः ।
नाशयाशु क्रतु तस्य दक्षस्य मदनुज्ञया ॥

ब्रह्मा द्वारा शिव की तुष्टि

,, ८५ भवतेऽपि सुरा सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो ।
क्रियता प्रतिसहार' सर्वदेवेश्वर त्वया ॥

दक्ष द्वारा शिवस्तुति

४० ५ गजेन्द्रकर्णो गोकर्णः शतकर्णो ·····

,, ८ त्वत्तः शरीरे पश्यामि सोममग्नि जलेश्वरम् ।
आदित्यमथ विष्णुं च ब्रह्माण सबृहस्पतिम् ॥

,, १८ स्थिताय धावमानाय कुब्जाय कुटिलाय च ॥

अध्या०	श्लो०	
४०	२०	नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रकारणे ॥
,,	२२	नमो कपालहस्ताय सितभस्मप्रियाय च ।
,,	३६	साख्याय साख्यमुख्याय योगाधिपतये नम ॥
,,	४०	नमोऽन्नदानकर्त्रे हि तथान्नप्रभवे नमः ॥
,,	६३	मृत्युश्चैवाक्षयोऽन्तश्च क्षमा माया करोत्कर' ॥
,,	६६	क्षराक्षर. प्रियो धूर्तो गणैर्गण्यो गणाधिपः ॥
,,	६७	शिल्पीश शिल्पिन. श्रेष्ठ. सर्वशिल्पप्रवर्तकः ॥
,,	७८	व्याधीनाम् अकरोत्करः
,,	६८	अथवा मायया देव मोहिता सूक्ष्मया तव ।
		तस्मात्तु कारणाद्वापि त्व मया न निमन्त्रित. ॥
,,	१२६	न यक्षा न पिशाचा वा न नागा न विनायका' ॥
		कुर्युर्विघ्न गृहे तस्य यत्र सस्तूयते भव. ॥

एकाम्रक तीर्थ

४३	११	लिंगकोटिसमायुक्त वाराणसीसम शुभम् ।
		एकाम्रकेति विख्यात तीर्थाष्टकसमन्वितम् ॥
,,	५०	आस्ते तत्र स्वय देव. कृत्तिवासा वृषध्वज' ॥
,,	७६	तस्मिन् क्षेत्रवरे लिंग भास्करेश्वरसज्ञितम् ॥

अवन्ती मे महाकाल

,,	६५	तत्रास्ते भगवान् देवस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ॥
,,	६६	महाकालेति विख्यात. सर्वकामप्रद. शिव. ॥
,,	७०	सपूज्य विधिवद् भक्त्या महाकालं सकृच्छिवम् ।
		अश्वमेधसहस्रस्य फल प्राप्नोति मानव. ॥

मदनदहन

७१	३६	शभु दृष्ट्वा सुरगणा यावत् पश्यन्ति मन्मथम् ।
		तावच्च भस्मसाद्भूत काम दृष्ट्वा भयातुरा. ।
		तुष्टुवुस्त्रिदशेशान कृताजलिपुटा सुरा ॥
,,	४०	तारकाद् भयमापन्न कुरु पत्नीं गिरेः सुताम् ।
,,	४१	विद्धचित्तो हरोऽप्याशु मेने वाक्य सुरोदितम् ।
		अरुन्धतीं वसिष्ठ च मां तु चक्रधर तथा ॥
,,	४२	प्रेषयामासुरपरा विवाहाय परस्परम् ॥

अध्या०	श्लो०	
		कपिल द्वारा भगीरथ को शिवार्चना का आदेश
७७	५४	कैलास त नरश्रेष्ठ गत्वा स्तुहि महेश्वरम् । तपः कुरु यथाशक्ति ततश्चेप्सितमाप्स्यसि ॥
		शिव की अष्टमूर्त्ति का उल्लेख
६७	२१	त्वमष्टमूर्त्या सकल विभर्षि, त्वदाज्ञया वर्तत एव सर्वम् ।
		शिव की महिमा
१००	१६	लोकत्रयैकाधिपतेर्नयस्य, कुत्रापि वरतून्यभिमानलेश. । स सिद्धनाथोऽखिलविश्वकर्त्ता, भर्ता शिवाय भवतु प्रसन्नः ॥
		चक्रतीर्थ
१०६	२	यत्र विष्णुः स्वयं देवश्चक्रार्थं शकर प्रभुम । पूजयामास तत्तीर्थं चक्रतीर्थमुदाहृतम् ॥
		एकेश्वर शिव
११०	१००	सर्वाणि कर्माणि विहाय धीरा— स्त्यक्तैपणा निर्जितचित्तवाताः । य यान्ति मुक्त्यै शरण प्रयत्नात् तमादिदेवं प्रणमामि शभुम् ॥
		गणेशस्तुति
११४	७	न विघ्नराजेन समोऽस्ति कश्चित् देवो मनोवाञ्छितसप्रदाता । निश्चित्य चेतत् त्रिपुरान्तकोऽपि, तं पूजयामास वधे पुराणाम् ॥
११४	१०	यो मातुरुत्सगगतोऽथ मात्रा निवार्यमाणोऽपि वलाच्च चन्द्रम् । संगोपयामास पितुर्जटासु, गणाधिनाथस्य विनोद एप ॥
,,	१३	यो विघ्नपाशं च करेण विभ्रत् । स्कन्धे कुठार च तथा परेण ॥
,,	१५	स्वातन्त्र्यसामर्थ्यकृतातिगर्वं, भ्रातृप्रिय त्वाखुरथ तमीडे ॥

अध्या०	श्लो०	

इन्द्र द्वारा शिवस्तुति

१२९	६८	त्वमायया यो ह्यखिल चराचर, सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
,,	६९	न यस्य तत्त्व सनकादयोऽपि, जानन्ति वेदान्तरहस्यविज्ञा ॥
,,	७१	पाप दरिद्र त्वथ लोभयाञ्चा, मोहो विपच्चेति ततोऽप्यनन्तम् । अवेक्ष्य शर्वं चकित सुरेशो, देवीमवोचज्जगदस्तमेति ॥
,,	७२	त्व पाहि लोकेश्वरि लोकमातर् — उमे शरण्ये सुभगे सुभद्रे ॥
,	८१	एके तर्कैर्विमुह्यन्ति लीयन्ते तत्र चापरे । शिवशक्त्योस्तदद्वैत सुन्दर नौमि विग्रहम् ॥

ब्रह्मा, विष्णु और शिव का अद्वैत

१३०	१०	ब्रह्मा विष्णु शिवश्चेति देवाना तु परस्परम् । त्रयाणामपि देवाना वेद्यमेक पर हि तत् ॥
,,	१७	यद्यप्येषा न भेदोऽस्ति देवाना तु परस्परम् । तथापि सर्वसिद्धि स्यात् शिवादेव सुखात्मन ॥
,,	१८	प्रपञ्चस्य निमित्त यत् तज्ज्योतिश्च पर शिव ॥ तमेव साधय हर भक्त्या परमया मुने ॥
,,	२३	काष्ठेषु वह्नि कुसुमेषु गन्धो, बीजेषु वृक्षादि दृषत्सु हेम । भूतेषु सर्वेषु तथास्ति यो वै, त सोमनाथ शरण व्रजामि ॥
,,	२६	येन त्रयी धर्ममवेक्ष्य पूर्वं ब्रह्मादयस्तत्र समीहिताश्च । एव द्विधा येन कृत शरीर सोमेश्वर त शरण व्रजामि ॥

शिवस्तुति

११५	७	नमस्त्रैलोक्यनाथाय दक्षयज्ञविभेदिने । आदिकर्त्रे नमस्तुभ्य नमस्त्रैलोक्यरूपिणे ॥
,,	६	सर्वदा सर्वरूपाय कालरूपाय ते नम । पाहि शकर सर्वेश पाहि सोमेश सर्वग ॥

आत्मतीर्थ

११६	१	आत्मतीर्थमिति ख्यात भुक्तिमुक्तिप्रद नृणाम् । तस्य प्रभाव वक्ष्यामि यत्र ज्ञानेश्वर शिव ॥

अध्या०	श्लो०	

राम द्वारा शिवस्तुति

१२३	१६५	नमामि शम्भु पुरुषं पुराणं, नमामि सर्वज्ञमपारभावम् । नमामि रुद्रं प्रभुमक्षरं तं नमामि शर्वं शिरसा नमामि ॥
,,	२००	नमामि वेदत्रयलोचनं तं, नमामि मूर्तित्रयवर्जितं तम् ।
,,	२०२	यज्ञेश्वरं सम्प्रति हव्यकव्यं तथागतिं लोकसदः शिवो यः ॥
,,	२६५	नमाम्यजादीशपुरन्दरादिसुरासुरैरर्चितपादपद्मम् । नमामि देवीमुखवादनानामीक्षार्थमक्षित्रितयं च ऐच्छत् ॥

वेद भी शिवाधीन हैं

१२२	३७	परतन्त्रा वयं तात ईश्वरस्य वशानुगाः । अशेषजगदाधारो निराधारो निरंजनः ॥
,,	३८	सर्वशक्त्यैकसदनं निधानं सर्वसम्पदाम् । स तु कर्त्ता महादेव संहर्ता स महेश्वरः ॥
,,	४६	न त्वा जानन्ति निगमा न देवा मुनयो न च । न ब्रह्मा नापि वैकुण्ठो योऽसि सोऽसि नमोस्तुते ॥

स्कन्द-जन्मकथा

१२८	७	ततः कतिपये काले तारकाद् भयमागते । अनुत्पन्ने कार्त्तिकेये चिरकालरहोगते ॥
,,	८	महेश्वरे भवान्या च त्रस्ता देवाः समागताः ॥
,,	४४	विश्वस्य जगतो धाता विश्वमूर्त्तिर्निरंजनः । आदिकर्त्ता स्वयंभूश्च तन्नमामि जगत्पतिम् ॥

लिंग की उत्पत्ति

१३५	२	ब्रह्माविष्णवोश्च संवादे महत्त्वे च परस्परम् । तयोर्मध्ये महादेवो ज्योतिर्मूर्त्तिरभूत् किल ॥
,,	३	तत्रैव वागुवाचेदं दैवी पुत्र तयो शुभा ।
,,	४	दैवीवाक् तावुभौ प्राह यस्त्वस्यान्तं तु पश्यति । स तु ज्येष्ठो भवेत् तस्मान्मा वादं कर्तुमर्हथ ॥

राम द्वारा शिवलिंग की पूजा

१५७	२१	एवं तु पञ्चाहवमेपिरे ते स्वं स्वं प्रतिष्ठापितलिंगमर्च्य ॥
,,	२४	ये श्रद्दधानाः शिवलिंगपूजां निधाय कृत्यं न समाचरन्ति ॥
,,	२५	यथोचितं ते यमकिंकरैर्हि, पश्यन्त एवाखिलदुर्गतीषु ॥···

अध्या० श्लो०

शिव के मूर्त और अमूर्त रूप

अध्या०	श्लो०	
१६२	१७	नैव कश्चित् त वेत्ति य. सर्वं वेत्ति सर्वदा । अमूर्तं मूर्तमप्येतद् वेत्ति कर्त्ता जगन्मय. ॥
,,	२८	स एव रुद्ररूपी स्याद् रुद्रो मन्यु. शिवोऽभवत् । स्थावरं जगम चैव सर्वं व्याप्तं हि मन्युना ॥

उपा-अनिरुद्ध की कथा

अध्या०	श्लो०	
२०६	१३	ययौ वाणपुरस्याश नीत्वा तान् सत्वय हरि' ।
,,	१४	ततस्त्रिपदस्त्रिशिरा ज्वरो माहेश्वरो महान् । वाणरक्षार्थमत्यर्थं युयुधे शार्ङ्गधन्वना ॥
,,	१६	तत. सयुध्यमानस्तु सह देवेन शार्ङ्गिणा । वैष्णवेन ज्वरेणाशु कृष्णदेहान्निराकृत ॥
,,	२१	ततः समस्तसैन्येन दैतेयाना वले सुता' । युयुधे शकरश्चैव कार्तिकेयश्च सौरिणा ॥
,,	२२	हरिशकरयोर्युद्धमतीवासीत् सुदारुणम् । चुक्षुभुः सकला लोकाः शस्त्रास्त्रैर्बहुधार्दिताः ॥
,,	२४	जृम्भेणास्त्रेण गोविन्दो जृम्भयामास शकरम् । तत प्रणेशुर्दैत्याश्च प्रमथाश्च समन्ततः ॥

वाणासुर की ओर से शिव द्वारा कृष्ण से अनुनय

अध्या०	श्लो०	
,,	४१	कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ जाने त्वां पुरुषोत्तमम् । परेषां परमात्मानम् अनादिनिधन परम् ॥
२०६	४२	देवतिर्यङ्मनुष्येषु शरीरग्रहणात्मिका । लीलेय तव चेष्टा हि दैत्याना वधलक्षणा ॥

कृष्ण का उत्तर

अध्या०	श्लो०	
,,	४६	युष्मद्दत्तवरो वाणो जीवतादेप शंकर ।
,,	४७	त्वया यदभय दत्त तद्दत्तमभय मया ॥ मत्तोऽविभिन्नमात्मान द्रष्टुमर्हसि शकर ॥

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

कृष्ण का उत्कर्ष

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	१	१	गणेशब्रह्मेशसुरेशशेषा सुराश्च सर्वे मनवो मुनीन्द्राः । सरस्वतीश्रीगिरिजादिकाश्च नमन्ति देव्य प्रणमामि त विभुम् ॥
,,	,,	८	वन्दे कृष्णं गुणातीत पर ब्रह्माच्युत यतः । आविर्बभूवु प्रकृतिब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	

कृष्ण के वामाग से शिव का प्रादुर्भाव

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	३	१८	आविर्बभूव तत्पश्चाद् आत्मनो वामपार्श्वतः । शुद्धस्फटिकसकाश पचवक्त्रो दिगम्बर. ॥
,,	,,	२०	सर्वसिद्धेश्वर. सिद्धो योगीन्द्राणा गुरोर्गु रुः ॥
,,	,,	२२	वैष्णवाना च प्रवर प्रज्वलन् ब्रह्मतेजसा ॥
,,	,,	२३	श्रीकृष्णपुरतः स्थित्वा तुष्टाव त पुटाञ्जलि ॥

शिव द्वारा देवी की निन्दा

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	६	४	तत. शकरमाहूय सर्वेशो योगिना गुरुम् । उवाच प्रियमित्येव गृह्णीया. सिंहवाहिनीम् ॥
,,	,,	६	अधुनाह न गृह्णामि प्रकृतिं प्राकृतो यथा । त्वद् भक्त्यैकव्यवहिता दास्यमार्गविरोधिनीम् ॥
,,	,,	७	तत्त्वज्ञानसमाच्छन्ना योगद्वारकपाटिकाम् । मुक्तीच्छाध्वंसरूपा च सकामा कामवर्धिनीम् ॥
,,	,,	८	तपस्याच्छन्नरूपा च महामोहकरण्डकाम् । भवकारागृहे घोरे दृढा निगडरूपिणीम् ॥
,,	,,	९	शश्वद् विबुद्धिजननीं सद्बुद्धिच्छेदकारिणीम् । शश्वद् विभोगसारा च विषयेच्छाविवर्धिनीम् ॥
,,	,,	१०	नेच्छामि गृहिणीं नाथ वर देहि मदीप्सितम् ॥

विष्णु का कथन

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	,,	२६	मत्सेवा कुरु सर्वेश सर्वसर्वविदा वर ॥
,,	,,	२९	अद्यप्रभृति ज्ञानेन तेजसा वयसा शिव ।
,,	,,	३१	त्वत् परो नास्ति मे प्रेयास्त्व मदीयात्मनः परः । ये त्वा निन्दन्ति पापिष्ठा ज्ञानहीना विचेतनाः ॥
,,	,,	३२	पच्यन्ते कालसूत्रेण यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
,,	,,	४६	कृत्वा लिंगं सकृत् पूज्य वसेत् कल्पायुत दिवि ।
,,	,,	४७	ज्ञानवान् मुक्तिवान् साधु. शिवलिंगार्चनाद् भवेत् । शिवलिंगार्चनस्थानमतीर्थं तीर्थमेव तत् ॥

विष्णु का दुर्गा के प्रति कथन

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	,,	५५	अधुना तिष्ठ वत्से त्वं गोलोके मम सन्निधौ । काले भजिष्यसि शिव शिवद च शिवायनम् ॥
,,	,,	६०	काले सर्वेषु विश्वेषु महापूजासुपूजिते । भविता प्रतिवर्षे च शारदीया सुरेश्वरी ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	६	६१	ग्रामेषु नगरेष्वेव पूजिता ग्रामदेवता । भवती भवितेत्येव नामभेदेन चारुणा ॥
,,	,,	६२	मदाज्ञया शिवकृतैस्तत्रैर्नानाविधैरपि । पूजाविधिं विधास्यामि कवच स्तोत्रसयुतम् ॥
,,	,,	६४	ये त्वा मातर्भजिष्यन्ति पुण्यक्षेत्रे च भारते । तेषा यशश्च कीर्तिश्च धर्मैश्वर्यं च वर्धते ॥

शिव द्वारा विष्णु का उत्कर्ष

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१२	२२	यस्य भक्तिर्हरौ वत्स सुदृढा सर्वमगला । स समर्थं सर्वविश्व पातु कर्तुं च लीलया ॥

शिवलोक

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	२५	८	लोक त्रिलोकाच्च विलक्षण परं, भीमृत्युरोगार्तिजराहर वरम् ॥
,,	,,	१०	प्रतप्तहेमाभजटाधर विभु, दिगम्बर कृष्णेति नामेव मुदा जपन्तम् ॥
,,	,,	१२	. . भक्तजनैकवन्धुम् ।

कृष्णभक्त भगीरथ

भाग	अध्या०	श्लो०	
२	१०	१५	वैष्णवो विष्णुभक्तश्च गुणवान् अजरामर. ॥
,,	,,	१६	तप कृत्वा लक्षवर्षं गङ्गानयनकारणात् । ददर्श कृष्ण दृष्टास्य सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥

देवासुरपूज्य शिव

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१८	७४	तत्रावयोर्विरोधे च गमन निष्फल तव । समसम्बन्धिनोर्बन्ध्वोरीश्वरस्य महात्मनः ॥
,,	६१	३७	उभयेषा गुरु शम्भुर्मान्यो वन्द्यश्च सर्वत । धर्मश्च साक्षी सर्वेषा त्वमेव च पितामहः ॥

विष्णु का उत्कर्ष

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	,,	५६	ततो न बलवाञ्छम्भुर्न च पाशुपत विषे । न च काली न शेषश्च न च रुद्रादय सुराः ॥
,,	,,	५८	षोडशांशो भगवत स चैव हि महान् विराट् ।

देवी का उत्कर्ष

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	६४	६	ब्रह्मविष्णुशिवादीना पूज्या वन्द्या सनातनीम् । नारायणीं विष्णुमाया वैष्णवीं विष्णुभक्तिदाम् ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
२	६४	१०	सर्वस्वरूपा सर्वेपा सर्वाधारा परात्पराम् सर्वविद्या-सर्वमंत्र-सर्वशक्तिस्वरूपिणीम् ॥
,,	,,	१४	दुर्गा शतभुजा देवीं महद्‌दुर्गतिनाशिनीम् । त्रिलोचनप्रिया साध्वीं त्रिगुणा च त्रिलोचनाम् ॥
,,	,,	४४	कृत्वा च वैष्णवीपूजा विष्णुलोक व्रजेत् सुधीः । माहेश्वरीं च संपूज्य शिवलोकं च गच्छति ॥
,,	,,	४८	माहेश्वरी राजसी च वलिदानसमन्विता । शाक्तादयो राजसाश्च कैलास यान्ति ते तथा ॥
,,	,,	४६	किरातास्त्रिदिव यान्ति तामस्या पूजया तया ॥

देवी को वलिदान

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	,,	६२	वलिदानविधानं च श्रूयता मुनिसत्तम । मायार्ति महिष छाग दद्यान्मेषादिकं शुभम् ॥
,,	,,	६५	मासं सुपक्कादिफलैरन्नैरिति नारद ।
,,	,,	६६	युवक व्याधिहीन च सश्रृङ्ग लक्षणान्वितम् । विशुद्धमविकाराङ्गं सुवर्णं पुष्टमेव च ॥
,,	,,	१००	मायातीना स्वरूप च श्रूयता मुनिसत्तम । वक्ष्याम्यथर्ववेदोक्त फलहानिर्व्यतिक्रमे ॥
,,	६५	१०	वलिदानेन विप्रेन्द्र दुर्गाप्रीतिर्भवेन्नृणाम् । हिंसाजन्य न पाप च लभते यज्ञकर्मणि ॥
,,	,,	२३	ब्रह्मविष्णुशिवादीनामहमाद्या परात्परा । सगुणा निर्गुणा चापि वरा स्वेच्छामयी सदा ॥
,,	,,	२४	नित्यानित्या सर्वरूपा सर्वकारणकारणम् । वीजरूपा च सर्वेपा मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥

स्कन्दजन्म की कथा

भाग	अध्या०	श्लो०	
३	१	४१	दृष्ट्वा सुरान् भयार्तांश्च पुन स्तोतु समुद्यतान् । विजहौ सुखसंभोगं कण्ठलग्ना च पार्वतीम् ॥
,,	,,	४२	उत्तिष्ठतो महेशस्य श्रासलज्जायुतस्य च । भूमौ पपात तद्वीर्यं तत स्कन्दो वभूव ह ॥

विष्णु का शिव-पार्वती को सन्तान देने का वचन

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	६	६१	स्वय गोलोकनाथस्त्वं पुण्यक्त्य प्रभावत । पार्वतीगर्भजातश्च तव पुत्रो भविष्यति ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
३	६	६३	यस्य स्मरणमात्रेण विघ्ननाशो भवेद् ध्रुवम् । जगतां हेतुनाऽनेन विघ्ननिघ्नाभिधो विभुः ॥
,,	,,	६५	शनिदृष्ट्या शिरश्छेदाद् गजवक्त्रेण योजितः । गजाननः शिशुस्तेन सर्वेषां सर्वसिद्धिदः ॥
,,	,,	६६	दन्तभगः परशुना परशुरामस्य वै यतः । हेतुना तेन विख्यातश्चैकदन्ताभिधः शिशुः ॥
,,	,,	६८	पूजासु सर्वदेवानामग्रे सपूज्य तं जनः । पूजाफलमवाप्नोति निर्विघ्नेन वृथाऽन्यथा ॥
,,	,,	१००	गणेशपूजने विघ्नं निर्मूलं जगतां भवेत् ॥

गणेश को शिव की उपाधियाँ

,,	१३	४१	ईशत्वां स्तौतु
,,	,,	४२	सिद्धानां योगिनां गुरुः
,,	,,	४६	स्वयं प्रकृतिरूपश्च प्राकृतः प्रकृतेः परम्

देवी का उत्कर्ष

,,	३६	२६	नमः शंकरकान्तायै सारायै ते नमोनमः ।
,,	,,	३१	प्रसीद जगतां मातः सृष्टिसंहारकारिणि ॥

ब्रह्माण्ड पुराण

शिव के गणों की उत्पत्ति

२	६	२३	अभिमानात्मकं रुद्रं निर्ममे नीललोहितम् ।
,,	,,	६८	प्रजाः सृजेति व्यादिष्टो ब्रह्मणा नीललोहितः । सोऽभिध्याय सतीं भार्यां निर्ममे चात्मसंभवान् ॥
,,	,,	७०	तुल्यानेवात्मना सर्वान् रूपतेजोबलश्रुतैः । पिंगलान् सनिषङ्गांश्च कपर्दी नीललोहितान् ॥
,,	,,	७१	विशिखान् हीनकेशांश्च दृष्टिघ्नान्स्तान् कपालिनः । महारूपान् विरूपांश्च विश्वरूपांश्च रूपिणः ॥
,,	,,	७४	अतिमेढ्रोग्रकायांश्च शितिकण्ठोग्रमन्युकान् ।
,,	,,	६२	एवमेव महादेवः सर्वदेवनमस्कृतः । प्रजामनुद्यमां सृष्ट्वा सर्गाद् उपरराम ह ॥

दक्षयज्ञविध्वंस की कथा

,,	१३	४५	तासां ज्येष्ठा सती नाम पत्नी या त्र्यम्बकस्य वै ।

भाग	अध्या०	श्लो०	
२	१३	४६	नाजुहावात्मजा ता वै दक्षो रुद्रमभिद्विषन् । अकरोत् सन्नतिं दक्षे न कदाचिन्महेश्वरः ॥

सागर-मन्थन की कथा

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	२५	६०	विष कालानलप्रख्यं कालकूटमिति स्मृतम् । येन प्रोद्भूतमात्रेण न व्यराजन्त देवताः ॥
,,	,,	६१	तस्य विष्णुरहं वापि सर्वे वा सुरपुंगवाः । न शक्नुवन्ति वै सोढुं वेगमन्यत्र शङ्करात् ॥

विष्णु द्वारा शिव का उत्कर्ष

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	२६	६	यः स्रष्टा सर्वभूताना कालः कालकरः प्रभुः । येनाहं ब्रह्मणा सार्द्धं सृष्टा लोकाश्च मायया ॥

ऋषि-पत्नियों की कथा

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	२७	१०	ततस्तेषा प्रसादार्थं देवस्तद्वनमागत. । भस्मपाण्डुरदिग्धाङ्गो नग्नो विकृतलक्षण' ॥
,,	,,	११	विकृतलस्तकेशश्च करालदशनस्तथा । उल्मुकव्यग्रहस्तश्च रक्तपिंगललोचन. ॥
,,	,,	१२	शिश्नं सवृषणं तस्य रक्तगैरिकसन्निभम् । मुखमगारवर्णेन शुक्लेन च विभूषितम् ॥
,,	,,	१३	क्वचित् स हसते रौद्रं क्वचिद् गायति विस्मितः क्वचिन्नृत्यति शृंगारी क्वचिद् रौति मुहुर्मुहुः ॥
,,	,,	१४	नृत्यन्तं रुरुधुस्तूर्णं पत्न्यस्तेषा विमोहिताः । आश्रमेऽभ्यागतोऽभीक्ष्णं याचते च पुनः पुन' ॥
,,	,,	१५	भार्या कृता तथारूपा तृणाभरणभूषिता । वृषनाद प्रगर्जन् वै खरनाद ननाद च ॥
,,	,,	१६	तथा वञ्चितुमारब्धो हासयन् सर्वदेहिनः । ततस्ते मुनयः क्रुद्धा क्रोधेन कलुषीकृताः ॥
,,	,,	१७	मोहिता मायया सर्वे शपितुं समुपस्थिता. । खरवद् गायसे यस्मात् खरस्तस्माद् भविष्यसि ॥
,,	,,	१६	शेपुः शापैस्तु विविधैस्तं देवं भुवनेश्वरम् ।
,,	,,	२६	यतीना वा तथा धर्मो नायं दृष्टः कथंचन । अनयस्तु महान् एष येनायं मोहितो द्विज. ॥
,,	,,	३०	लिंगं प्रपातयन्चैतं नायं धर्मस्तपस्विनाम् । वदस्व वाचा मधुरं वन्यमेकं समाश्रय ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
२	२७	३१	त्याजिते च त्वया लिंगे ततः पूजामवाप्स्यसि ॥

शिव का उत्तर

,,	,,	३३	ब्रह्मादिदैवतैः सर्वैः किमुतान्यैस्तपोधनैः । पातयेयमहं चैतल्लिंग भो द्विजसत्तमाः ॥

आगे की कथा

,,	,,	३४	आश्रमे तिष्ठ वा गच्छ वाक्यमित्येव तेऽब्रुवन् । एवमुक्तो महादेवः प्रहृष्टेन्द्रियचेष्टितः ॥
,,	,,	३५	सर्वेषां पश्यतामेव तत्रैवान्तर्दधे प्रभुः ॥
,,	,,	४३	स्नुषाणां च दुहितृणां पुत्रीणां च विशेषतः ॥
,,	,,	४४	वर्तमानस्ततः पार्श्वे विपरीताभिलाषतः । उन्मत्त इति विज्ञाय सोऽस्माभिरवमानितः ॥
,,	,,	४५	आक्रुष्टस्ताडितश्चापि लिंग चाप्यस्य चोद्धृतम् । तस्य क्रोधप्रसादार्थं वयं ते शरणं गताः ॥
,,	,,	५५	दृष्टं वै यादृशं तस्य लिंगमासीन्महात्मनः । तादृक् प्रतिकृतिं कृत्वा शूलपाणिं प्रपद्यत ॥
,,	,,	६२	ये हि मे भस्मनिरता भस्मना दग्धकिल्विषाः । यथोक्तकारिणो दान्ता विप्रा ध्यान-परायणाः ॥
,,	,,	६३	न तान् परिवदेद् विद्वान् न च तान् अतिलंघयेत् ॥
,,	,,	१०७	असकृच्चाग्निना दग्धं जगत्स्थावरजंगमम् ॥
,,	,,	१०८	भस्मसाध्यं हि तत् सर्वं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
,,	,,	११५	भस्मस्नानविशुद्धात्मा जितक्रोधो जितेन्द्रियः । मत्समीपमुपागम्य न भूयो विनिवर्तते ॥
,,	,,	११८	नग्ना एव हि जायन्ते देवता मुनयस्तथा । ये चान्ये मानवा लोके सर्वे जायन्त्यवाससः ॥
,,	,,	११९	इन्द्रियैरजितैर्नग्ना दुकूलेनापि संवृताः । तैरेव संवृतो गुप्तो न वस्त्रं कारणं स्मृतम् ॥
,,	,,	१२५	दक्षिणेनाथ पन्थानं ये श्मशानानि भेजिरे ॥
,,	,,	१२६	ईशित्वं च वशित्वं च ह्यमरत्वं च ते गताः ॥

स्कन्द-जन्म की कथा

३	१०	२२	अन्योन्यप्रीतमनसोरुमाशंकरयोरथ ॥
,,	,,	२३	श्लेषं समासक्तयोर्ज्ञात्वा शंकितः किल वृत्रहा । ताभ्यां मैथुनसक्ताभ्यामपत्योद्भवभीरुणा ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
३	१०	२४	तयोः सकाशमिन्द्रेण प्रेषितो हव्यवाहनः ॥
"	"	२६	उमा देवः समुत्सृज्य शुक्रं भूमौ व्यसर्जयत् ॥
"	"	२८	यदेवं विगत गर्भे रौद्रं शुक्रं महाप्रभम् ।
"	"	२९	गर्भे त्वं धारयस्वैवमेषा ते दण्डधारणा ॥…

पार्वती की माता द्वारा शिवनिन्दा

भाग	अध्या०	श्लो०	
"	६७	३५	मम पार्श्वे त्वनाचारस्तव भर्ता महेश्वरः । दरिद्रः सर्वथैवेह हा कष्टं लज्जते न वै ॥

मत्स्य पुराण

अग्निसूनु स्कन्द

अध्या०	श्लो०	
५	२६	अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्भे व्यजायत । तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठतः ॥
"	२७	अपत्यं कृत्तिकानां तु कार्तिकेयस्ततः स्मृतः ॥

पिशाचपति शिव

अध्या०	श्लो०	
८	५	पिशाचरक्षःपशुभूतयक्षवेतालराजं त्वथ शूलपाणिम् ॥

राजा इल की कथा

अध्या०	श्लो०	
११	४४	जगामोपवनं शंभोरश्वाकृष्टः प्रतापवान् । कल्पद्रुमलताकीर्णं नाम्ना शरवणं महत् ॥
"	४५	रमते यत्र देवेशः शंभुः सोमार्द्धशेखरः । उमया समयस्तत्र पुरा शरवणे कृतः ॥
"	४६	पुन्नाम सत्त्वं यत्किंचिद् आगमिष्यति ते वने । स्त्रीत्वमेष्यति तत् सर्वं दशयोजनमण्डले ॥
"	४७	अज्ञातसमयो राजा इलः शरवणे पुरा । स्त्रीत्वमाप विशन्नेव वडवात्वं हयस्तदा ॥

दक्षयज्ञ-विध्वंस-कथा

अध्या०	श्लो०	
१३	१२	दक्षस्य यज्ञे वितते प्रभूतवरदक्षिणे । समाहूतेषु देवेषु पितरमब्रवीत् सती ॥
"	१८	त्वमस्य जगतो माता जगत्सौभाग्यदेवता । दुहितृत्वं गता देवि ममानुग्रहकाम्यया ॥
"	१९	न त्वया रहितं किंचिद् ब्रह्माण्डे सचराचरम् । प्रसादं कुरु धर्मज्ञे न मां त्यक्तुमिहार्हसि ॥

अध्या० श्लो०

सोम और तारा की कथा

२३ ३५ महेश्वरेणाथ चतुर्मुखेन साध्यैर्मरुद्भिः सह लोकपालैः ।
ददौ यदा तां न कथंचिदिन्दुस्तदा शिवः क्रोधपरो बभूव ॥

२३ ३७ धनुर्गृहीत्वाजगवं पुरारिर्जगाम भूतेश्वर-सिद्धजुष्टः ।
युद्धाय सोमेन विशेषदीप्ततृतीयनेत्रानलभीमवक्त्रः ॥

शुक्र के द्वारा शिवस्तुति

४७ १२८ नमोऽस्तु शितिकण्ठाय कनिष्ठाय सुवर्चसे ।
लेलिहानाय काव्याय वत्सरायान्धसः पते ॥

,, १२९ कपर्दिने करालाय हर्यक्ष्णे वरदाय च ।
संस्तुताय सुतीर्थाय देवदेवायरंहसे ॥

,, १३१ ह्रस्वाय मुक्तकेशाय सेनान्ये रोहिताय च ॥

,, १३२ सहस्रशिरसे चैव सहस्राक्षाय मीढुषे ।
वराय भव्यरूपाय श्वेताय पुरुषाय च ॥

,, १३४ निषङ्गिणे च ताराय स्वक्षाय क्षपणाय च ।
ताम्राय चैव भीमाय उग्राय च शिवाय च ॥

,, १३५ महादेवाय शर्वाय विश्वरूपशिवाय च ॥

,, १३७ कपालिने च वीराय मृत्यवे त्र्यम्बकाय च ॥

,, १३९ दुन्दुभ्यायैकपादाय अजाय बुद्धिदाय च ।
अरण्याय गृहस्थाय यतये ब्रह्मचारिणे ॥

,, १४० सांख्याय चैव योगाय व्यापिने दीक्षिताय च ।
अनाहताय शर्वाय हव्येशाय यमाय च ॥

,, १४२ शिखण्डिने करालाय दंष्ट्रिणे विश्ववेधसे ॥

,, १४३ क्रूरायाविकृतायैव भीषणाय शिवाय च ॥

,, १४९ व्रतिनेयुञ्जमानाय शुचयेचोर्ध्वरेतसे ॥

,, १५७ नमोस्तु तुभ्यं भगवन् विश्वाय कृत्तिवाससे ॥

,, १६३ निरुपाख्याय मित्राय तुभ्यं सांख्यात्मने नमः ॥

,, १६६ नित्यायचात्मलिंगाय सूक्ष्मायैवेतराय च ॥

कृष्णाष्टमी पूजा

५६ १ कृष्णाष्टमीमथो वक्ष्ये सर्वपाप-प्रणाशिनीम् ।
शान्तिर्मुक्तिश्च भवति जयः पुंसां विशेषतः ॥

,, २ शंकरं मार्गशिरसि शंभुं पौषेऽभिपूजयेत् ।
माघे महेश्वरं देवं महादेवं च फाल्गुने ॥

अध्या०	श्लो०	
५६	३	स्थाणु चैत्रे शिवं तद्वद् वैशाखे त्वर्चयेन्नरः । ज्येष्ठे पशुपतिं चार्चेद् आषाढे उग्रमर्चयेत् ॥
,,	४	पूजयेत् श्रावणे सर्वं नभस्ये त्र्यम्बक तथा । हरमाश्वयुजे मासि तथेशान च कार्तिके ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

अध्या०	श्लो०	
६०	३	ततः कालेन महता पुनः सर्गविधौ नृपः ।
,,	४	स्पर्धाया च प्रवृत्ताया कमलासनकृष्णयोः । लिंगाकारा समुद्भूता वह्नेर्ज्वालातिभीषणा ॥

सती की पूजा

अध्या०	श्लो०	
,,	१६	तया सहैव देवेश तृतीयायामथार्च्चयेत् । फलैर्नानाविधैर्धूपैर्दीपनैवेद्यसयुतैः ॥
,,	१७	प्रतिमा पचगव्येन तथा गन्धोदकेन च । स्नापयित्वार्चयेद् गौरीमिन्दुशेखरसयुताम् ॥
,,	२५,	नमोऽर्धनारीशहरम् असिताङ्गीति नासिकाम् ।
,,	४२	उमामहेश्वरं हैम वृषभ च गवा सह । स्थापयित्वाथ शयने ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥

महादेव और भवानी की पूजा

अध्या०	श्लो०	
६४	३	महादेवेन सहितामुपविष्टा महासने ।
,,	११	विश्वकायौ विश्वमुखौ विश्वपादकरौ शिवौ । प्रसन्नवदनौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

दक्षयज्ञ की कथा

अध्या०	श्लो०	
७२	११	पुरा दक्षविनाशाय कुपितस्य तु शूलिनः । अथ तद्भीमवक्त्रस्य स्वेदबिन्दुर्ललाटजः ॥
,,	१२	भीत्वा स सप्तपातालानदहत् सप्तसागरान् । अनेकवक्त्रनयनो ज्वलज्ज्वलनभीषण ॥
,,	१३	वीरभद्र इति ख्यातः करपादायुतैर्युत । कृत्वाऽसौ यज्ञमथनं पुनर्भूतलसभव । त्रिजगन्निर्दहन् भूयः शिवेन विनिवारितः ॥···

शिवचतुर्दशी

अध्या०	श्लो०	
६५	२	धर्मोऽयं वृषरूपेण नन्दी नाम गणाधिप. । धर्मान्माहेश्वरान् वक्ष्यत्यतः प्रभृति नारद. ॥

अध्या०	श्लो०	
६५	६	मार्गशीर्षत्रयोदश्या सितायामेकभोजनः । प्रार्थयेद् देवदेवेश त्वामह शरण गत' ॥
,,	८	कृतस्नानजपः पश्चाद् उमया सह शकरम् । पूजयेत् कमलैः शुभ्रैर्गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥
,,	६	पादौ नमः शिवायेति शिर' सर्वात्मने नमः । त्रिनेत्रायेति नेत्राणि ललाट हरये नम ॥

त्रिपुरदाह

१३१	१३	अर्चयन्तो दितेः पुत्रास्त्रिपुरायतने हरम् ॥
,,	१४	पुण्याहशब्दान् उच्चैरुराशीर्वादाँश्च वेदगान् ॥

शिवस्तुति

१३२	२२	नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च । पशूनां पतये नित्यम् उग्राय च कपर्दिने ॥
,,	२४	कुमारशत्रुनिघ्नाय कुमारजनकाय च ॥
,,	२६	उरगाय त्रिनेत्राय हिरण्यवसुरेतसे ॥
,,	२७	वृषध्वजाय मुण्डाय जटिने ब्रह्मचारिणे ॥
,,	२७	विश्वात्मने विश्वसृजे विश्वमावृत्य तिष्ठते ॥

रुद्रमूर्ति विष्णु

१५४	७	त्वमोंकारोऽस्यकुरायप्रसूतो विश्वस्यात्मानन्तभेदस्य पूर्वम् । स भूतस्यानन्तर सत्त्वमूर्त्ते ॥ सहारेच्छोस्ते नमो रुद्रमूर्त्ते

आदर्श योगी शिव

,,	२१३	अनया देवसामग्र्या मुनिदानवभीमया । दु साध्य. शकरो देव किं न वेत्सि जगत्प्रभो ॥

गणेशजन्म

,,	५०१	कदाचिद् गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा ।
,,	५०२	चूर्णैरुद्वर्तयामास मलिनान्तरिता तनुम् । तदुद्वर्तनक गृह्य नर चक्रे गजाननम् ।
,,	५०३	पुत्रक क्रीडति देवी त चाक्षेपयदम्भसि । जाह्नव्यास्तु शिवसख्यास्तत सोऽभूद्बृहद्वपु ॥

अध्या०	श्लो०	
१५४	५०४	कायेनाति विशालेन जगदापूरयत् तदा । पुत्रेत्युवाच त देवी पुत्रेत्यूचे च जाह्नवी ॥
,,	५०५	गाङ्गेय इति देवैस्तु पूजितोऽभूद्गजाननः । विनायकाधिपत्यं च ददावस्य पितामहः ॥

शिव के गण

,,	५३०	यावन्तस्ते कृपा दीर्घा ह्रस्वाः स्थूला महोदराः ।
,,	५३१	व्याघ्रेभवदनाः केचित् केचिन्मेषाजरूपिणः । अनेकप्राणिरूपाश्च ज्वालास्याः कृष्णपिंगलाः ॥
,,	५३३	कौशेयचर्मवसना नग्नाश्चान्ये विरूपिणः । गोकर्णा गजकर्णाश्च वहुवक्त्रेक्षणोदराः ॥
,,	५३५	वृकाननायुधधरा नानाकवचभूषणाः । विचित्रवाहनारूढा दिव्यरूपावियच्चराः ॥
,,	५३८	कोटिसख्या ह्यसख्याता नानाविख्यातपौरुषाः । जगदापूरितं सर्वैरेभिर्भीमैर्महावलैः ॥

पार्वती द्वारा शिवनिन्दा

१५५	६	नैवास्मि कुटिला शर्व विषमा नैव धूर्जटे । सविषयस्त्वं गतः ख्यातिं व्यक्तदोषाकराशयः ॥
,,	७	नाह पूष्णोऽपि दशना नेत्रे चास्मि भगस्य हि । आदित्यश्च विजानाति भगवान् द्वादशात्मकः ॥
,,	८	यस्त्व मामाह कृष्णेति महाकालेतिविश्रुतः ॥
,,	२२	व्यालेभ्योऽनेकजिह्वत्व भस्मना स्नेहवन्धनम् । हृत्कालुष्यं शशाकात्तु दुर्वोधित्व वृषादपि ॥
,,	२३	तथा वहु किमुक्तेन अलं वाचा श्रमेण ते । श्मशानवासान्निर्भीस्त्वं नग्नत्वान्न तव त्रपा ॥
,,	२४	निर्घृणत्व कपालित्वाद् दया ते विगता चिरम् ।
,,	३१	एष स्त्रीलम्पटो देवो यातायां मय्यनन्तरम् । द्वाररक्षा त्वया कार्या नित्यं रन्ध्रान्ववेक्षिणा ॥

ब्रह्मा का पार्वती को वरदान

१५७	१२	एवं भव त्वं भूयश्च भर्तृदेहार्द्धधारिणी ।

देवीस्तुति

१५८	११	नतसुरासुरमौलिमिलन्मणिप्रचयकान्तिकरालनखाङ्किते नगसुते शरणागतवत्सले, तव नतोऽस्मि नतार्तिविनाशिनि ।

अध्या०	श्लो०	
१५८	१२	विषभुजङ्गनिषङ्गविभूषिते, गिरिसुते भवतीमहमाश्रये ॥
,,	१५	सितसटापटलोद्धतकन्धरा, भटमहामृगराजरथास्थिता ॥
,,	१६	निगदिता भुवनरिति चण्डिका, जननि शुम्भनिशुम्भनिषूदनी ॥

अन्धकवध

१७६	२	आसीद् दैत्योऽन्धको नाम भिन्नाजनचयोपमः ॥
,,	३	तपसा महता युक्तो ह्यवध्यस्त्रिदिवौकसाम् ॥ स कदाचित् महादेवं पार्वत्या सहित प्रभुम् ।
,,	४	क्रीडमानं तदा दृष्ट्वा हर्तुं देवीं प्रचक्रमे । तस्य युद्ध तथा घोरमभवत् सह शम्भुना ॥
,,	६	पानार्थमन्धकास्त्रस्य सोऽसृजन् मातरस्तदा । माहेश्वरी तथा ब्राह्मी कौमारी मालिनी तथा ॥
,,	३५	तत' स शंकरो देव धकर्व्याकुलीकृतः । जगाम शरण देव वासुदेवमज विभुम् ॥

यक्षवर्णन

१८०	६	गुह्यका वत यूय वै स्वाभावात् क्रूरचेतसः ।
,,	१०	क्रव्यादाश्चैव किंभक्षा हिंसाशीलाश्च पुत्रक ॥

वाराणसी-माहात्म्य

,,	५६	ध्यायतस्तत्र मा नित्य योगाग्निर्दीप्यते भृशम् । कैवल्य परम याति देवानामपि दुर्लभम् ॥

भक्तिगम्य शिव

१८३	५१	सदा य सेवते भिक्षा ततो भवति रजितः । रंजनात्तन्मयो भूत्वा लीयते स तु भक्तिमान् ॥
,,	५२	शास्त्राणा तु वरारोहे बहुकारणदर्शिनः । न मा पश्यन्ति ते देवि ज्ञानवाक्यविवादिन· ॥

ब्रह्मा का शिरश्छेद

,,	८१	आसीत् पूर्वं वरारोहे ब्रह्मणस्तु शिरोवरम् । पचम शृणु सुश्रोणि जात काचनसप्रभम् ॥
,,	८२	ज्वलत् तत् पचमं शीर्षं जात तस्य महात्मनः । तदेवमब्रवीद् देवि जन्म जानामि ते ह्यहम् ॥
,,	८३	तत· क्रोधपरीतेन सरक्तनयनेन च । वामाङ्गुष्ठनखाग्रेण छिन्न तस्य शिरो मया ॥

अध्या०	श्लो०	
१८३	८४	यदा निरपराधस्य शिरश्छिन्नं त्वया मम ।
		तस्मात् शापसमायुक्तः कपाली त्वं भविष्यसि ॥
		ब्रह्महत्याकुलो भूत्वा चर तीर्थानि भूतले ॥

त्रिपुरदाह

अध्या०	श्लो०	
१८८	५७	उत्थितः शिरसा कृत्वा लिङ्गं त्रिभुवनेश्वरम् ।
		निर्गतः स पुरद्वारात् परित्यज्य सुहृत्सुतान् ॥
,,	५८	गृहीत्वा शिरसा लिंगं गच्छन् गगनमण्डलम् ।
,,	५९	स्तुवश्च देवदेवेश त्रिलोकाधिपतिं शिवम् ।
		त्यक्ता पुरी मया देव यदि वध्योऽस्मि शंकर ॥
,,	६०	त्वत्प्रसादान्महादेव मा मे लिङ्गं विनश्यतु ।
,,	७०	न भेतव्यं त्वया वत्स सौवर्णे तिष्ठ दानव ।
		पुत्रपौत्रसुहृद्वन्धुभार्याभृत्यजनैः सह ॥
,,	७१	अद्यप्रभृति वाण त्वमवध्यस्त्रिदशैरपि ।
		भूयस्तस्य वरो दत्तो देवदेवेन पाण्डव ॥
,,	७३	तृतीयं रक्षितं तस्य पुरं तेन महात्मना ।
		भ्रमत्तु गगने दिव्यं रुद्रतेजःप्रभावतः ॥
,,	७५	एकं निपतितं तत्र श्रीशैले त्रिपुरान्तके ।
		द्वितीयं पतितं तस्मिन् पर्वतेऽमरकण्टके ॥

कपालतीर्थ

अध्या०	श्लो०	
१९३	१०	घृतेन स्नापयेल्लिंगं पूजयेद् भक्तितो द्विजान् ।
,,	११	शैवं पदमवाप्नोति यत्र चाभिमतं भवेत् ।
		अक्षयं मोदते कालं यथा रुद्रस्तथैव सः ॥

भृगुतीर्थ

अध्या०	श्लो०	
,,	५८	एवं तु वदते देवो भृगुतीर्थमनुत्तमम् ।
		न जानन्ति नरा मूढा विष्णुमायाविमोहिताः ।

शिवस्तुति

अध्या०	श्लो०	
२१०	३०	ब्रह्मणे चैव रुद्राय नमस्ते विष्णुरूपिणे ।
,,	३१	नमः कपालहस्ताय दिग्वासाय शिखण्डिने ॥

शिव-विष्णु-प्रकोप से देवी-जन्म

अध्या०	श्लो०	
८२	८	इत्थं निशम्य देवाना वचांसि मधुसूदनः ।
		चकार कोपं शंभुश्च भ्रुकुटिकुटिलाननौ ॥

मार्कण्डेय पुराण

अध्या०	श्लो०	
८२	९	ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात् तत । निश्चक्राम महत् तेजो ब्रह्मणः शकरस्य च ॥
,,	१०	अन्येषा चैव देवाना शक्रादीना शरीरतः । निर्गतं सुमहत्तेजः तच्चैक्य समगच्छत ॥
,,	१२	एकस्थ तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रय त्विषा ॥

देवी के शुक्ल और कृष्ण रूप

८५	४०	शरीरकोपात् यत्तस्या॰ पार्वत्या निःसृताम्बिका । कौषिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ॥
,,	४१	तस्या विनिर्गताया तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती । कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया ॥

विभिन्न देवताओं की शक्तियाँ

८८	१३	यस्य देवस्य यद्रूप यथा भूषणवाहनम् । तत्तदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥
,,	१४	आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणी साभिधीयते ॥
,,	१५	माहेश्वरी वृषारूढा त्रिशूलवरधारिणी । महाहिवलया प्राप्ता चन्द्ररेखाविभूषणा ॥
,,	१६	कौमारी शक्तिहस्ता च मयूरवरवाहना ।
,,	१७	तथैव वैष्णवी शक्तिर्गरुडोपरि संस्थिता ॥

विभिन्न शक्तियों का देवी के साथ तादात्म्य

९०	३	एकैवाह जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा । पश्यैता दुष्ट ! मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतय ॥
,,	४	तत समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखालयम् । तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत् तदाम्बिका ॥

देवी की स्तुति

९१	२	देवि ! प्रपन्नार्त्तिहरेप्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य । प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्व त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥
,,	३	आधारभूता जगतस्त्वमेका.. . .
,,	४	त्व वैष्णवी शक्ति रनन्तवीर्या, विश्वस्य बीज परमासि माया । सम्मोहित देवि समस्तमेतत्, त्व वै प्रपन्ना भुवि मुक्तिहेतु॰ ॥

अध्या०	श्लो०	
६१	६	सर्वमंगलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके । शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥
,,	३७	··विन्ध्याचलनिवासिनी ··· ····

लिंग पुराण

देवाधिदेव शिव

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	१	१	नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे परमात्मने । प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१७	१४	तथा भूतमहं दृष्ट्वा शयानं पकजेक्षणम् । मायया मोहितस्तस्य तमवोचममर्षितः ॥
,,	,,	१५	कस्त्वं वदेति हस्तेन समुत्थाप्य सनातनम् । तदा हस्तप्रहारेण तीव्रेण स दृढेन तु ॥
,,	,,	२२	किमर्थं भाषसे मोहाद् वक्तुमर्हसि सत्वरम् । सोऽपि मामाह जगतां कर्ताहमिति लोकय ॥
,,	,,	३१	इत्युक्तवति तस्मिश्च मयि चापि वचस्तथा ॥
,,	,,	३२	आवयोश्चाभवद् युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम् ॥
,,	,,	३३	एतस्मिन्नन्तरे लिंगमभवच्चावयोः पुरः । विवादशमनार्थं हि प्रबोधार्थं च भास्वरम् ॥
,,	,,	३४	ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलशतोपमम् । क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥
,,	,,	३५	तस्य ज्वालासहस्रेण मोहितो भगवान् हरिः ॥
,,	,,	३६	मोहितं प्राह मामत्र परीक्षां वोऽग्निसंभवम् । अधोगमिष्याम्यनलस्तम्भस्यानुपमस्य च ॥
,,	,,	३७	भवानूर्ध्वं प्रयत्नेन गन्तुमर्हति सत्वरम् ॥
,,	,,	४५	सत्वरं सर्वयत्नेन तस्यान्तं ज्ञातुमिच्छया । श्रान्तो ह्यदृष्ट्वा तस्यान्तमहङ्कारादधोगतः ॥
,,	,,	४६	तदा समभवत् तत्र नादो वै शब्दलक्षणः । ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः ॥
,,	,,	५०	किमिदं त्विति संचिन्त्य मया तिष्ठन् महास्वनम् । लिंगस्य दक्षिणे भागे तदापश्यत् सनातनम् ।

भाग अध्या० श्लो०

१ १७ ५१ आद्यवर्णमकार तूकार चाप्युत्तरे तत. ।
मकार मध्यतश्चैव नादान्त तस्य चोमिति ॥

अर्धनारीश्वर शिव

,, १८ ३० अर्धनारीशरीराय अव्यक्ताय नमोनमः ॥

एकेश्वर शिव

,, १९ १२ त्रिधा भिन्नो ह्यह विष्णो ब्रह्म-विष्णु-भवाख्यया ।
सर्ग-रक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वर. ॥

लिंग और वेदी मे शिव-पार्वती

,, ,, १५ लिंगवेदी महादेवी लिंग साक्षान्मेहश्वर. ॥

लम्बोदरशरीरी शिव

,, २१ ६७ ध्यायते जृम्भते चैव रुदते द्रवते नमः ।
वल्गते क्रीडते चैव लम्बोदरशरीरिणे ॥

शिव का साख्य और योग से सम्बन्ध

,, ,, ८५ भवानीशोऽनादिमाँस्त्व च सर्वलोकाना
त्व ब्रह्मकर्तादिसर्ग ।
साख्या प्रकृते परम त्व। विदित्वा-
क्षीणध्यानास्त्वाममृत्यु विशन्ति ॥

,, ,, ८६ योगाश्च त्वा ध्यायिनो नित्यसिद्ध
ज्ञात्वा योगान् सत्यजन्ते पुनस्तान् ।
ये चाप्यन्ये त्वा प्रसन्ना विशुद्धा.,
स्वकर्मभिस्ते दिव्यभोगा भवन्ति ॥

शिव के विभिन्न अवतार

,, २४ [वैसे ही जैसे वायुपुराण के अध्याय २३ में ।]

लिंग की उपासना

,, २५ २१ आचम्य च पुनस्तस्माज्जलादुत्तीर्य मत्रवित् ।
प्रविश्य तीर्थ मध्ये तु पुन पुण्यविवृद्धये ॥

,, ,, २२ श्रृङ्गेण पर्णपुटकै पलाशै· क्षालितैस्तथा ।
सकुशेन सपुष्पेण जलेनैवाभिषेचयेत् ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	

ऋषिपत्नियों की कथा

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	२९	५	मुनयो दारुगहने तपस्तेपुः सुदारुणम् । तुष्ट्यर्थं देवदेवस्य सदारतनयाग्नयः ॥
,,	,,	७	प्रवृत्तिलक्षणं ज्ञानं ज्ञातुं दारुवनौकसाम् । परीक्षार्थं जगन्नाथः श्रद्धया क्रीडया च सः ॥
,,	,,	८	निवृत्तिलक्षणज्ञानप्रतिष्ठार्थं च शंकरः । देवदारुवनस्थानां प्रवृत्तिर्नान्यचेतसाम् ॥
,,	,,	९	विकृतं रूपमास्थाय दिग्वासा विषमेक्षणः । मुग्धो द्विहस्तः कृष्णाङ्गो दिव्यं दारुवनं ययौ ॥
,,	,,	१०	मन्दस्मितं च भगवान् स्त्रीणां मनसिजोद्भवम् । भ्रूविलासं च गानं च चकारातीव सुन्दरः ॥
,,	,,	११	संप्रेक्ष्य नारीवृन्दं वै मुहुर्मुहुरनंगहा । अनंगवृद्धिमकरोद् अतीव मधुराकृतिः ॥
,,	,,	१२	वने तं पुरुषं दृष्ट्वा विकृतं नीललोहितम् । स्त्रियः पतिव्रताश्चापि तमेवान्वयुरादरात् ॥
,,	,,	१३	वनोटजद्वारगताश्च नार्यो विस्रस्तवस्त्राभरणाविचेष्टाः । लब्ध्वा स्मितं तस्य मुखारविन्दाद् द्रुमालयस्थास्तमथान्वयुस्ताः ॥
,,	,,	१५	अथ दृष्ट्वा परा नार्यः किंचित् प्रहसिताननाः । किंचित् विस्रस्तवसनाः स्रस्तकाञ्चीगुणा जगुः ॥
,,	,,	१८	काश्चिज्जगुस्तं ननृतुर्निपेतुश्च धरातले । निषेदुर्गजवच्चान्या प्रोवाच द्विजपुंगवाः ॥
,,	,,	१९	अन्योन्यं सस्मितं प्रेक्ष्य चालिलिङ्गुः समन्ततः । निरुध्य मार्गं रुद्रस्य नैपुणानि प्रचक्रिरे ॥
,,	,,	२३	दृष्ट्वा नारीकुलं विप्रास्तथाभूतं च शंकरम् । अतीव परुषं वाक्यं जजल्पुस्ते मुनीश्वराः ॥
,,	,,	३७	तेऽपि दारुवनात् तस्मात् प्रातः संविग्नमानसाः । पितामहं महात्मानमासीनं परमासने ॥
,,	,,	३८	गत्वा विज्ञापयामासुः प्रवृत्तमखिलं विभो । शुभे दारुवने तस्मिन् मुनयः क्षीणचेतसः ॥
,,	,,	४०	उत्थाय प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रणिपत्य भवाय च । उवाच मत्वरं ब्रह्मा मुनीन् दारुवनालयान् ॥
,,	,,	४२	यस्तु दारुवने तस्मिंल्लिंगी दृष्टोऽप्यलिंगिभिः । युष्माभिर्विकृताकारः स एव परमेश्वरः ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	२६	६६	तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मणो ब्राह्मणर्षभा । ब्रह्माणमभिवन्द्यार्त्ता॰ प्रोचुराकुलितेक्षणा॰ ॥

त्रिपुरदाह

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	७२	१	अथ रुद्रस्य देवस्य निर्मितो विश्वकर्मणा । सर्वलोकमयो दिव्यो रथो यत्नेन सादरम् ॥
,,	,,	१६	आवहाद्यास्तथा सप्तसोपानं हैममुत्तमम् । सारथिर्भगवान् ब्रह्मा देवाभीषुधरा स्मृता॰ ॥
,,	,,	३४	अथाह भगवान् रुद्रो देवानालोक्य शंकर॰ । पशूनामाधिपत्यं मे दत्त हन्मि ततोऽसुरान् ॥
,,	,,	५२	अग्रे सुराणा च गणेश्वराणां तदाथ नन्दी गिरिराजकल्पम् । विमानमारुह्य पुरं प्रहर्तु जगाम मृत्युं भगवानिवेश॰ ॥
,,	,,	७५	गणेश्वरैर्देवगणैश्च भृंगी समावृतः सर्वगणेन्द्रवर्य॰ । जगाम योगी त्रिपुरं निहन्तुं विमानमारुह्य यथा महेन्द्र॰ ॥
,,	,,	१०१	अथ सज्यं धनु॰कृत्वा शर्वं सधाय तं शरम् । युक्त्वा पाशुपतास्त्रेण त्रिपुरं समचिन्तयत् ॥
,,	,,	१०२	तस्मिन् स्थिते महादेवे रुद्रे विततकार्मुके । पुराणि तेन कालेन जग्मुरेकत्वमाशु वै ॥
,,	,,	११०	दग्धुमर्हसि शीघ्रं त्वं त्रीण्येतानि पुराणि वै । अथ देवो महादेव॰ सर्वज्ञस्तदवैक्षत ॥
,,	,,	१११	पुरत्रयं विरूपाक्षस्तत्क्षणाद् भस्म वै कृतम् ॥
,,	,,	११४	मुमोच बाणं विप्रेन्द्रो व्याकृष्याकर्णमीश्वर॰ । तत्क्षणात् त्रिपुरं दग्ध्वा त्रिपुरान्तकर॰ शरः ॥

लिंगोपासना का फल

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	७३	६	पूजनीय शिवो नित्य श्रद्धया देवपुंगवै । सर्वलिंगमयो लोक सर्वं लिंगे प्रतिष्ठितम् ॥
,,	,,	७	तस्मात् संपूजयेल्लिंगं य इच्छेत् सिद्धिमात्मन । सर्वे लिंगार्चनादेव देवा दैत्याश्च दानवा ॥
,,	,,	८	अर्चयित्वा लिंगमूर्ति समिद्धा नात्र संशय । तस्मान्नित्यं यजेल्लिंग येन केनापि वा सुरा ॥
,,	,,	२४	भस्मस्मरणोयुक्ता न ते दु खस्य भाजनम् । भवनानि मनोज्ञानि दिव्यमाभरण स्त्रिय ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	७३	२५	धर्मं वा तुष्टिपर्यन्तं शिवपूजाविधेः फलम् । ये वाछन्ति महाभोगान् राज्य च त्रिदशालये । तेऽर्चयन्तु सदा कालं लिंगमूर्तिं महेश्वरम् ॥
,,	,,	२६	हत्वा भीत्वा च भूतानि दग्ध्वा सर्वमिद जगत् ।
,,	,,	२७	यजेदेक विरूपाक्ष न पापै॰ स प्रलिप्यते ॥
,,	,,	२६	तदाप्रभृति शक्राद्याः पूजयामासुरीश्वरम् । साक्षात् पाशुपत कृत्वा भस्मोद्धूलितविग्रहाः ॥

विभिन्न प्रकार के लिंग

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	७४	२	इन्द्रनीलमय लिंगं विष्णुना पूजित सदा । पद्मरागमय शक्रो हैमं विश्रवसः सुतः ॥
,,	,,	२	विश्वेदेवास्तथा रौप्य वसवः कान्तिकं शुभम् । आरकूटमय वायुरश्विनौ पार्थिव सदा ॥
,,	,,	४	स्फाटिकं वरुणो राजा आदित्यास्ताम्रनिर्मितम् । मौक्तिक सोमराड् धीमाँस्तथालिंगमनुत्तमम् ॥
,,	,,	५	अनन्ताद्या महानागाः प्रवालकमय शुभम् । दैत्या ह्ययोमय लिंग राक्षसाश्च महात्मनः ॥
,,	,,	६	त्रैलोहिक गुह्यकाश्च सर्वलोहमय गणाः । चामुण्डा सैकत साक्षान्मातरश्च द्विजोत्तमाः ॥
,,	,,	७	दारुज नैर्ऋतिर्भक्त्या यमो मारकत शुभम् । नीलाद्याश्च तथा रुद्रा शुद्ध भस्ममय शुभम् ॥
,,	,,	८	लक्ष्मीवृक्षमय लक्ष्मीगु हो वै गोमयात्मकम् । मुनयो मुनिशार्दूलाः कुशाग्रमयमुत्तमम् ॥
,,	,,	१२	बहुनात्र किमुक्तेन चराचरमिदं जगत् । शिवलिंग समभ्यर्च्य स्थितमत्र न संशय॰ ॥
,,	,,	१३	षड्विध लिंगमित्याहुर्द्रव्याणा च प्रभेदतः ॥
,,	,,	१४	तेषा भेदाश्चतुर्युक्तचत्वारिंशदिति स्मृता॰ । शैलजं प्रथम प्रोक्तं तद्धि साक्षाच्चतुर्विधम् । द्वितीय रत्नज तच्च सप्तधा मुनिसत्तमा॰ ॥
,,	,,	१५	तृतीय धातुजं लिंगमष्टधा परमेष्ठिनः । तुरीय दारुजं लिंगं तत्तु षोडशधोच्यते ॥
,,	,,	१६	मृण्मय पंचमं लिंग द्विधा भिन्नं द्विजोत्तमाः । षष्ठं तु क्षणिक लिंगं सप्तधा परिकीर्तितम् ॥

उमामहेश्वरव्रत

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	८४	२	पौर्णमास्याममावस्या चतुर्दश्यष्टमीषु च । नक्तमब्दं प्रकुर्वीत हविष्य पूजयेद् भवम् ॥
,,	,,	३	उमामहेशप्रतिमा हेम्ना कृत्वा सुशोभनाम् । राजतीं वाथ वर्षान्ते प्रतिष्ठाप्य यथाविधि ॥
,,	,,	४	ब्राह्मणान् भोजयित्वा च दत्वा शक्त्या च दक्षिणाम् । रथाद्यैर्वापि देवेश नीत्वा रुद्रालयं प्रति ॥
,,	,,	५	सर्वातिशमसयुक्तैश्छत्रचामरभूषणै । निवेदयेद् व्रत चैव शिवाय परमेष्ठिने ॥

अन्धक वध

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	९३	३	हिरण्याक्षस्य तनयो हिरण्यनयनोपम. ।
,,	,,	४	पुरान्धक इति ख्यातस्तपसा लब्धविक्रम' ॥
,,	,,	६	बाधितास्ताडिता बद्धा. पातितास्तेन ते सुरा. । विविशुर्मन्दर भीता नारायणपुरोगमा' ॥
,,	,,	८	ततस्ते समस्ता. सुरेन्द्रा ससाध्या. सुरेश महेश पुरेत्याहुरेवम् । द्रुत चाल्पवीर्यप्रभिन्नागभिन्ना, वय दैत्यराजस्य शस्त्रैर्निकृत्ताः ॥
,,	,,	९	इतीदमखिल श्रुत्वा दैत्यागममनौपमम् । गणैश्वरैश्च भगवान् अन्धकाभिमुख ययौ ॥
,,	,,	११	अथाशेषा सुरांस्तस्य कोटि-कोटि शतैस्तत' । भस्मीकृत्य महादेवो निर्बिभेदान्धक तदा ॥
,,	,,	१५	दग्धोऽग्निना च शूलेन प्रोत प्रेत इवान्धक' । सात्विक भावमास्थाय चिन्तयामास चेतसा ॥
,,	,,	१६	जन्मान्तरेऽपि देवेन दग्धो यस्माच्छिवेन वै । आराधितो मया शभु पुरा साक्षान्महेश्वर ॥
,,	,,	१७	तस्मादेतन्मया लब्धमन्यथा नोपपद्यते । य स्मरेन् मनसा रुद्र प्राणान्ते सकृदेव वा ॥
,,	,,	१८	स याति शिवसायुज्य कि पुनर्बहुश स्मरन् । ब्रह्मा च भगवान् विष्णु सर्वे देवा सवासवा. ॥
,,	,,	१९	शरण प्राप्य तिष्ठन्ति तमेव शरण व्रजेत् । एव सचित्य दुष्टात्मा सोऽन्धकश्चान्धकार्दनम् ॥
,,	,,	२०	सगण गिरमीशानमस्तुवत् पुण्यगौरवात् ॥
,,	,,	२१	हिरण्यनेत्रतनय शूलाग्रस्थ सुरेश्वर. । प्रोवाच दानव प्रेक्ष्य घृणया नीललोहित ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	६३	२२	तुष्टोऽस्मि वत्स भद्रं ते कामं किं करवाणि ते । वरान् वरय दैत्येन्द्र वरदोऽहं तवान्धक ॥
,,	,,	२३	श्रुत्वा वाक्य तदा शम्भोर्हिरण्यनयनात्मजः । हर्षगद्गदया वाचा प्रोवाचेद महेश्वरम् ॥
,,	,,	२४	भगवन् देवदेवेश भक्तार्तिहर शकर । त्वयि भक्तिः प्रसीदेश यदि देयो वरश्च मे ॥

शिव का शरभावतार

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	६५	२०	ततस्तैर्गतैः सैष देवो नृसिंह', सहस्राकृतिः सर्वपात् सर्ववाहुः । सहस्रेक्षण• सोमसूर्याग्निनेत्रस्तदा सस्थितः सर्वमावृत्य मायी ॥
,,	,,	२१	त तुष्टुवुः सुरश्रेष्ठ लोका लोकाचले स्थिताः । सब्रह्मकाःससाध्याश्च सयमाः समरुद्गणा' ॥
,,	,,	३२	ततोब्रह्मादयस्तूर्णं सम्भूय परमेश्वरम् ।
,,	,,	३३	आत्मत्राणाय शरणं जग्मुः परमकारणम् । मन्दरस्थ महादेव क्रीडमान सहोमया ॥
,,	,,	५३	हिरण्यकशिपु हत्वा करजैर्निशितैः स्वयम् । दैत्येन्द्रैर्वहुभिः सार्धं हितार्थं जगता प्रभुः ॥
,,	,,	५४	सैंहीं समानयन् योनिं वाधते निखिल जगत् । यत्कृत्यमत्र देवेश तत् कुरुष्व भवानिह ॥
,,	,,	६०	अथोत्थाय महादेवः शारभ रूपमास्थितः ।
,,	,,	६१	ययौ प्रान्ते नृसिंहस्य गर्वितस्य मृगासिनः ।
,,	,,	६२	सिंहात् ततो नगे भूत्वा जगाम च यथाक्रमम् ॥
,,	६६	५	ततः संहाररूपेण सुव्यक्तः परमेश्वरः ।
,,	,,	७०	हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टवल-विक्रम' । विभ्रद्धौर्म्य सहस्राशोरध' खद्योतविभ्रमम् ॥
,,	,,	७१	अथ विभ्रम्य पक्षाभ्या नाभिपादेभ्युदारयन् । पादावावध्य पुच्छेन वाहुभ्या वाहुमण्डलम् ॥
,,	,,	७२	भिन्दन्नुरसि वाहुभ्या निजग्राह हरो हरिम् ।
,,	,,	७५	नीयमान• परवशो दीनवक्त्र कृताजलि• ॥
,,	,,	७६	तुष्टाव परमेशान हरिस्त ललिताक्षरै• ॥
,,	,,	९५	नाम्नामष्टशतेनैव स्तुत्वामृतमयेन तु । पुनस्तु प्रार्थयामास नृसिहः परमेश्वरम् ॥
,,	,,	९६	यदा यदा मम ज्ञानम् अत्यंहकारदूषितम् । तदा तदापनेतव्यं त्वयैव परमेश्वर ॥

लिंगवेदी का माहात्म्य

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	९९	६	सा भगाख्या जगद्धात्री लिंगमूर्तेस्त्रिवेदिका ॥
,,	,,	७	लिंगस्तु भगवान् द्वाभ्यां जगत्सृष्टिर्द्विजोत्तमा ॥
,,	,,	८	लिंगवेदिसमायोगाद् अर्धनारीश्वरो भवेत् ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	,,	१३	श्रद्धा ह्यस्य पुरा पत्नी तत पुस. पुरातनी ।
			शैवाज्ञया विभोर्देवी दक्षपुत्री बभूव ह ॥
,,	,,	१४	सती सज्ञा सा वै रुद्रमेवाश्रिता पतिम् ।
			दक्ष विनिंद्य कालेन देवी मैनाख्यभूत् पुन ॥
,,	,,	१६	अनादृत्य कृति ज्ञात्वा सती दक्षेण तत्क्षणात् ।
			भस्मीकृत्वात्मनो देह योगमार्गेण सा पुन' ॥
,,	,,	१७	बभूव पार्वती देवी तपसा च गिरे. प्रभोः ॥
,,	१००	३	भद्रो नाम गणस्तेन प्रेपित. परमेष्ठिना ।
			विप्रयोगेन देव्या वै दु सहेनैव सुव्रतः ॥
,,	,,	४	सोऽसृजद् वीरभद्रश्च गणेशान् रोमजान् शुभान् ।
			गणेश्वरै समारुह्य रथ भद्र. प्रतापवान् ॥
,,	,,	५	गन्तु चक्रे मतिं यस्य सारथिर्भगवान् अज. ।
			गणेश्वराश्च ते सर्वे विविधायुधपाणयः ॥
,,	,,	१२	उवाच भद्रो भगवान् दक्ष चामिततेजसम् ।
,	,,	१३	दग्धु सम्प्रेपितश्चाह भवन्त समुनीश्वरै. ।
			इत्युक्त्वा यज्ञशाला ता ददाह गणपु गव ॥
,,	,,	१५	गृहीत्वा गणपा. सर्वान् गङ्गास्रोतसि चिक्षिपु ।
			वीरभद्रो महातेजा शक्रस्योद्यच्छत करम् ॥
,,	,,	१६	व्यष्टम्भयद् अदीनात्मा तयान्येपां दिवौकसाम् ॥
			भगस्य नेत्रे चोत्पाद्य करजाग्रेण लीलया ॥
,,	,,	१७	निहत्य मुष्टिना दन्तान् पूष्णश्चैव न्यपातयत् ॥
,,	,,	२३	जघान् भगवान् रुद्र खड्गमुष्ट्यादिसायकै ।
			अथ विष्णुर्महातेजाश्चक्रमुद्यम्य मूर्च्छित ॥
,,	,,	२४	युयोध भगवाँस्तेन रुद्रेण सह माधव. ॥
,,	,,	२७	निहत्य गदया विष्णु ताडयामाम मूर्धनि ।
			ततश्चोरसि त देव लीलयैव रणाजिरे ॥
,,	,,	३१	त्रिभिश्च धर्षित शार्ङ्ग त्रिधाभूत प्रभोस्तदा ।
			शार्ङ्गकोटि-प्रसगाद् वै चिच्छेद च शिर प्रभो ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	१००	३९	एतस्मिन्नेव काले तु भगवान् पद्मसंभवः।
,,	,,	४०	भद्रमाह महातेजा प्रार्थयन् प्रणतः प्रभुः। अलं क्रोधेन वै भद्र नष्टाश्चैव दिवौकसः॥
,,	,,	४१	प्रसीद क्षम्यतां सर्वं रोमजैः सह सुव्रत। सोऽपि भद्रः प्रभावेण ब्रह्मणः परमेष्ठिनः॥
,,	,,	४२	शमं जगाम शनकैः शान्तस्तस्थौ तदाज्ञया। देवोऽपि तत्र भगवान् अन्तरिक्षे वृषध्वजः॥
,,	,,	४३	प्रार्थितश्चैव देवेन ब्रह्मणा भगवान् भवः॥
,,	,,	४९	गाणपत्यं ददौ तस्मै दक्षयाक्लिष्टकर्मणे। देवाश्च सर्वे देवेशं तुष्टुवुः परमेश्वरम्॥
,,	,,	५०	नारायणश्च भगवान् तुष्टाव च कृताञ्जलिः। ब्रह्मा च मुनयः सर्वे पृथक्-पृथगजोद्भवम्॥

मदन-दहन

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१०१	१६	देवताश्च महेन्द्रेण तारकाद् भयपीडिताः। न शान्तिं लेभिरे शूराः शरणं वा भयार्दिताः॥
,,	,,	२४	सोऽपि तस्य मुखाच्छ्रुत्वा प्रणयात् प्रणतार्तिहा। देवैरशेषैः सेन्द्रैस्तु जीवमाह पितामहः॥
,,	,,	२५	जाने वार्तिं सुरेन्द्राणां तथापि शृणु सांप्रतम्। विनिन्द्य दक्षं या देवी सती रुद्राङ्गसंभवा।
,,	,,	२६	उमा हैमवती जज्ञे सर्वलोकनमस्कृता। तस्याश्चैवेह रूपेण ब्रूय देवाः सुरोत्तमाः॥
,,	,,	२७	विभोर्यतध्वमाक्रष्टुं रुद्रस्यास्य मनो महत्। तयोर्योगेन संभूतः स्कन्दः शक्तिधरः प्रभुः॥
,,	,,	२८	षडास्यो द्वादशभुजः सेनानीः पावकिः प्रभुः॥
,,	,,	३०	लीलयैव महासेनः प्रबलं तारकासुरम्। बालोऽपि विनिहत्यैको देवान् संतारयिष्यति॥
,,	,,	३५	तमाह भगवाँश्छक्रः संभाव्य मकरध्वजम्। शंकरेणाम्बिकामद्य संयोजय यथासुखम्॥
,,	,,	३८	एवमुक्तो नमस्कृत्य देवदेवं शचीपतिम्। देवदेवाश्रमं गन्तुं मतिं चक्रे तया सह॥
,,	,,	३९	गत्वा तदाश्रमे शंभोः सह रत्या महाबलः। वसन्तेन सहायेन देवं योक्तुमनामवत्॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	१०१	४०	ततः संप्रेक्ष्य मदन हसन् देवस्त्रियम्बक । नयनेन तृतीयेन सावज्ञ तमवैक्षत ॥
,,	,,	४१	ततोऽस्य नेत्रजो वह्निर्मदन पार्श्वत. स्थितम् । अदहत् तत्क्षणादेव ललाप करुण रतिः ॥
,,	,,	४२	रत्याः प्रलापमाकर्ण्य देवदेवो वृषध्वजः । कृपया परया प्राह कामपत्नीं निरीक्ष्य च ॥
,,	,,	४३	अमूर्तोऽपि ध्रुव भद्रे कार्य सर्व पतिस्तव । रतिकाले ध्रुव भद्रे । करिष्यति न सशयः ॥

पार्वतीस्वयवर

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१०२	१	तपसा च महादेव्या. पार्वत्या वृषभध्वज । प्रीतश्च भगवान् शर्वो वचनाद् ब्रह्मणस्तदा ॥
,,	,,	२	हिताय चाश्रमाणा च क्रीडार्थं भगवान् भव । तदा हैमवती देवीमुपयेमे यथाविधि ॥
,,	,,	१७	स्वयवर तदा देव्या सर्वलोकेष्वघोषयत् ॥
,,	,,	२३	अथ शैलसुता देवी हैममारुह्य शोभनम् । विमान सर्वतोभद्र सर्वरत्नैरलकृतम् ।
,,	,,	२७	माला गृह्य जया तस्थौ सुरद्रुमसमुद्भवाम् ॥ विजया व्यजन गृह्य स्थिता देव्या समीपतः ॥
,,	,,	२८	माला प्रगृह्य देव्या तु स्थितायां देवससदि । शिशुर्भूत्वा महादेव क्रीडार्थं वृषभध्वज ॥
,,	,,	२६	उत्सगतलससुप्तो बभूव भगवान् भव । अथ दृष्ट्वा शिशु देवास्तस्या उत्सगवर्त्तिनम् ॥
,,	,,	३०	कोऽयमत्रेति सम्मन्त्र्य चुक्षुभुश्च समागता । वज्रमाहारयत्तस्य बाहुरुद्यम्य वृत्रहा ॥
,,	,,	३१	सबाहुरुद्यमस्तस्य तथैव समुपस्थित । स्तम्भित शिशुरूपेण देवदेवेन लीलया ॥
,,	,,	४१	स बुद्ध्वा देवमीशान शीघ्रमुत्थाय विस्मितः । ववन्दे चरणौ शभोरस्तुवच्च पितामह ॥
,,	,,	६१	तस्य देवी तदा दृष्टा समक्ष त्रिदिवौकसाम् ॥
,,	,,	६२	पादयो स्थापयामास माला दिव्या सुगन्धिनीम् ॥

गणेशोत्पत्ति

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१०५	२	एतस्मिन्नन्तरे देवा सेन्द्रोपेन्द्रा समेत्य ते । धर्मविघ्न तदा कर्तु दैत्यानामभवन् द्विजा ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	१०४	४	अविघ्न यज्ञदानाद्यैः समभ्यर्च्य महेश्वरम् । ब्रह्माणं च हरिं विप्रा लब्धेप्सितवरा यतः ॥
,,	,,	६	पुत्रार्थं चैव नारीणां नराणां कर्मसिद्धये । विघ्नेशं शंकरं स्रष्टुं गणपं स्तोतुमर्हथ ॥
,,	,,	७	इत्युक्त्वान्योन्यमनघ तुष्टुवुः शिवमीश्वरम् ।
,,	१०५	५	सुरेतरादिभिः सदा ह्यविघ्नमर्थितो भवान् ॥
,,	,,	६	ततः प्रसीदताद् भवान् सुविघ्नकर्मकारणम् । सुरापकारकारिणामिहैष एव नो वरः ॥
,,	,,	७	ततस्तदा निशम्य वै पिनाकधृक् सुरेश्वरः । गणेश्वरं सुरेश्वरम् वपुर्दधार स शिवः ॥
,,	,,	९	इभाननाश्रितं वरं त्रिशूलपाशधारिणम् । समस्तलोकसंभवं गजाननं तदाम्बिका ॥

उपमन्यु की कथा

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	१०७	२४	एतस्मिन्नन्तरे देवः पिनाकी परमेश्वरः । शक्ररूपं समास्थाय गन्तुं चक्रे मतिं तथा ॥
,,	,,	३१	एवमुक्त्वा स्थितं वीक्ष्य कृताञ्जलिपुटं द्विजम् । प्राह गम्भीरया वाचा शक्ररूपधरो हरः ॥
,,	,,	३२	तुष्टोऽस्मि ते वरं ब्रूहि तपसानेन सुव्रत । ददामि चेप्सितान् सर्वान् धौम्याग्रज महामते ॥
,,	,,	३३	एवमुक्तस्तदा तेन शक्रेण मुनिसत्तमः ॥ वरयामि शिवे भक्तिमित्युवाच कृताञ्जलिः ।
,,	,,	३४	ततो निशम्य वचनं मुनेः कुपितवत् प्रभुः । प्राह सव्यममीशानः शक्ररूपधरः स्वयम् ॥
,,	,,	३६	मद्भक्तो भव विप्रर्षे मामेवार्चय सर्वदा । ददामि सर्वं भद्रं ते त्यज रुद्रं च निर्गुणम् ।
,,	,,	३७	ततः शक्रस्य वचनं श्रुत्वा श्रोत्रविदारणम् ॥ उपमन्युरिदं प्राह जपन् पञ्चाक्षरं शुभम् ।
,,	,,	४१	श्रुत्वा निन्दां भवस्याथ तत्क्षणादेव संत्यजेत् । स्वदेहं तं निहत्याशु शिवलोकं स गच्छति ॥
,,	,,	४२	यो वाचोत्पाटयेज्जिह्वां शिवनिन्दारतस्य च ॥ त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य शिवलोकं स गच्छति ॥
,,	,,	४३	आस्तां तावन् ममेच्छायाः क्षीरं प्रति सुराधमम् । निहत्य त्वां शिवास्त्रेण त्यजाम्येतत् कलेवरम् ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	

शैवों की श्रेष्ठता

भाग	अध्या०	श्लो०	
२	४	२०	अन्यभक्तसहस्रेभ्यो विष्णुभक्तो विशिष्यते । विष्णुभक्तसहस्रेभ्यो रुद्रभक्तो विशिष्यते । रुद्रभक्तात् परतरो नास्ति लोके न संशयः ॥
,,	,,	२१	तस्मात्तु वैष्णवं चापि रुद्रभक्तमथापि वा । पूजयेत् सर्वयत्नेन धर्मकर्मार्थमुक्तये ॥

शिवोपासना का फल

भाग	अध्या०	श्लो०	
,,	५४	३४	सर्वावस्था गतो वापि मुक्तोऽयं सर्वपातकैः । शिवध्यानान्न संदेहो यथा रुद्रस्तथा स्वयम् ॥
,,	,,	३५	हत्वा भीत्वा च भूतानि भुक्त्वा चान्यतोऽपि वा । शिवमेकं सकृत् स्मृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

वराह पुराण

शिव और विष्णु का तादात्म्य

अध्या०	श्लो०	
६	७	येयं मूर्तिर्भगवतः शंकरः आस स्वयं हरिः ॥

विष्णु की श्रेष्ठता

अध्या०	श्लो०	
१०	१५	स च नारायणो देवः कृते युगवरे प्रभुः ॥
,,	१६	त्रेतायां रुद्ररूपस्तु द्वापरे यज्ञमूर्तिमान् ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

अध्या०	श्लो०	
२१	४	तस्य ब्रह्मा शुभां कन्यां भार्यार्थे मूर्तिसंभवाम् । गौरीनाम्नीं स्वयं देवीं भारतीं तां ददौ पिता ॥
,,	८	तस्मिन् निमग्ने देवेशे तां ब्रह्मा कन्यकां पुनः । अन्तः शरीरगां कृत्वा गौरीं परमशोभिनीम् ॥
,,	९	पुनः सिसृक्षुर्भगवान् असृजत् सप्त मानसान् । दक्षं च ततः आरभ्य प्रजा सम्यग्विवर्धिता. ॥
,,	३८	ऋत्विजां मन्त्रनिचयो नष्टो रुद्रागमे तदा । विपरीतमिदं दृष्ट्वा तदा सर्वेऽत्र ऋत्विजः ॥
,,	३९	ऊचुः सन्नह्यतां देवा महद्वो भयमागतम् । कश्चिदायाति बलवान् असुरो ब्रह्मनिर्मितः ॥
,,	४०	यज्ञभागार्थमेतस्मिन् क्रतौ परमदुर्लभे ॥
,,	४९	दुद्रुवुः सर्वतो दिक्षु रुद्रास्त्वेकादशाद्भुतम् ॥

अध्या०	श्लो०	
२१	६३	उभौ हरिहरौ देवौ लोके ख्यातिं गमिष्यथः ॥
,,	६५	ब्रह्मा लोकानुवाचेद रुद्रभागोऽस्य दीयताम् ॥
,,	६६	रुद्रभागो ज्येष्ठभाग इतीय वैदिकी श्रुतिः ॥
२२	१	तस्मिन् निवसतस्तस्य रुद्रस्य परमेष्ठिनः । चुकोप गौरी देवस्य पितुर्वैरमनुस्मरत् ॥
,,	२	चिन्तयामास देवस्य त्वनेनापहृत पुरम् । यज्ञो विध्वसितो यस्मात् तस्माद्देह त्यजाम्यहम् ॥

गणेशजन्म

२३	७	देवदेव महादेव शूलपाणे त्रिलोचन । विघ्नार्थमवशिष्टार्थम् उत्पादयितुमर्हसि ॥
,,	१३	मूर्त्तिमान् अतितेजस्वी हसतः परमेष्ठिनः ।
,,	१४	प्रदीप्तास्यो महादीप्तः कुमारो भासयन् दिशः । परमेष्ठिगुणैर्युक्तः साक्षाद्रुद्र इवापर. ॥
,,	१६	तं दृष्ट्वा परम रूप कुमारस्य महात्मनः । उमाऽनिमेषनेत्राभ्या तमपश्यच्च भामिनी ॥
,,	१७	त दृष्ट्वा कुपितो देवः स्त्रीभाव चचल तथा । मत्वा कुमाररूप तु शोभन मोहनं दृशाम् ॥
,,	१८	ततः शशाप तं देव गणेश परमेश्वर । कुमार गजवक्त्रस्त्व प्रलम्बजठरस्तथा । भविष्यसि तथा सर्पैरुपवीतगतिर्ध्रुवम् ॥
,,	२८	विनायको विघ्नकरो गजास्यो गणेशनामा च भवस्य पुत्रः । एते च सर्वे त्वपयान्तु भृत्या विनायकाः क्रूरदृशः प्रचण्डाः ॥

शिव और विष्णु का तादात्म्य

२५	४	पुरुषो विष्णुरित्युक्तः शिवो वा नामतः श्रुत॰ ॥
,,	५	अव्यक्तं तु उमा देवी श्रीर्वा पद्मनिभेक्षणा ॥
,,	१८	त्रिशूलपाणे पुरुषोत्तमाच्युत
,,	१९	त्वमादिदेव॰ पुरुषोत्तमो हरि॰ भवो महेशस्त्रिपुरान्तको विभुः ।
,,	२४	कपालमालिन् शशिखण्डशेखर श्मशानवासिन् सितभस्मगुण्ठित ।

स्कन्दजन्म

अध्या०	श्लो०	
२५	३२	एवमुक्त्वा हरो देवान् विसृज्य स्वागसस्थिताम् ।
		शक्तिं संक्षोभयामास पुत्रहेतोः परन्तप ॥
,,	३३	तस्य क्षोभयतः शक्तिं ज्वलनार्कसमप्रभ ।
		कुमार॰ सहजा शक्तिं बिभ्रज्ज्ञानैकशालिनीम् ॥
,,	३४	उत्पत्तिस्तस्य राजेन्द्र बहुरूपा व्यवस्थिता ।
		मन्वन्तरेष्वनेकेषु देवसेनापति॰ किल ॥

कात्यायनी

२८	२४	एव चिन्तयतस्तस्य प्रादुरासीद् अयोनिजा ।
,,	२५	शुक्लाम्बरधरा कन्या स्रक्किरीटोज्ज्वलानना ॥
		अष्टाभिर्बाहुभिर्युक्ता दिव्यप्रहरणोद्यता ।
,,	२६	चक्र खड्ग गदा पाश शख घटा तथा धनुः ॥
		धारयन्ती तथा चान्यान् बद्धतूणा जलाद्वहि॰ ।
,,	२७	निश्चकाम महायोगा सिंहवाहनवेगिता ॥
,,	३२	वेदमातर् नमस्तुभ्यम् अक्षरस्थे महेश्वरि ॥

त्रिमूर्त्ति

७१	२	तावत् तस्यैव रुद्रस्य देहस्थं कमलासनम् ।
,,	३	नारायण च हृदये त्रसरेणुसुसूक्ष्मकम् ।
		ज्वलद् भास्करवर्णाभ पश्यामि भवदेहत ॥

विष्णु से शिव का प्रादुर्भाव

६०	३	तस्माद् रुद्रोऽभवत् देवी स च सर्वज्ञता गत॰ ।

देवताओं की शक्ति के रूप मे देवी

,,	१६	नीलोत्पलदलश्यामा नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
,,	२०	सुनासा सुललाटान्ता सुवक्त्रा सुप्रतिष्ठिता ॥
,,	२४	किं मा न वेत्थ सुश्रोर्णी स्वशक्तिं परमेश्वरीम् ॥

चामुण्डा

६६	५२	चामुण्डे ज्वलमानास्ये तीक्ष्णदंष्ट्रे महाबले ।
		शवयानस्थिते देवि प्रेतासनगते शिवे ॥
,,	५३	कराले विकराले च महाकाले करालिनि ॥
,,	५४	काली कराली निष्क्रान्ता कालरात्रि नमोऽस्तु ते ।

ब्रह्मशिरःकृन्तन

अध्या०	श्लो०	
६७	४	मंत्रमाथर्वणं रुद्रो येन सद्य प्रमुच्यते ॥
,,	५	कपालिन् रुद्र बभ्रोऽथ भव कैरात सुव्रत ॥
,,	६	एवमुक्तस्तदा रुद्रो भविष्यैर्नामभिर्भव । कपालशब्दात्कुपितस्तच्छिरो विचकर्त ह ॥
,,	७	तन्निकृत्तं शिरो धात्रिहस्ततलग्न बभूव ह ॥
,,	१२	तस्मिन् भिन्ने पृथक् केशान् गृहीत्वा भगवान् भवः ।
,,	१३	यज्ञोपवीतं केश तु महास्थ्नाद्मणीं स्तथा । कपालशकलं चैकमसृक् पूर्ण करे स्थितम् ।
,,	१४	अपर खण्डश· कृत्वा जटाजूटे न्यवेशयत् । एव कृत्वा महादेवो बभ्रामेमा वसुन्धराम् ॥
,,	२१	परिधान तु कौपीन नग्नः कापालिकोऽभवत् ।

वायु पुराण

शिव का उत्कर्ष

५	३८	देवेपु च महान् देवो महादेवस्ततः स्मृत· । सर्वेशत्वाच्च लोकानामवश्यत्वात् तथेश्वर· ॥
,,	३९	बृहत्वाच्च स्मृतो ब्रह्मा भूतत्वाद् भूत उच्यते ।
,,	४०	यस्मात् पुर्यनुशेते च तस्मात् पुरुप उच्यते ॥

देवी की उत्पत्ति

६	७५	तत्र या सा महाभागा शंकरस्यार्द्धकायिनी ।
,,	७६	प्रागुक्ता न मया तुभ्य स्त्री स्वयंभोर्मुखोद्गता । कायार्द्धं दक्षिण तस्या· शुक्ल वामं तथाऽसितम् ॥
,,	७७	आत्मानं विभजस्वेति सोक्ता देवी स्वयंभुवा । सा तु प्रोक्ता द्विधा भूता शुक्ला कृष्णा च वै द्विजाः ॥

शिव के भूतगण

१०	४४	विवासान् हरिकेशांश्च दृष्टिघ्नांश्च कपालिन ॥
,,	४६	स्थूलशीर्पानष्टदंष्ट्रानुद्विजिह्वांस्त्रिलोचनान् ॥
,,	४७	मेदपाश्चातिकायाश्च शितिकण्ठोग्रमन्यव ॥

शिव का नकुली अवतार

२३	२०६	अष्टविंशे पुन प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते । पराशरसुत श्रीमान् विष्णुलोकपितामह· ॥

अध्या०	श्लो०	
२३	२०७	तदा षष्ठेन चांशेन कृष्णः पुरुषसत्तमः । वसुदेवाद् यदुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यति ॥
,,	२०८	तदा चाहं भविष्यामि योगात्मा योगमायया ।
,,	२१०	दिव्या मेरुगुहा पुण्या त्वया सार्धं च विष्णुना । भविष्यामि तदा ब्रह्मन् नकुली नाम नामतः ।
,,	२१२	तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः । कुशिकश्चैव गार्ग्यश्च विश्वको रुष्ट एव च ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

२४	३५	ततो ह्यपरिमेयात्मा भूताना प्रभुरीश्वर । शूलपाणिर्महादेवो हैमचीराम्बरच्छदः ॥ आगच्छत् तत्र सोऽनन्तो नागभोगपतिर्हरः ॥
,,	५३	प्रत्यासन्नमथायात बालार्काभ महाननम् । भूतमत्यद्भुत दृष्ट्वा नारायणमथाब्रवीत् ॥
,,	५४	अप्रमेयो महावक्त्रो दंष्ट्री व्यस्तशिरोरुहः । दशबाहुस्त्रिशूलाङ्को नयनैर्विश्वतोमुख ॥
,,	५५	लोकप्रभु स्वय साक्षाद् विकृतो मुञ्जमेखली । मेढ्रेणोर्ध्वेन महता नदमानोऽति भैरवम् ॥
,,	५६	क खल्वेष पुमान् विष्णो तेजोराशिर्महाद्युतिः । व्याप्य सर्वा दिशो द्याश्च इत एवाभिवर्तते ।
,,	६१	कोऽयं भो शकरो नाम ह्यावयो व्यतिरिच्यते ॥
,,	६३	मायायोगेश्वरो धर्मो दुराधर्षो वरप्रद । हेतुरस्यात्र जगत पुराण पुरुषोऽव्यय ॥
,,	६५	प्रधानमव्यय ज्योतिरव्यक्त प्रकृतिस्तमः । अस्य चैतानि नामानि नित्य प्रसव-धर्मिणः । य क स इति दुःखार्तैर्मृग्यते यतिभि शिवः ॥
,,	६६	एष बीजी भवान् बीजमह योनि सनातन: ।
,,	६९	अस्मान्महत्तर गुह्य भूतमन्यन्न विद्यते । महतः परम धाम शिवमध्यात्मिना पदम् ॥
,,	७०	द्वैधीभावेन चात्मान प्रविष्टस्तु व्यवस्थित । निष्कल सूक्ष्ममव्यक्त सकलश्च महेश्वर ॥

शिवस्तुति (विष्णु और ब्रह्मा द्वारा)

,,	९१	अमेढ्रायोर्ध्वमेढ्राय नमो वैकुण्ठरेतसे ॥
,,	९३	नमस्ते ह्यस्मदादीना भूताना प्रभवाय च ॥

अध्या०	श्लो०	
२४	६४	नमो योगस्य प्रभवे सांख्यस्य प्रभवे नमः ॥
,,	१०६	दैत्यदानवसंघानां रक्षसां पतये नमः ॥
,,	१०८	गन्धर्वाणां च पतये यक्षाणां पतये नमः ॥
,,	१०६	नमोऽस्तु लक्ष्मीपतये श्रीमते ह्रीमते नमः ॥
,,	१२६	नमः कपालहस्ताय दिग्वस्त्राय कपर्दिने ॥
,,	१२६	सुमेधसेऽक्षमालाय दिग्वासाय शिखण्डिने ॥
,,	१३१	रक्षोघ्नाय मखघ्नाय शितिकण्ठोर्ध्वरेतसे ॥
,,	१३२	अरिहाय कृतान्ताय तिग्मायुधधराय च ॥
,,	१३७	श्मशानरतिनित्याय नमस्त्र्यम्बकधारिणे । नमस्ते प्राणपालाय धवमालाधराय च ॥
,,	१३८	नरनारीशरीराय देव्याः प्रियकराय च ॥
,,	१३६	नमोऽस्तु नृत्यशीलाय वाद्यनृत्यप्रियाय च ।
,,	१४४	चलते क्रीडते चैव लम्बोदरशरीरिणे ॥
,,	१५४	जपो जप्यो महायोगी महादेवो महेश्वरः । पुरेशयो गुहावासी खेचरो रजनीचरः ॥
,,	१६०	ब्रह्मण्यो ब्रह्मचारी च गोघ्नस्त्वं शिष्टपूजितः ॥
,,	१६२	सांख्याः प्रकृतिभ्यः परमं त्वां विदित्वा— क्षीणध्यानास्ते न मृत्युं विशन्ति ॥
,,	१६३	योगेन त्वां ध्यानिनो नित्ययुक्ता ज्ञात्वा भोगान् संत्यजन्ते पुनस्तान् । येऽन्ये मर्त्यास्त्वां प्रपन्ना विशुद्धास्ते कर्मभिर्दिव्यभोगान् भजन्ते ॥

शिव और एकादश रुद्रों का तादात्म्य

२५	१५	आत्मैकादश ये रुद्रा विहिताः प्राणहेतवः ॥
,,	१६	सोऽहमेकादशात्मा वै शूलहस्तः सहानुगः ॥

शिव और विष्णु का तादात्म्य

,,	२०	प्रकाशं चाप्रकाशं च जंगमं स्थावरं च यत् । विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम् ॥
,,	२३	आत्मानं प्रकृतिं विद्धि मां विद्धि पुरुषं शिवम् । भवानर्धशरीरं मे त्वहं तव तथैव च ॥

शिव के भूतगणों की उत्पत्ति

,,	६२	तमोधाविष्टनेत्राभ्यामपतन्नश्रुबिन्दवः । ततस्तेभ्योऽश्रुबिन्दुभ्यो वातपित्तकफात्मकाः ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

अध्या०	श्लो०	
२५	६३	महाभागा महासत्त्वा स्वस्तिकैरभ्यलङ्कृता। प्रकीर्णकेशा सर्पास्ते प्रादुर्भूता महाविषा॥
३०	४०	दक्षस्यासन् सुता ह्यष्टौ कन्या याः कीर्तिताः मया॥
,,	४१	तासा ज्येष्ठा सती नाम पत्नी या त्र्यम्बकस्य वै। नाजुहावात्मजा ता वै दक्षोरुद्रमभिद्विपन्॥
,,	४३	ततो ज्ञात्वा सती सर्वा स्वसः प्राप्ता पितुर्गृहम्। जगाम साप्यनाहूता सती तत् स्व पितुर्गृहम्॥
,,	४४	ततोऽब्रवीत् सा पितर देवी क्रोधादमर्षिता। यवीयसीभ्यो ज्यायसीं किं तु पूजामिमा प्रभो॥ असमतामवज्ञाय कृतवानसि गर्हिताम्॥
,,	४५	एवमुक्तोऽब्रवीदेना दक्ष सरक्तलोचन॥
,	४६	त्व तु श्रेष्ठा वरिष्ठा च पूज्या बाला सदा मम। तासा ये चैव भर्तारस्ते मे बहुश्रुता सदा॥
,,	४७	गुणैश्चैवाधिका श्लाध्या सर्वे ते त्र्यम्बकात् सति॥
,,	४६	तेन त्वा न बुभूपामि प्रतिकूलो हि मे भवः।
,,	५२	ततस्तेनावमानेन सती दुखादमर्पिता। अब्रवीद् वचन देवी नमस्कृत्य महेश्वरम्॥
,,	५३	यत्राहमुपपत्स्येऽह पुनर्देहेन भास्वता। तत्राप्यहमसम्मूढा सभूता धार्मिकी पुन। गच्छेय धर्मपत्नीत्व त्र्यम्बकस्यैव धर्मत॥
,,	६३	यस्मात्व मत्कृते क्रूरमृपीन् व्याहृतवानसि। तस्मात्सार्ध सुरैर्यज्ञे न त्वा यक्ष्यन्ति वै द्विजा॥
,,	६४	हुत्वाहुतिं तत क्रूर अपस्त्यक्ष्यन्ति कर्मसु। इहैव वत्स्यसि तथा दिव हित्वा युगक्षयात्॥
,,	१०८	पूज्य तु पशुभर्तार कस्मान्नाह्वयसे प्रभुम्॥
,,	१०७	एतन्मखेशाय सुवर्णपात्रे हवि समस्त विधिमन्त्रपूतम्। विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य सर्वं प्रभोर्विभो ह्याहवनीयनित्यम्॥
,,	११२	सुरैरेव महाभागे सर्वमेतदनुष्ठितम्। यज्ञेषु मम सर्वेषु न भाग उपकल्पित॥
,,	१८२	गजेन्द्रकर्ण-गोकर्णपाणिकवर्णा नमोस्तु ते।
,,	१९७	नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रकारिणे
,,	१९७	शिल्पिना श्रेष्ठ सर्वशिल्पप्रवर्तक।

अध्या० श्लो०

३० २८१ सर्वस्त्व सर्वगो देव सर्वभूतपतिर्भवान् ।
सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्व न निमन्त्रित· ॥

काल और शिव का तादात्म्य

३१ ३२ अहंकाराद्रुदन् रुद्रः सद्भूतो ब्रह्मणस्त्रयः ।
स रुद्रो वत्सरस्तेपा विजज्ञे नीललोहितः ॥

सागर-मन्थन और विषपान

५४ ४८ मथ्यमानेऽमृते पूर्वं क्षीरोदे सुरदानवैः ॥
अग्रे समुत्थित तस्मिन् विष कालानलप्रभम् ।
" ५८ निर्दग्धो रक्तगौराङ्गः कृतकृष्णो जनार्दनः ।
" ६७ ब्रह्मणे चैव रुद्राय विष्णवे चव ते नम. ॥
साख्याय चैव योगाय भूतग्रामाय वै नमः ॥
" ६९ कपर्दिने करालाय शकराय कपालिने ।
विरूपायैकरूपाय शिवाय वरदाय च ॥
" ७३ व्यक्ताय चैवाव्यक्ताय व्यक्ताव्यक्ताय वै नमः ।
" ७४ भक्तानामार्तिनाशाय नरनारायणाय च ॥
" ७६ नमः कपालहस्ताय दिग्वासाय शिखण्डिने ॥
" ८७ भवानग्र्यस्य भोक्ता वै भवाश्चैव वर· प्रभुः ।
" ८८ त्वामृतेऽन्यो महादेव विषं सोढु न शक्यते ॥
" ९० कण्ठः समभवत् तूर्ण कृष्णो मे वरवर्णिनि ।
" ९८ त्वमेव विष्णुश्चतुराननस्त्व, त्वमेव मृत्युर्वरदस्त्वमेव ॥
" १०० त्वमेव सर्वस्य चराचरस्य लोकस्य कर्ता प्रलये च गोप्ता ॥

शिव की सर्वश्रेष्ठता

५५ १० येन हि ब्रह्मणा सार्धं सृष्टा लोकाश्च मायया ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

" १७ उत्तरा दिशमास्थाय ज्वालादृष्टाप्यधिष्ठिता ॥
" २० तस्य ज्वालस्य मध्ये तु पश्यावो विपुलप्रभम् ॥
" २१ प्रादेशमात्रमव्यक्तं लिंगं परमदीपितम् ।
" २३ अस्य लिंगस्य योऽन्त वै गच्छेते मन्त्रकारणम् ।
घोररूपिणमत्यर्थ भिन्दतन्निव रोदसी ।

अध्या०	श्लो०	
५५	३२	परमेष्ठी पर ब्रह्म अक्षर परम पदम् । श्रेष्ठत्व वामदेवश्च रुद्रः स्कन्दः शिवः प्रभुः ॥
,,	३५	भूमेर्गन्धो रसश्चापा तेजोरूप महेश्वर ॥
,,	३७	त्व कर्ता सर्वभूताना कालो मृत्युर्यमोऽन्तक. ॥
,,	५५	व्यालयज्ञोपवीती च सुराणामभयकर. ॥

एकेश्वर शिव

६६	१०८	एक स्वयंभुव. कालस्त्रिभिस्त्रीन् करोति यः ॥ सृजते चानुगृह्णाति प्रजाः सहरते तथा ॥
,,	११०	एका तनू स्मृता वेदे धर्मशास्त्रे पुरातने । साख्ययोगपरैर्वीरै. पृथगेवैकदर्शिभि ॥
,,	१११	एकत्वे च पृथक्त्वे च तासु भिन्न प्रजास्विह । इद पर इदं नेति ब्रुवन्तो भिन्नदर्शना. ।
,,	११२	ब्रह्माण कारणं केचित् केचित् प्राहु. प्रजापतिम् । केचिच्छिव परत्वेन प्राहुर्विष्णु तथापरे । अविज्ञानेन ससक्ता सक्ता रत्यादिचेतसा ॥
,,	११६	एकात्मा स त्रिधा भूत्वा सम्मोहयति य. प्रजा. । एतेपां तु त्रयाणां तु विचरन्त्यन्तर जना. ॥

स्कन्दजन्म की कथा

७२	२०	अन्योन्यप्रीतिरनयोरुमाशकरयोरथ ॥
,,	२१	श्लेपससक्तयोर्ज्ञात्वा शंकित. किल वृत्रहा । ताभ्या मैथुनसक्ताभ्याम् अपत्योद्भवभीरुणा । तयोः सकाशमिन्द्रेण प्रेषितो हव्यवाहन ॥
,,	२३	उमादेह समुत्सृज्य शुक्र भूमौ विसर्जितम् ।
,,	२४	ततो रुपितया देव्या शप्तोऽग्निः शांशपायन' ॥
,,	२५	यस्मान् मय्यवितृप्ताया रतिविघ्न हुताशन । कृतवान् अस्य कर्त्तव्य तस्मात्त्वमसि दुर्मति. ॥
,,	२६	गर्भं त्व धारय त्वेवमेषा ते दण्डधारणा ॥

शिवस्तुति

६७	१६६	गिरीशायार्कनेत्राय यतिने जाम्बवाय च ।
,,	१६८	स्रष्ट्रे धर्त्रे तथा होत्रे हर्त्रे च क्षपणाय च ॥
,,	२०१	नित्याय चार्थलिंगाय सूक्ष्माय चेतनाय च ।

शिवभक्तों का स्वरूप

अध्या०	श्लो०	
१०१	३११	ह्रीमन्त: सुरजिताः दान्ता शौर्ययुक्ता ह्यलोलुपाः । मध्याहाराश्च मात्राश्च आत्मारामजितेन्द्रियाः ॥
,,	३१२	जितद्वन्द्वा महोत्साहाः सौम्या विगतमत्सराः ॥
,,	३१३	कर्मणा मनसा वाचा विशुद्धे नान्तरात्मना । अनन्यमनसो भूत्वा प्रपन्ना ये महेश्वरम् ॥

भस्मनाथ शिव

११२	५३	भस्मकूटे भस्मनाथ नत्वा च तारयेत् पितॄन् । त्यक्तपापो भवेन्मुक्तः सगमे स्नानमाचरेत् ॥

विष्णु पुराण

विष्णु और शिव का तादात्म्य

भाग	अध्या०	श्लो०	
१	८	२१	शकरो भगवान् शौरिर्भूतिर्गौरी द्विजोत्तम ॥
,,	६	६८	नमो नमो विशेपस्त्व त्व ब्रह्मा त्व पिनाकधृक् ॥

सोम और तारा की कथा

४	६	५—१३	अत्रेःसोम. स च राजसूयमकरोत् । तत्प्रभावात् ...चैन मद आविवेश । मदावलेपाच्च..... सकलदेवगुरोर्बृहस्पतेस्तारा नाम पत्नी जहार .... अंगिरसश्च सकाशादुपलब्धविद्यो भगवान् रुद्रो बृहस्पते: साहाय्यम् अकरोत् .. ततश्च भगवान् अप्युशनसं शकरमसुरान् देवांश्च निवार्य बृहस्पतेस्तारामदात् ।

उपा और अनिरुद्ध की कथा

५	३३	२२	हरिशकरयोर्युद्धमतीवासीत् सुदारुणम् ॥
,,	,,	२५	जृम्भाभिभूतश्च हरो रथोपस्थ उपाविशत् । न शशाक तथा योद्धु कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ॥
,,	,,	४०	स उपेत्याह गोविन्द सामपूर्वमुमापति ॥
,,	,,	४१	कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ जाने त्वा पुरुषोत्तमम् । परेश परमानन्दमनादिनिधन परम् ॥
,,	,,	४४	मया दत्तवरो दैत्यस्ततस्त्वा क्षामयाम्यहम् ॥
,,	,,	४६	युष्मद्दत्तवरो बाणो जीवतामेष शकर । त्वद्वाक्यगौरवाद् एतन्मया चक्रं निवर्तितम् ॥

भाग	अध्या०	श्लो०	
५	३३	४७	मत्तोऽविभिन्नमात्मान द्रष्टुमर्हसि शकर ॥
,,	,,	४८	योऽह स त्व जगच्चेद सदेवासुरमानुपम् ।
			अविद्यामोहितात्मान॰ पुरुपा भिन्नदर्शिनः ॥

सौर पुराण

शिव का उत्सर्ग

अध्या०	श्लो०	
२	२	विश्व तेनाखिल व्याप्त नान्येनेत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥
,,	४	एकोऽपि वहुधा भाति लीलया केवलः शिवः ।
		ब्रह्माविष्ण्वादिरूपेण देवदेवो महेश्वर ।
,,	६	आत्मभूतान्महादेवाल्लीलाविग्रहरूपिण ।
		आदिसर्गे समुद्भूतौ ब्रह्मविष्णू सुरोत्तमौ ॥
,,	६	मुमुक्षुभि॰ सदा ध्येय॰ शिव एको निरजनः ॥
,,	१२	तस्मिन् ज्ञातेऽखिल ज्ञातमित्याहुर्वेदवादिन ॥
,,	१४	न दानैर्न तपोभिर्वा नाश्वमेधादिभिर्मखैः ।
		भक्त्यैवानन्यया राजन् ज्ञायथे भगवान् शिव॰ ॥
,,	१६	तस्य ज्ञानमयी शक्तिरव्यया गिरिजा शिवा ।
		तया सह महादेव सृजत्यवति हन्ति च ॥
२	१७	आचक्षते तयोर्भेदमज्ञा न परमार्थत ।
		अभेद शिवयो सिद्धो वह्निदाहकयोरिव ॥
,,	१८	माया सा परमा शक्तिस्तरा गिरिजाव्यया ।
		मायात्रिश्वात्मको रुद्रस्तज्ज्ञात्वा ह्यमृती भवेत् ॥
,,	१६	स्वात्मन्यवस्थित देव विश्वव्यापिनमीश्वरम् ।
		भक्त्या परमया राजन् ज्ञात्वा पाशैर्विमुच्यते ॥
,,	२८	असृजद् योगिना ध्येयो निर्गुणस्तु स्वयं शिव॰ ॥
,,	३१	य प्रपश्यन्ति विद्वासो योगिन॰ क्षपिताशयाः ।
		नियम्य करणग्राम स एवात्मा महेश्वरः ॥
,,	४२	वालाग्रमात्र हृत्पद्मे स्थित देवमुमापतिम् ।
		येऽनुपश्यन्ति विद्वास तेपा शान्तिर्हि शाश्वती ॥
३	८	तत्राक्षय परो धर्म शिवधर्म सनातन॰ ॥
,,	११	कुर्वन्नपि सदा पापं सकृद्देवार्चयेच्छिवम् ।
		लिप्यते न स पापेन याति माहेश्वरं पदम् ॥

दक्षयज्ञ-विध्वंस

अध्या०	श्लो०	
७	१०	वैरं निधाय मनसि शम्भुना सह सुव्रताः ।
		दक्षः प्राचेतसो यज्ञमकरोज् जाह्नवीतटे ॥
,,	१२	देवान् सर्वांश्च भागार्थमाहूतान् पद्मसभवः ।
,,	१३	दृष्ट्वा शिवेन रहितान् दक्षं प्रत्येवमब्रवीत् ।
		अहो दक्ष महामूढ दुर्बुद्धे किं कृत त्वया ।
		देवाः सर्वे समाहूताः शकरेण विना कथम् ।
,,	१७	यस्य पादरजःस्पर्शाद् ब्रह्मत्व प्राप्तवान् अहम् ।
		शार्ङ्गिणापि सदा मूर्ध्ना धार्यते कः शिवात्परः ॥
,,	१८	यस्य वामाङ्गजो विष्णुर्दक्षिणाङ्गाद् भवाम्यहम् ।
		यस्याज्ञयाखिल विश्व सूर्यो भ्रमति सर्वदा ॥
,,	२०	सा च शक्तिः परा गौरी स्वेच्छाविग्रहचारिणी ॥
,,	२१	कस्ता जानाति विश्वेशीमीश्वरार्धशरीरिणीम् ।
		अहं नाद्यापि जानामि चक्री शक्रस्य का कथा ॥
,,	३०	एक एवेति यो रुद्रो सर्ववेदेषु गीयते ।
		तस्य प्रसादलेशेन मुक्तिर्भवति किंकरी ॥ .....
,,	३४	नाहं नारायणाद् देवात् पश्याम्यन्य द्विजोत्तम ।
		कारण सर्ववस्तूना नास्तीत्येव सुनिश्चितम् ॥

भक्ति पर जोर

११	५	मद्भक्तः सर्वदा स्कन्द मत्प्रियो न गुणाधिकः ।
		सर्वाशी सर्वभक्षी वा सर्वाचारविलोपकः ॥
,,	६	मत्परो वाङ्मनःकायैर्मुक्त एव न संशयः ।
,,	७	तुष्टोऽहं भक्तिलेशेन क्षिप्रं यच्छे परम पदम् ॥
,,	९	वैष्णवाना सहस्रेभ्यो शिवभक्तो विशिष्यते ॥
,,	२२	भक्तिगम्यस्त्वहं वत्स मम योगो हि दुर्लभः ॥
,,	३०	अहमात्मा विभुः शुद्धः स्फटिकोपलसन्निभः ।
		उपाधिरहितः शान्तः स्वयं ज्योतिः प्रकाशकः ॥

माहेश्वर योग

१२	१	मय्येकचित्तता योग इति पूर्वं निरूपितम् ।
		साधनान्यष्टधा तस्य प्रवक्ष्याम्यधुना शृणु ॥

[यह साधन हैं:—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि और ध्यान] ।

अनंगत्रयोदशी व्रत

अध्या०	श्लो०	
१६	३	पुरा देवेन रुद्रेण दग्ध· कामो दुरासदः । उपोपिता तिथिस्तेन तेनानगत्रयोदशी ॥

त्रिमूर्ति की एकता

२३	५३	त्रिधा भिन्नोऽस्म्यहं ब्रह्मन् ब्रह्म-विष्णु-हराख्यया । सर्गरक्षालयगुणैर्निर्गुणोऽहं न सशयः ॥

भक्ति द्वारा शिवदर्शन

२४	४३	तदीय त्रिविध रूप स्थूल सूक्ष्ममत.परम् । अस्मदाद्यै· सुरैर्दृश्य स्थूल सूक्ष्म तु योगिभि· ॥
,,	४४	तत· परं तु यन्नित्य ज्ञानमानन्दमव्ययम् । तन्निष्ठैस्तत्परैर्भक्तैर्दृश्यते व्रतमास्थितैः ॥

शिव और विष्णु का ऐक्य

,,	६८	नावाम्या विद्यते भेदो मच्छक्तिस्त्व न सशयः ॥

परमेश्वर शिव

२६	३१	त्वामेकमाहु· पुरुष पुराणम् आदित्यवर्णं तमस परस्तात् ।
,,	३२	त्वमात्मतत्व परमार्थशब्द भवन्तमाहु शिवमेव केचित् ॥
,,	३५	वेदान्तगुह्योपनिषत्सु गीत , सदाशिवस्त्व परमेश्वरोऽसि ॥

शिवभक्त दानव

३४	२६	हन्तव्यास्ते कथ दैत्या महादेवपरायणा ॥
,,	२७	त्रैलोक्यमपि यो हत्वा महादेवपरायण ॥
,,	२८	कस्त निहन्ता त्रैलोक्ये विना शम्भोरनुग्रहात् ॥

शिवद्वारा गणेशपूजा

३५	१९	स्वकार्याविघ्नकर्तार देव दृष्ट्वा विनायकम् । सपूज्य भक्ष्यभोज्यैश्च फलैश्च विविधैः शुभै ॥
,,	२०	उण्डेरैर्मोदकैश्चैव पुष्पैर्दीपैर्मनोहरै· । एव सपूज्य भगवान् पुर दग्धु जगाम ह ॥

उपमन्यु की कथा

३६	२३	भक्ति शूलिन्यहं याचे शिवादेव न चान्यथा ॥ अलमन्यैर्वरै शक्र तरङ्गैरिव चचलै ॥

अध्या०	श्लो०	
३६	२६	किं तेन पार्वतीशेन निर्गुणेन महात्मना । क्रियते मुनिशार्दूल तस्मान्मत्तो वरं शृणु ॥……
,,	३३	शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयित्वा प्रयत्नतः । हत्वात्मानं पुनर्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥

शिव का उत्कर्ष

३८	१	चतुर्ष्वपि च वेदेषु पुराणेषु च सर्वशः । श्रीमहेशात्परो देवो न समानोऽस्ति कश्चन ॥
,,	६	केचिल्लोका महेशानं त्यक्त्वा केशवकिंकराः । तत्र किं कारणं सूत वद संशयनाशक ॥
,,	७	अन्तकाले स्मरन्त्येव प्रायेण गरुडध्वजम् । विद्यमाने शिवे विष्णोः प्रभौ श्रीपार्वतीपतौ ॥
,,	८	यदा यदा प्रसन्नोऽभूद् भक्तिभावेन धूर्जटिः । विष्णुर्नाराधितो भक्त्या तदासौ दत्तवान् वरान् ॥
,,	१०	हेतुना तेन विप्रेन्द्राः शिवं जानन्ति केचन । प्रायेण विष्णुनामानि गृह्णन्ति वरदानतः ॥
,,	११	विष्णोः स्मरणमात्रेण सर्वपापक्षयो भवेत् । शंभुप्रसाद एवैष नात्र कार्या विचारणा ॥……
,,	१६	जन्मादिकारणं शंभुं विष्णुं ब्रह्मादिपूर्वजम् । न जानन्ति महामूर्खा विष्णुमायाविमोहिताः ॥
३८	५४	न चार्वाको न वै बौद्धो न जैनो यवनोऽपि वा । कापालिको कौलिको वा तस्मिन् राज्ये विशेत् क्वचित् ॥
,,	६३	शिवद्वेष्टा महापापप्रेरकः शिवनिन्दकः ।
,,	६४	दम्भेन यदि तद्राज्ये शिवनिन्दा कृता भवेत् । तदा तत्पूर्वजाः सर्वे नरकं यान्ति दारुणम् ॥
,	६६	कश्चाण्डालं शिवं ब्रूयात् साधारण्येन विष्णुना । यस्य प्रसादाद् वैकुण्ठः प्राप्तवान् ईदृशं पदम् ॥…
,,	८४	राजन् वेदार्थविज्ञाने बहवो मोहिता जनाः ॥ शिवपूजारताः सन्तो नानादैवतपूजकाः ॥
,,	८५	एको विष्णुर्न द्वितीयो ध्येयः किन्त्वितरैः सुरैः । क्रूरं च क्रूरकर्माणं शंकरं मन्यते कथम् ॥………
,,	६०	अनादिना प्रमाणेन वेदेन प्रोच्यते शिवः । विष्णोरप्यधिको विप्रः सपूज्यो न कथं भवेत् ॥

अध्या०	श्लो०	
३८	६१	शिवादिषु पुराणेषु प्रोच्यते शंकरो महान् । सर्वासु स्मृतिषु ब्रह्मन् शिवाचारेषु सर्वतः ॥
,,	६३	नैकाग्रमनसस्ते तु येऽर्चयन्तीह धूर्जटिम् । श्मशानवासी दिग्वासा ब्रह्ममस्तकधृग् भवः ॥
,,	६४	सर्पहारः कथं सेव्यः विषधारी जटाधरः ॥ तस्माद्विष्णुः सदा सेव्यः सुन्दरः कमलापतिः ॥

विष्णुद्वारा शिव-प्रशंसा

३९	१४	मत्स्वामिनोऽवगणना न हि शक्यते मे, कृत्वापि पूज्यतममूर्तिमिमं गिरीशम् । नो मन्यते तदिह वज्रसम ममैव ॥
,,	१६	अस्ति सर्वं वरारोहे मयि तत्तथ्यमेवहि । श्रीमन्महेश्वराल्लब्ध मदीयं न हि किंचन ॥
,,	१८	वेदवेदांगवेतॄणां सहस्राण्यग्रजन्मनाम् । हननान्मुच्यते जीवो न तु श्रीशिवहेलनात् ॥
,,	२२	स्वामी मदीयः श्रीकण्ठस्तस्य दासोऽस्मि सर्वदा ॥

शिव और विष्णु का तादात्म्य

४०	१	सूत भद्र समाचक्ष्व सेवको यस्य माधवः । श्रीमहेशस्य विष्णोश्च तुल्यत्व ब्रुवते कथम् ।
,,	२	ब्रुवन्ति तुल्यतां केचित् वैपरीत्येन केचन । एकत्व केचिदीशेन केशवस्य वदन्ति हि ॥
,,	३	अत्र सिद्धान्तमर्यादां ब्रूहि तत्त्वेन सूतज ॥
,,	६	अद्वैत शिवमीशानमज्ञात्वा नैव मुच्यते ॥

शिवभक्तों की अल्पसंख्या

,,	१०	घोरे कलियुगे प्राप्ते श्रीशंकरपराङ्मुखाः । भविष्यन्ति नरास्तथ्यमिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥

शिव का उत्कर्ष

,,	१६	न्यूनता तस्य यो ब्रूते कर्मचाण्डाल उच्यते ।
,,	१७	तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते । षष्ठिवर्षसहस्राणि विष्ठाया जायते कृमि ॥

विष्णु द्वारा शिवलिंग की पूजा

अध्या०	श्लो०	
४१	९	लिंग तत्र प्रतिष्ठाप्य स्नाप्य गन्धोदकैः शुभैः ॥
„	१०	त्वरिताख्येन रुद्रेण सपूज्य च महेश्वरम् । ततो नाम्ना सहस्रेण तुष्टाव परमेश्वरम् ॥

शिव की उपाधियाँ

„	१५	वेदान्तसारसदोहः ···
„	१६	अष्टमूर्ति···विश्वमूर्तिः···
„	२०	नागचूडः·· दुर्वासाः
„	२३	विशालाक्षो महाव्याधः ·
„	२८	महर्षिकपिलाचार्यः
„	३०	शिवो भिषगनुत्तमम् ।
„	३८	पचविंशतितत्त्वस्थः ·····
„	४०	क्षपणः क्षामः·· ···
„	४३	उन्मत्तवेशः प्रच्छन्नः ···
„	४६	भक्तिगम्यः परंब्रह्म ····
„	५३	निशाचरः प्रेतचारी ·····
„	५५	नर्तकः सर्वनायकः ·····
„	६४	चामुण्डी जनकश्चारुः······
„	१०६	नग्नो नग्नव्रतधरः······
„	१०७	लिंगाध्यक्षः सुराध्यक्षः
„	११०	विष्णुकन्धरपातन······

लिंग का उत्कर्ष

४२	४१	आदिमध्यान्तरहितं भेषज भवरोगिणाम् ।
„	४२	प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेल्लिगमूर्धनि ॥

उमामहेश्वरव्रत

४३		[लिंगपुराण अध्याय ८४ के समान ही ।]

देवी का वर्णन

४९	५	नानारूपधरा सैवमवतीर्यैव पार्वती । धर्मसस्थापनार्थाय निघ्नती दैत्यदानवान् ॥
„	६	परमात्मा यथा रुद्र एकोऽपि बहुधा स्थितः । प्रयोजनवशाद् देवी सैकापि बहुधा भवेत् ॥······

अध्या०	श्लो०	
,,	६३	वभूवाद्भुतरूपा सा त्रिनेत्रा चन्द्रशेखरा ॥
,,	६४	सिंहारूढा महादेवी नानाशस्त्रास्त्रधारिणी । सुवक्त्रा विंशतिभुजा स्फूर्जद्विद्युल्लतोपमा ॥

उल्कानवमी को देवी की पूजा

५०	३०	पुष्पैर्धूपैश्च नैवेद्यैः पयोदधिफलादिभि ॥ भक्त्या संपूजयित्वैव स्तुत्वा संप्रार्थयेत् ततः ॥
,,	३६	अनेन विधिना वर्षं मासि मासि समाचरेत् ॥
,,	३७	ततः सवत्सरस्यान्ते भोजयित्वा कुमारिका. । वस्त्रैराभरणै पूज्या प्रणिपत्य विसर्जयेत् ॥
,,	३८	सरुक्मशृङ्गा गा दद्यात् सुविप्राय सुशोभनाम् ।
,,	७१	गोब्राह्मणार्चनपराश्च रता स्वधर्मे ये मद्यमासविमुखा' शुचयश्च शैवा. । सत्यप्रिया. सकलभूतहिते रताश्च तेषां च तुष्यति सदा सुमतेमृडानी ॥

शिव का दार्शनिक रूप

५४	१४	यदक्षर निर्गुणमप्रमेय, यज्ज्योतिरेक प्रवदन्ति सन्तः । दूरगम देवमनन्तमूर्ति नमामि सूक्ष्म परम पवित्रम् ॥

शिव और पार्वती का ऐक्य

५५	६	भेदोऽस्ति तत्त्वतो राजन् न मे देवान्महेश्वरात् । सिद्धमेवावयोरैक्य वेदान्तार्थविचारणात् ॥
,,	८	अह सर्वान्तरा शक्तिर्माया मायी महेश्वर. । अहमेका पराशक्तिरेक एव महेश्वर ॥

शिवोपासना का पुण्य

६८	३०	नास्ति लिंगार्चनात् पुण्यमधिक भुवनत्रये ।
,,	३१	लिंगेऽर्चितेऽखिल विश्वमर्चित स्यान्न सशय । मायया मोहितात्मानो न जानन्ति महेश्वरम् ॥
,,	३८	पृथिव्या यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ॥
,,	३५	शिवलिंगे वसन्त्येव तानि सर्वाणि नारद ॥
,,	४८	शिवभक्तान् वर्जयित्वा सर्वेषां शासको यम ।

लिंगोत्पत्ति

अध्या०	श्लो०	
६६	१६	एकार्णवे पुरा घोरे नष्टे स्थावरजंगमे ।
		मम विष्णोः प्रबोधार्थमाविर्भूत शिवात्मकम् ॥
,,	२०	ततःप्रभृत्यह विष्णुर्भक्त्या परमया मुदा ।
		लिंगमूर्तिधर शान्त पूजयावो वृषध्वजम् ॥
,,	२४	कुरु युद्ध मया सार्द्धमहमेव जगत्पतिः ।
		अथवा भज मा देव त्रैलोक्यस्याभयप्रदम् ॥
,,	२७	प्रादुर्भूत तदा लिंगमावयोर्दर्पहारि तत् ।
,,	२६	तस्मिन् लिंगे महादेवः स्वय ज्योतिः सनातनः ।
		सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
,,	३०	अर्धनारीश्वरोऽनन्तस्तेजोराशिर्दुरासदः ॥

ऋषिपत्नियों की कथा

६६	३४	अन्यद् दारुवन पुण्यं शंकरस्यादिवल्लभम् ।
		गिरिजापतिना यत्र मोहिता मुनिपत्नयः ॥
,,	५०	मुनिस्त्रिय शिव दृष्ट्वा मदनानलदीपिता. ॥
,,	५१	त्यक्तलज्जा विवस्त्राश्च ययुस्ता अनुशंकरम् ॥
		स्त्रीरूपधारिण विष्णु सर्वे मुनिकुमारकाः ॥
,,	५२	अन्वगच्छन्त देवर्षे कामबाणप्रपीडिताः ।
		तदद्भुत तदा ज्ञात्वा कुपिता मुनयस्तदा ।
,,	५३	लिंगहीन हर कृत्वा गोपवेशधर हरिम् ।
		तदाप्रभृति विपेन्द्र शिवामेखलसज्ञिता ॥
,,	५४	उभयोश्चैव सयोग सर्वपापहर शिव. ॥

तंत्र ग्रन्थ

कालीतंत्र

देवी का स्वरूप

अध्या०	खण्ड	श्लो०	
१	३	१	करालवदना घोरा मुक्तकेशी चतुर्भुजाम् ।
			कालिका दक्षिणा दिव्या मुण्डमालाविभूषिताम् ॥
,,	,,	२	सद्यश्छिन्नशिर खड्गवामाधोर्ध्वकराम्बुजाम् ।
			अभयं वरदं चैव दक्षिणोर्ध्वाधःपाणिकाम् ॥
,,	,,	३	महामेघप्रभा श्यामा तथा चैव दिगम्बरीम् ।
			कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम् ॥

अध्या०	खण्ड	श्लो०	
१	३	४	घोररावा महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम्। वालार्कमण्डलाकारलोचनतृतीयान्विताम्॥
,,	,,	५	शवरूपमहादेव हृदयोपरि संस्थिताम्। शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम्॥
,,	,,	६	महाकालेन च समा विपरीतरतातुराम्। सुखप्रसन्नवदना स्मेराननसरोरुहाम्॥
,,	,,	७	एव सचिन्तयेत्कालीं सर्वकामसमृद्धिदाम्॥

देवी-पूजन विधि

,,	,,	१५	समन्तादापीनस्तनजघनधृग्यौवनवती रतासक्तो नक्त यदि जपति भक्तस्तवमनुम्। विवासास्त्वा ध्यायन् गलितचिकुरस्तस्य वशग समस्ता सिद्धोका भुवि चिरतर जीवति कवि॥

महामाता देवी

,,	,,	१७	प्रसूते ससारे जननि जगतीं पालयति च समस्त क्षित्यादि प्रलयसमये सहरति च। अतस्त्वा धातापि त्रिभुवनपति श्रीपतिरपि महेशोऽपि प्राय सकलमपि किं स्तौमि भवतीम्॥

देवी के विविध रूप

तारा

३	२		प्रत्यालीढपदा घोरा मुण्डमालाविभूपिताम्। वालार्कमण्डलाकारलोचनत्रयभूपिताम्॥ ज्वलच्चितामध्यगता घोरदंष्ट्राकरालिनीम्॥

महाविद्या

चतुर्भुजा महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्।
महाभीमा करालास्या सिद्धविद्याधरैर्युताम्॥
मुण्डमालावलीकीर्णा मुक्तकेशीं स्मिताननाम्।
एवं ध्यायेन् महादेवीं सर्वकामार्थसिद्धये॥

देवी द्वारा शिव और विष्णु का सृजन

	७	२	आद्यामशेपजननीमरविन्दयोने- र्विष्णो शिवस्य च वपु प्रतिपादयित्री। सृष्टिस्थितिक्षयकरीं जगता त्रयाणाम्। स्तुत्वा गिर निमलयाम्यहमम्बिके त्वाम्॥

अध्या०	श्लो०	

कौल सिद्धान्तों का गुप्त रखा जाना

३ वेदशास्त्रपुराणानि प्रकाश्यानि कुलेश्वरि ॥
,, रहस्यातिरहस्यानि कुलशास्त्राणि पार्वति ॥

मदिरा की प्रशंसा

५ सुरादर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
तद्गन्धघ्राणमात्रेण शतक्रतुफलं लभेत् ।
तस्य सदर्शमात्रेण तीर्थकोटिफल लभेत् ।
देवि । तत्पानत साक्षाल्लभेन्मुक्ति चतुर्विधाम् ॥
यथा क्रतुषु विप्राणा सोमपानं विधीयते ।
मद्यपान तथा कार्यं समग्राभोगमोक्षदम् ॥

प्रमत्तावस्था द्वारा मोक्षप्राप्तिः

७ यावन्नेन्द्रियवैकल्य यावन्नोन्मुखविक्रिया ।
तावद्य॰ पिवते मद्य स मुक्तो नात्र सशयः ।
पीत्वा पीत्वा पुन॰ पीत्वा यावत् पतति भूतले ।
उत्थाय च पुन पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥
आनन्दात् तृप्यते देवी मूर्छनाद् भैरव स्वयम् ।
वमनात् सर्वदेवाश्च तस्मात् त्रिविधमाचरेत् ॥

कौल सस्कारों मे प्रमत्त विलास

८ चक्रेऽस्मिन् योगिनो वीरा योगिन्यो मदमन्थरा ।
समाचरन्ति देवेशि । यथोल्लास मनोगतम् ।
शनैं पृच्छति पार्श्वस्था विस्मृत्यात्मविचेष्टितम् ।
विधाय वदने पात्र निर्विण्णानि वसन्ति च ॥
यदन्यं पुरुष मोहात् कान्तान्यमवलक्षते ॥
पुरुष पुरुष मोहादालिंगत्यङ्गनाङ्गनाम् ।
पृच्छति स्वपतिं मुग्धा कस्त्व काहम् इमे च के ॥
तेभ्यो द्रोह न कुर्वीत नाहित च समाचरेत् ।
भक्त्या सग्राहयेत् तच्च गोपयेन् मातृजारवत् ।
चक्रे मदाकुलान् दृष्ट्वा चिन्तयेद् देवताधिया ॥
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय ।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा पृथक्पृथक् ॥

मैथुन का महत्त्व

अध्या० श्लो०

मदकुम्भसहस्रैस्तु मासभारशतैरपि ।
८ न तुष्यामि वरारोहे । भगलिंगामृतं विना ॥
न चक्राक न पद्माक न वज्राकम् इद जगत् ।
लिंगाकं च भगाक च तस्माच्छक्तिशिवात्मकम् ॥

कौलों की भोगवृत्ति

९ यावदासवगन्धः स्यात् पशु॰ पशुपति॰ स्वयम् ।
विनालिमासगन्धेन साक्षात् पशुपतिः पशुः ॥
अनाचार॰ सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमेव च ।
असत्यमपि सत्य स्यात् कौलिकाना कुलेश्वरि ॥

कौलोपनिषत्

तान्त्रिक सिद्धान्तों को गुप्त रखने का आदेश

प्रकट्या न कुर्यात् · ····आत्मरहस्य न वदेत् । शिष्याय वदेत् ।
अन्त॰शाक्ता वहि॰शैवा लोके वैष्णवा अयमेवाचारः······ ।

तन्त्रराजतन्त्र

तांत्रिक सिद्धान्तों को गुप्त रखने का आदेश

१ ४ गोप्य सर्वप्रयत्नेन गोपन तन्त्रचोदितम् ॥

देवीपूजा का वेतालादि से सम्बन्ध

६ ६४ निर्जने विपिने रात्रौ मास त्रय तु निर्भय॰ ।
यजेद्देवीं चक्रगता सिद्धद्रव्यसमन्विताम् ॥
,, ६५ तेन सिध्यन्ति वेतालास्तानारुह्य स्वेच्छया चरेत् ।
,, ६६ श्मशाने चण्डिकागृहे निर्जने विपिनेऽपि वा ।
मध्यरात्रे यजेद्देवीं कृष्णवस्त्रादिभूषण ॥

तंत्राभिधान तन्त्र

शिवलिंग का उत्कर्ष

३२ एतत्पद्मान्तराले निवसति च मन सूक्ष्मरूप प्रसिद्धम् ,
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदा लिंगचिह्नप्रकाशाम् ।
विद्युन्मालाविलासा परमकुलपदा ब्रह्मसूत्रप्रबोधाम् ,
वेदानाम् आदिवीज स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत्क्रमेण ॥

प्रपंचसार तन्त्र

पटल	श्लो०	तन्त्रों की दैवी उत्पत्ति
१	२१	वैदिकाँस्तान्त्रिकाँश्चापि सर्वानित्थमुवाच ह ।

देवी का उत्कर्ष

,,	२६	प्रधानमिति यामाहुर्या शक्तिरिति कथ्यते । या युष्मान् अपि मा नित्य अवष्टभ्याऽतिवर्त्तते ॥

त्रिपुरा देवी

६	८	आताम्रार्कायुताभा कलितशशिकलारजितसा त्रिनेत्रा, देवी पूर्णेन्दुवक्त्रा विधृतजपवटीपुस्तकाभीत्यमीष्टाम् । पीनोत्तु गस्तनार्ता वलिलसितविलग्नामसृकूपकराज— मुण्डसृड्मुण्डिताङ्गीमरुणतरदूकूलानुलेपा नमामि ॥

देवी और शक्तियाँ

४	७	प्रभा माया जया सूक्ष्मा विशुद्धा नन्दिनी तथा । सुप्रभा विजया सर्वसिद्धिदा नवमी तथा ॥

गणेश और शक्तियों का साहचर्य

१७	२२	तीव्रा ज्वालिनी नन्दा सभोगदा कामरूपिणी चोग्रा । तेजोवती च सत्या संप्रोक्ता विघ्ननाशिनी नवमी ॥

महानिर्वाण तन्त्र

उल्लास	श्लो०	कलियुग मे तन्त्र का प्रचार
२	६	मेध्यामेध्यविचाराणा न शुद्धि श्रौतकर्मणा । न सहिताद्यै. स्मृतिभिरिष्टसिद्धिर्नृणा भवेत् ॥
,,	७	सत्य सत्य पुन सत्य सत्य सत्य मयोच्यते । विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गति प्रिये ॥

शिव का उत्कर्ष

,,	१०	सर्ववेंदै पुराणैश्च स्मृतिभि सहितादिभि । प्रतिपाद्योऽस्मि नान्योऽस्ति प्रभुर्जगति मा विना ॥

शाक्तों के विभिन्न सम्प्रदाय

,,	२४	शाक्ता शैवा वैष्णवाश्च सौरगाणपतादय. ॥

अध्या०	श्लो०	
		तंत्रों का अग्राह्मण स्वरूप
३	१५	न तिथिर्न च नक्षत्र न राशिगणनं तथा । कुलाकुलादिनियमो न सस्कारोऽत्र विद्यते ॥ सर्वथा सिद्धमन्त्रोऽय नात्र कार्या विचारणा ।
		देवी का उत्कर्ष
४	१०	त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मण· परमात्मन· । त्वत्तो जात जगत्सर्व त्व जगज्जननी शिवे ॥
		कौल-सस्कारों को प्रकट रूप से करने का विधान
,,	७६	गोपनाद्धीयते सत्य न गुप्तिरनृत विना । तस्मात् प्रकाशन कुर्यात् कौलिक· कुलसाधनम् ॥
		कौल-संस्कारों मे गणेश-पूजा
५	७५	गणेश क्षेत्रपाल च वटुक योगिना तथा । गङ्गा च यमुना चैव लक्ष्मी वाणी ततो यजेत् ॥
		मदिरा को दिव्यपद देना
,,	२०२	सुधादेव्यै वौषडन्तो मनुरस्याः प्रपूजने ।
,,	२०६	मूलेन देवताबुद्ध्या दत्वा पुष्पाजलिं ततः । दर्शयेद् धूपदीपौ च घण्टावादनपूर्वकम् ॥
		मांस की परिशुद्धि
,,	२०६	मासमानीय पुरतस्त्रिकोणमण्डलोपरि । फटाभुज्यवायुवह्निबीजाभ्या मन्त्रयेत् त्रिधा ।
		अपरिशुद्ध सुरापान से पाप
६	१३	शुद्धिं विना मद्यपान केवलं विषभक्षणम् ।
		मैथुन केवल स्वभार्या से
,,	१४	शेषतत्त्वं महेशानि निर्वीजे प्रबले कलौ । स्वकीया केवला ज्ञेया सर्वदोषविवर्जिता ॥
		कौल-संस्कारों में मितपान
,,	१९५	यावन्न चालयेद् दृष्टि यावन्न चालयेन्मन· । तावत् पानं प्रकुर्वीत पशुपानमत·परम् ॥

अध्या०	श्लो०	
		कौल-संस्कारों में पचतत्त्व का अर्थ
७	१०४	महौपध यज्जीवाना दु खविस्मारक महत् । आनन्दजनक यच्च तदाद्यातत्त्वलक्षणम् ॥
,,	१०५	ग्राम्यवायव्यवन्यानाम् उद्भूत पुष्टिवर्धनम् । बुद्धितेजो वलकर द्वितीय तत्त्वलक्षणम् ॥
,,	१०६	जलोद्भव यत्कल्याणि कमनीय सुखप्रदम् । प्रजावृद्धिकर चापि तृतीयं तत्त्वलक्षणम् ॥
,,	१०७	सुलभ भूमिजात च जीविना जीवन च यत् । आयुर्मूल त्रिजगता चतुर्थं तत्त्वलक्षणम् ॥
,,	१०८	महानन्दकर देवि प्राणिना सृष्टिकारणम् । अनाद्यन्तजगन्मूल शेपतत्त्वस्य लक्षणम् ॥
		परिशुद्धिकृत भैरवीचक्र
८	१५४	भैरवीचक्रविपये न तादृङ् नियम॰ प्रिये । यथासमयमासाद्य कुर्याच्चक्रमिद शुभम् ॥
,,	१७२	स्वभावात् कलिजन्मानः कामविभ्रान्तचेतस । तद्रूपेण न जानन्ति शक्तिं सामान्यबुद्धय॰ ॥
,,	१७३	अतस्तेपा प्रतिनिधौ शेपतत्त्वस्य पार्वति । ध्यान देव्या पदाम्भोजे स्वेष्टमन्त्रजपस्तथा ॥
		कौलसंस्कारों में गणेश-पूजा
१०	११७	षड्दीर्घयुक्तमूलेन षडगानि समाचरेत् । प्राणायाम तथा कृत्वा ध्यायेद् गणपतिं शिवे ॥

परिशिष्ट : छठा अध्याय

यशोधर्मा और विष्णुवर्धन का मन्दसौर-शिलालेख (छठी शती)

स जगता पतिः पिनाकी स्मितरवगीतिपु यस्य दन्तकान्ति ।
द्यु तिरिव तडित निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटयत्यदश्च विश्वम् ॥
स्वयभूर्भूताना स्थितिलयसमुत्पत्तिविधिपु
प्रयुक्तो येनाज्ञा वहति भुवनाना विधृतये ॥
पितृत्वं चानीतो जगति गरिमान गमयता ।
स शम्भुर्भूयासि प्रतिदिशतु भद्राणि भवताम् ॥

[C I I Po. XXII, P. 160]

हरिवर्मा के सागलोई-ताम्रपट्ट (५४५ ईस्वी)

जयति ध्रुवबालेन्दुजटामुकुटमण्डल'
अनाद्यनिधनश्च शम्भुर्विश्वेशं जगता पति. ··········
विजयवैजयन्त्या स्वामिमहासेन मातृगणानुध्यानाभिषिक्त ······
नमो हरिहरहिरण्यगर्भेभ्यो ········

[E I XIV, P 166]

स्वामिभट का देवगढ़-शिलालेख (छठी शताब्दी ईस्वी)

· ······स्थान जगद्गत्तमोजम। मातृणा लोकमातृमण्डल
भूतयेऽस्तु व' ।

[E I XVIII P. 126]

आदित्यसेन का प्रस्तरलेख (सातवीं शताब्दी)

अजनयदेक स नृपो हर इव शिखिवाहन तनयम् ।

[C I I. Pc XXVIII. P. 200]

अनन्तवर्मा का नागार्जुनी पर्वत का गुफालेख (सातवीं शती)

विन्यं भूतपतेर्गुहाश्रितम् इद देव्याश्च पायाज्जगत,
उल्लिख्य नगेन्द्रस्य नवलम् आक्षिप्य शोभा रुचा ।
तावत् महिषासुरस्य शिरसि न्यस्त न्यगन्नुपुर ······

विन्यस्ता द्भुतविन्ध्यभूधरगुहामाश्रित्य कात्यायनी
ग्रामम् अनल्पभोगविभव रम्य भवान्यै ददौ ।

[C I I Po XXXI, P 223-26]

६ छम्मक-ताम्रपट्ट (सातवीं शताब्दी)

असम्भारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराज-वशाना पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्धाभिषिक्ताना दशावमेधाव-भृतस्नानाना भारशिवाना महाराज श्री भावनागदौहित्रस्य ‥

[C I I XXXIV, P 235]

७ निर्मागड-ताम्रपट्ट (सातवीं शताब्दी)

· भगवतस्त्रिपुरान्तकस्य लोकालोकेश्वरस्य प्रणतानुकम्पिनः सर्वदु खत्तयकरस्य कपालेश्वरे कपालेश्वर-वलि-चरु-सत्र स्रग्-धूपदीपदानाय

[C I I XIIV, P 286]

८. लखमगडल प्रशस्ति (लगभग ७०० ईस्वी)

सर्गस्थितिलयहेतोर्विश्वस्य (ब्रह्मा) विष्णुरुद्राणा ।
मूर्तित्रयं प्रदधते ससारभिदे नमो विभवे ॥

[E I I P 12]

९ वैजनाथ-प्रशस्तियाँ (आठवीं शताब्दी)

प्रशस्ति १ दुर्गे द्वारहारिणि हरिब्रह्मादिदेवस्तुते,
भक्तिक्षेमविधायिनि त्रिनयने'

प्रशस्ति २ देवस्याहुतिलम्पटस्य परमा पुष्टिर्यतो जायते,
ताभिर्मूर्तिभिरष्टभिरवतु वो भूत्यै भवानीविभु· ।

[E I I, P 104]

१० नकली तालेश्वर-ताम्रपट्ट (आठवीं शताब्दी)

राजदीवारिकाग्निस्वामिकरकिकवोटाधिकरणिकामात्य भद्रस्वामी पुर'सरेण······

[E I XXI, P 140]

११. कर्कराज सुवर्णवर्षा के सूरत के ताम्रपट्ट (नवीं शताब्दी),

जिनेन्द्र-स्तुति के उपरान्त—

सा वोऽव्याद्वेधसाधाम यन्नाभिकमलालकृतम् ,
हरश्च यस्य कान्तेन्दुकलया कमल कृतम् ।

[E I XXI, P 142]

१२. गुजरात के दन्तिवर्मा का शिलालेख (नवीं शताब्दी)

बुद्धस्तुति के उपरान्त—

स वोऽव्याद्वेधसा' 'इत्यादि यथा नं० २२ में

[E I VI. P 287]

१३. खजुराव शिलालेख न० ५ (ग्यारहवीं शताब्दी)

अन्ये तत् शिवमेव बुद्धम् अमल त्वन्ये जिन वामनम् ।
तस्मै सर्वमयैक्यकारणपतेः शर्वाय नित्य नमः ॥

[E I I, P 148]

१४. जाजल्लदेव का मल्हर-प्रस्तरलेख (बारहवीं शताब्दी)

यश्चारवाकविशालमानम् अनलो दुर्वारबौद्धाम्बुधेः ।
पानानन्दितकुम्भसंभवमुनिर्दिग्वाससाम् अन्तक• ॥

१५. स्वप्नेश्वर का भुवनेश्वर मन्दिर मे शिलालेख (बारहवीं शताब्दी)

नृत्यारम्भे वलयमणिभिर्निर्मिता रत्नदीपा• ।
तस्मै दत्तास्त्रिपुरजयिने तेन तास्ता मृगाक्ष्यः ॥

[E I VI, P. 200)

१६. लखनपाल का बुदाऊँ शिलालेख (बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी)

यो बाल• किल दक्षिणापथगतो बौद्धप्रतिष्ठापिता.
सम्पश्यन् प्रतिमा जहार विधिना केनापि दूर रुपा ।
मन्त्रोच्चारणवेलयैव पटहध्वानात् ततो विश्रुतो
विज्ञातो गुरुगौरवान् निजपदे निन्ये······

१७. दामोई-शिलालेख (तेरहवीं शताब्दी)

अष्टाभिस्तनुभिस्तनोत्वभिमत श्री वैद्यनाथ• स्वयम्······

परिशिष्ट : आठवाँ अध्याय

१ चो-दिन्ह् शिलालेख (लगभग ४०० ईस्वी)

नमो देवाय भद्रेश्वरस्वामीप्रसादात् अग्नये त्वा जुष्टं करिष्यामि धर्म महाराज
श्री भद्रवर्मणो यावच्चन्द्रादित्यौ तावत्

२ भद्रवर्मा का माइसोन-शिलालेख (पाँचवीं शताब्दी)

सिद्ध नमो महेश्वरम् उमा च प्र
ब्रह्माण विष्णुमेव च ।

३ शम्भुवर्मा का माइसोन-शिलालेख (लगभग छठी शताब्दी)

स्थित्युत्पत्तिप्रलयवशिनः शूलिनः समराण।
कृत्स्न वेत्ति त्रिभुवनगुरुकारण स्थाणुरेव

४. प्रकाशधर्मा का दुओंग-मोंग का पीठिका-लेख (छठी शताब्दी)

इदं भगवतः पुरुषोत्तमस्य विष्णोरनादिनिधनस्याशेषभुवनगुरोः पूजास्थानम्

५ प्रकाशधर्मा का थाक् विक्-शिलालेख (छठी शताब्दी)

श्री प्रकाशधर्मेति स्थापितवान् अमरेशमिह ।

६ प्रकाशधर्मा का माइसोन-शिलालेख (छठी शताब्दी)

स्वाः शक्ती प्रतियोगतामुपगतः क्षित्यादयो मूर्तयो,
लोकस्थित्युदयादिकार्यपरता ताभिर्विना नास्ति हि ।
यो ब्रह्मा विष्णुत्रिदशाधिपादिसुरासुरब्रह्मनृपर्षिमान्य ।
तथापि भूत्यै जगताम् नृत्यच्छ्मशान भूमावतिचित्रमेतत् ॥

७ प्रकाशधर्मा का माइसोन-पीठिकालेख (छठी शताब्दी)

महेश्वरसखस्येद कुबेरस्य धनाकरम् ।
प्रकाशधर्मा नृपति पूजास्थानमकल्पयत् ॥
एकाक्षिपिंगलेत्येष देव्या दर्शनदूषित ।
सवर्धयत्वीशधन पायाच्चाहि ततः सदा ॥

८ विक्रान्तवर्मा का माइसोन-शिलालेख (६८७)

ईशानस्याष्टमूर्ति ञतमभिलषित रुप्यकोषेन्दुनादो ..

९ विक्रान्तवर्मा का माइसोन-शिलालेख न० २ (समय अनिश्चित)

लोकाना परमेश्वरत्वसम यतो नदद्वाहनो ...

भुक्त्वाप्युपमन्युरिन्दुधवलं क्षीरार्णव बान्धवैः । ......
अष्टार्धब्रह्मधुर्यं सकलसुरमयस्यन्दन विष्णुपाना ।
शान्त्यर्थं येन दाहो युगपदपि पुरा त्रैपुराणा पुराणाम् । ...
स्वरूपेणाप्यवनिवनपवनसखापवनवनदपथदशशतकिरणदीक्षिततनुभि—
रतनुप्रभावाभिः शर्वभवपशुपतीशानभामरुद्रमहादेवोग्राभिधान
प्रधानसमुपबृंहिताभिराविर्भावितविश्वमूर्तिना ......

१०. विक्रान्तवर्मा द्वितीय का माइसोन शिलालेख (७३१ ईस्वी)

श्री शंभुमुखलिंगमुज्ज्वलनिभं सर्वोपभोगान्वितम्... ...
कोश साननमादितुल्यविभवं सश्रीभनारीवपुः ।

११. इन्द्रवर्मा प्रथम का याग-ति-कुह शिलालेख (७९९ ईस्वी)

पातालप्रभवश्च वीर्यातपश्च सत्वेन वा योगिनो......
अन्तःपुरविलासिनी दासदासीगोमहिषक्षेत्रादि द्रव्यम् ।

१२. इन्द्रवर्मा प्रथम का ग्लाई-लामोव-शिलालेख (८०२ ईस्वी)

अथ कालेन महता शभो भक्तिपरायनात् कीर्त्या च धर्मेण सता
रुद्रलोकमगान्नृप.......
जयति महासुरपुरत्रयावमर्दनविविधविक्रमोऽपि सितभस्मप्रभावयोगादि-
जपहुंकारनिर्मलतटशरीरप्रदेशश्च... ज्वलितनेत्रत्रयज्योत्स्नो......

१३. वकुल शिलालेख (८२९ ईस्वी)

निहारौ देवकुलौ द्वौ द्वे जिन शंकरयोन्तयोः ।

१४. विक्रान्तवर्मा द्वितीय का पो-नगर-शिलालेख (नवीं शताब्दी)

तस्मै श्री भगवतीश्वराय कोष्टागारं......स्त्रीगणैः सह......

१५. इन्द्रवर्मा द्वितीय का दोंग-दुओंग-शिलालेख (नवीं शताब्दी)

इम च परमं लोके बुद्धसन्तानज वरम्
अह लोकेश्वर कर्तुं जगता स्या विमुक्तये ।
...अपि च यश्च श्रीन्द्रवर्मा क्षेत्राणि सधान्यानि दासीदासान्...
लक्ष्मीन्द्राय लोकेश्वराय भिक्षुसंघपरिभोगाय...दत्तवान् इति ।

१६. इन्द्रवर्मा तृतीय का बो-मन्द-शिलालेख (८८९ ईस्वी)

श्री महालिंगदेवोऽयं स्थापितस्तेन तत्परः ।
स्थापिता च महादेवी श्रीमती मातृनिप्रिया ॥

१७. भद्रवर्मा द्वितीय का हो-क्वे-शिलालेख (९०९ ईस्वी)

ततश्च दक्षिणे [illegible] संस्थितो वामतो हरिः ।
इत्येकत्वमिमौ येन लभते यदनुग्रहा ॥

१८ इन्द्रवर्मा तृतीय का पो-नगर शिलालेख (६१६ ईस्वी)

आख्यान शैवोत्तरकल्पमीन. . ...

१६. परमेश्वरवर्मा प्रथम का पो-नगर मे मन्दिर का शिलालेख (१०५० ईस्वी)

भूताभूतेशभूता भुवि भवति भवोद्भावभावात्मभावा,
भावाभावस्वभावा भवभवकभवा भावभावैकभावा ।
भावाभावाग्रशक्ति. शशिमुकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेवाश्वसिद्ध्यै ॥

२०. पो-नगर मन्दिर का शिलालेख (१०५० ईस्वी के बाद का)

या देवी सा श्री मलदाकुठारा-
ख्या श हर मम तस्य भार्या ।
व्याप्नोति यो निखिलवस्त्वशुभ शुभ वा,
नो लिप्यते रविरिवेद्धकला तदीया ।
देवी च चम्पुनगरप्रथिताभिधाना
या सा नताभिमतदा मम श कुरु त्वम् ॥

२१. जय इन्द्रवर्मा चतुर्थ का माइसोन मन्दिर का शिलालेख (११६३ ईस्वी)

दृष्टैर्महास्थैर्यंहुवाक् स शर्व.

२२. वात-प्रे-वीप्टे-शिलालेख (६८७ ईस्वी)

विष्णवीशावेकमूर्तौ कगलितयामिना स्थापितावत्रयुक्त्या ।

२३. प्रिश्र-श्राइनकोसी-शिलालेख (८६८ ईस्वी)

उद्यद्भानुनिभा विभिद्य कमल ख याति या सहृतौ
सृष्ट्यर्थं पुनरेति चन्द्ररुचिरा यन्मानस मानिनी ।
सा शक्तिर्भुवनेश्वरोदयकरी वागीश्वरी पातु व. ॥

२४. फनोम-प्राह-शिलालेख (लगभग ८६३ ईस्वी)

शिवशक्ति स च्चार्य शिवशक्तिविभागवित् ।
शिवशक्त्यनुभावेन शिवशक्तिर्विवर्धते ॥

२५. प्रेश्र-केव-शिलालेख (नवीं शताब्दी)

वसति यदचलाश शभुशक्ति. सुशुभ्रा ॥

अनुक्रमणिका

———

सहायक ग्रन्थ-सूची

[संस्कृत-ग्रन्थ]

(क) वैदिक साहित्य*

१.	ऋग्वेद सहिता	मैक्समुलर सस्करण, लन्दन, १८४६
२.	अथर्ववेद सहिता	रौथ और ह्विटनी का सस्करण, वर्लिन, १६२४
३.	तैत्तिरीय संहिता	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज
४.	काठक सहिता	श्रोडर का सस्करण, लाइपजिग, १६००
५	वाजसनेयि संहिता	वेवर का संस्करण, लन्दन, १८४६
६.	एतरेय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज
७.	कौशीतकी ब्राह्मण	,, ,, ,,
८.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	,, ,, ,,
६.	तैत्तिरीय आरण्यक	,, ,, ,,
१०	ताण्ड्य महाब्राह्मण	बिब्लियोथिका इंडिका
११	शतपथ ब्राह्मण	वेवर का सस्करण, लन्दन, १८४६
१२	तलवकार ब्राह्मण	रामदेव दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत सीरीज

(ख) उपनिषद्-साहित्य

१.	छान्दोग्य उपनिषद्	लक्ष्मण शास्त्री का संस्करण, वम्बई, १६२७			
२.	बृहदारण्यक	,,	,,	,,	,,
३.	श्वेताश्वतर	,,	,,	,,	,,
४.	केन	,,	,,	,,	,,
५.	प्रश्न	,,	,,	,,	,,
६.	मैत्रायणीय	,,	,,	,,	,,
७	कैवल्य	,,	,,	,,	,,
८	जावाल	,,	,,	,,	,,
६.	नारायण	,,	,,	,,	,,
१०.	नृसिंह तापनीय		,,	,,	,,
११.	अथर्वशिरस्	,,	,,	,,	,,

* निम्नलिखित सस्करणों के अतिरिक्त [illegible] संस्करण (औंध, सतारा; वि० सं० [illegible]) का भी साहाय्य लिया गया है।

(ग) सूत्र-ग्रन्थ

१.	शाखायन श्रौत सूत्र	विब्लियोथिका इडिका
२.	लाट्यायन ,, ,,	,, ,,
३.	आश्वलायन ,, ,,	,, ,,
४	आश्वलायन गृह्य	,, ,,
५.	बौधायन ,, ,,	शामशास्त्री का ससकरण, मैसूर, १६२०
६	मानव ,, ,,	गायकवाड़ ओरिएटल सीरीज
७.	निरुक्त : यास्क	लक्ष्मण सरूप का सस्करण, लन्दन, १६२७
८	अष्टाध्यायी : पाणिनि	

(घ) रामायण-महाभारत

१	रामायण	बम्बई सस्करण : निर्णय सागर प्रेस
२.	,,	गोरेसियो का संस्करण
३	महाभारत	दक्षिण सस्करण पी पी एस शास्त्री, मद्रास १६३०
४.	,,	,, ,, कृष्णमाचार्य और व्यासाचार्य, बम्बई १६०६
५.	,,	उत्तर सस्करण प्रतापचन्द्र राय, कलकत्ता, १८८४
६	,,	भडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट और चित्रशाला प्रेस, पूना

(च) शास्त्र-साहित्य

१	अर्थशास्त्र कौटिल्य	शामशास्त्री का सस्करण, मैसूर १६०६
२	मानव धर्मशास्त्र	बम्बई सस्करण, १६२०
३	नाट्यशास्त्र भरत	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज
४.	कामसूत्र वात्स्यायन	बनारस सस्करण, १८८३
५.	महाभाष्य . पतजलि	कीलहार्न का सस्करण १८६२

(छ) काव्य-साहित्य

१.	बुद्ध चरित	अश्वघोष	कौवेल का सस्करण, आक्सफोर्ड, १८६३
२	सौन्दरनन्द	,,	जान्स्टन का सस्करण, लन्दन, १६२८
३.	मृच्छकटिक	शूद्रक	निर्णय सागर प्रेस, बबई
४.	मालविकाग्नि मित्रम्	कालिदास	,, ,,
५	विक्रमोर्वशीयम्	,,	,, ,,
६.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	,,	,, ,,
७	कुमारसभवम्	,,	,, ,,

८. मेघदूतम् : कालिदास निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
९. रघुवशम् : ,, ,, ,,
१०. दशकुमारचरितम् : दण्डी काले का संस्करण, बम्बई
११. हर्षचरितम् : बाण भट्ट ,, ,, ,,
१२. कादम्बरी : ,, ,, ,, ,,
१३. मालती-माधव : भवभूति ,, ,, ,,
१४. किरातार्जुनीयम् : भारवि निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१५. मत्तविलास : महेन्द्रविक्रम
१६. प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्णमिश्र

(ज) धार्मिक-साहित्य

१. मणिमेखलई : अंग्रेजी अनुवाद एस. के. आयंगर, लन्दन, १९२८
२. तिरुवासगम् : मणिक्कवासगर पोप का संस्करण
३. शंकरविजय आनन्दगिरि बिब्लियोथिका इंडिका
४. शिवज्ञानबोधम् : मेयकण्डदेवर जे एम. एन. पिले मद्रास, १८९०
५ लिंगधारण-चन्द्रिका एम आर. सखरी, बम्बई, १९२८

(झ) पुराण-साहित्य

१ अग्नि–पुराण आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज
२. ब्रह्म ,, ,, ,, ,,
३. ब्रह्मवैवर्त ,, ,, ,, ,,
४. गणेश ,, ,, ,, ,,
५. मत्स्य ,, ,, ,, ,,
६. सौर ,, ,, ,, ,,
७. वायु ,, ,, ,, ,,
८. ब्रह्माण्ड ,, बम्बई संस्करण, १९०६
९ गरुड़ ,, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट : भाग ९
१०. लिंग ,, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२९
११. मार्कण्डेय ,, बिब्लियोथिका इंडिका
१२. नीलमत ,, के डी. कीज का संस्करण, लीडन, १९३६
१३ वराह ,, बिब्लियोथिका इंडिका
१४. विष्णु ,, जीवानन्द विद्यासागर का संस्करण, कलकत्ता, १८८२

(ट) तंत्र साहित्य

१.	काली-तत्र	कन्हैया लाल मिश्र का सस्करण, मुरादाबाद, १६०७
२	कौलोपनिषद्	तान्त्रिक टेक्स्टस् ए एवलौन
३.	कुलचूडामणि तत्र	,, ,, ,,
४	कुलार्णव	,, ,, ,, ,,
५	महानिर्वाण	,, ,, ,, ,,
६	प्रपञ्चसार	,, ,, ,, ,,
७	तत्रराज	,, ,, ,, ,,
८.	तत्राभिधान	,, ,, ,, ,,

अंग्रेजी तथा अन्य सहायक ग्रन्थ

Arbamann	Rudra
Avyar C. V. N	Origin and Early History of Saivism in India
Barnett L D.	Heart of India
Barnett L. D	Hindu Gods and Heroes
Barth A.	Religions of India
Bergaigne	Inscriptions Sanskrites du Campa et Cambodge
Bhandarkar R G Sir	Vaisnavism, Sivism and Minor Religious System in India
Bloomfield	Religion of the Veda
Coedes	Inscriptions du Cambodge Edites et Traduits
Crooke	Religion and Folklore of North India
Eliot C Sir	Hinduism and Buddhism.
Elmore W T	Dravidian gods in modern Hinduism.
Farnell	Cults of the Greek States
Gangooli	The Art of Java
Getty, Alice	Ganesa

Ghose, N. N. — Indo-Aryan Literature and C
(Or

Hauer, J. W. — Der Vratya.

Herodotus — History. Translated into Engli
G. Rawl

Hieun Tsang — Travels Translated into English
Beal, Trubner's Oriental

Hopkins J. W. — The Religions of India.

Howard C. — Sex Worship.

Jagdish Chandra Chattopadhyaya — Kashmir Sa

Jastrow M. — Religion of Babylonia and Assyr

Jastrow M. ....Civilisation of Babylonia and Assyria

Kashinatha Sahaya — Saktism.

Keith A B. — Religion and Mythology of the

Kumaraswami — History of Indian and Indonesia

Kumaraswami — Dance of Siva.

Levi. S. — Sanskrit Texts from Bali.

Lyall. A. — Natural Religion in India.

Macdonell A. A. — Vedic Mythology.

Mackay E. — Indus Civilisation

Marshall J. Sir — Mohenjodaro and the Indus Civi

Majumdar, R. C. — Suvarnadvipa

Max Muller, F. — Anthropological Religion.

Murdoch — The Religious Sects of the Hin

Muir — Original Sanskrit Texts.

Mallasvami Pillai — Studies in Saiva Siddhanta.

Payne E. A. — The Saktas.

Radhakrishnan S. — Indian Philosophy

Rao T.A G. — Hindu Iconography

Sivapada Sundaram Pillai — The Saiva School of Hinduism.

Slater G. — Dravidian Element in Indian C

Stutterheim — Indian Influence on old Balinese

Weber — Indische Studien

सहायक सामयिक पत्र

A S I	Archaeologıcal Survey of Indıa
C. I I.	Corpus Inscrıptıonarum, Indıcarum Vol 111
Epıg Car	Epıgraphıca Carnatıca
E I	Epıgraphıca Indıca
E R. E	Encyclopaedıa of Relıgıon and Ethıcs
Ind Cul	Indıan Culture
I. A	Indıan Antıquary.
J R A S	Journal of the Royal Asıatıc Society
	Memoırs of the Archaeologıcal Survey of Indıa
O B	Orıental Bıblıography
S D.	Sıddhanta Dıpıka